सुश्रुत संहिता

हिन्दी अनुवाद सहित

श्री अत्रिदेव

DR. MANMOHAN JOTISHI
G.A.M.S
FINAL YEAR STUDENT
D.A.V. MEDICAL COLLEGE
JULLUNDUR CITY

प्रभो! विपत्तियों से रक्षा करो – यह प्रार्थना लेकर मैं तेरे द्वार पर नहीं आया, विपत्तियों से भयभीत न होऊं – यही वरदान दे! अपने दुःख से व्यथित चित्त को सान्त्वना देने की भिक्षा – नहीं मांगता दुःखों पर विजय पाऊं यही आशीर्वाद दे –
यही मेरे अन्तरात्मा की प्रार्थना है।

[illegible]
१२.१०.६८.

ॐ

सुश्रुतसंहिता

अनुवादक

अत्रिदेव

भूमिका लेखक

डाक्टर श्रीभास्कर गोविन्दजी घाणेकर

बी. एस. सी., एम. बी. बी. एस., आयुर्वेदाचार्य

विशेष मन्तव्य

पं० श्री लालचन्द्र जी वैद्य

भूतपूर्व प्रधानाचार्य—अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय, काशी

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

वाराणसी दिल्ली पटना

तृतीय संस्करण] सन् १९६० [मूल्य १५)

प्रकाशक :
सुन्दरलाल जैन
मैनेजिंग प्रोप्राइटर,
मोतीलाल बनारसीदास,
पो० बॉ० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी।

मुद्रक :
मन्नीलाल
रस्तोगी प्रेस,
मध्यमेश्वर, वाराणसी।

सर्व प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से मिलती हैं—

मोतीलाल बनारसीदास
हिन्दी-संस्कृत-पुस्तक विक्रेता
बँग्लोरोड जवाहर नगर दिल्ली-६

मोतीलाल बनारसीदास
बाँकीपुर, पटना।

मोतीलाल बनारसीदास
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
पो० बॉ० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी

चिकित्सा शास्त्र अगाध है

"नास्ति आयुर्वेदस्य पारम्"

समुद्र इव गम्भीरं
    नैव शक्यं चिकित्सितम् ।
वक्तुं निरवशेषेण
    श्लोकानामयुतैरपि ॥

चिकित्सा शास्त्र समुद्र की तरह अगाध है। लाखों श्लोकों से भी उसको कहा नहीं जा सकता।

स्मृति में

माननीय श्रीयादवजी विक्रमजी आचार्यजी की

आयुर्वेद के विषय में आप से बराबर प्रेरणायें मिलीं, आपके ही अनुग्रह का यह फल है कि अनुवाद का कार्य कर सका, आपकी कृपा दृष्टि आगे भी इसी प्रकार बनी रहे—यही भगवान् से प्रार्थना है।

अत्रिदेव

भूमिका

प्राचीन काल में आयुर्वेद बहुत ही उन्नत और विस्तारशील था। उस समय उसके कायचिकित्सादि अष्टांग स्वतन्त्र हो चुके थे, प्रत्येक अंग पर स्वतन्त्र संहिताएँ रची गयी थीं, प्रत्येक अंग की स्वतन्त्र परम्परा स्थापित हो चुकी थी और उसके विशेषज्ञ प्रतिष्ठा के साथ अपना स्वतन्त्र व्यवसाय किया करते थे। आगे चलकर कालचक्र में ये सब परम्पराएँ बहुत कुछ खण्डित या लुप्त हो गयी थीं। शताब्दियों के पश्चात् ऋषितुल्य कुछ धुरंधर विद्वानों ने अविश्रान्त परिश्रम, तत्त्वान्वेषण और परम्पराप्राप्त ज्ञान के आधार पर आयुर्वेद की मुख्य २ शाखाओं की संहिताओं का प्रतिसंस्करण करके वैद्यों के उपयोग के लिए उनको प्रचलित किया। आज हमारे सामने आयुर्वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं उनमें कुछ प्रतिसंस्कृत हैं, कुछ खण्डित हैं और कुछ संगृहीत हैं। प्रतिसंस्कृत संहिताओं में चरक संहिता और सुश्रुत संहिता, खण्डित संहिताओं में भेड़ संहिता और काश्यप संहिता तथा संगृहीत संहिताओं में अष्टांग हृदय और अष्टांग संग्रह प्रसिद्ध हैं।

उत्तर काल में उपलब्ध होनेवाली सब संहिताओं में चरक और सुश्रुत की संहिताएँ प्राचीन काल से वैद्यकीय दृष्टया सर्वश्रेष्ठ मानी गयी हैं और वैद्यों का वैद्यत्व इतर संहिताओं की अपेक्षा इन संहिताओं के अनुसार पठन-पाठन-कर्माभ्यास करने के ऊपर अधिष्ठित रहा है। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित वाग्भट्ट और हर्ष के वचनों से हो जाती है—

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ॥ अष्टांगहृदय ॥
कन्यान्तः पुरबाधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्यानलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥ नषधचरित।

चरक की मूल संहिता अग्निवेश प्रणीत कायचिकित्सा की, और सुश्रुत की मूल संहिता भगवान् धन्वन्तरि प्रणीत शल्यतन्त्र की थी। परन्तु शताब्दियों से उपलब्ध इन प्रतिसंस्कृत संहिताओं में आयुर्वेद के आठों अंगों का न्यूनाधिक अंश में समावेश किया हुआ दिखाई देता है। फिर भी सूक्ष्म अभ्यास करने पर इन संहिताओं के मूल संहिताकारों के 'बुद्धेर्विशेषः' का तथा मूल संहिताओं के 'विषय विशेष' का अच्छा परिचय मिल जाता है।

यद्यपि ये दोनों संहिताएँ आयुर्वेद का अभ्यास करने की दृष्टि से शताब्दियों से अधिमान्य हो चुकी हैं तथापि दोनों का तुलनात्मक परिशीलन करने पर मेरा यह मत हो गया है कि चिकित्सा के सिद्धान्तों की दृष्टि से चरक और 'प्रक्रिया' अर्थात् व्यवहार की दृष्टि से सुश्रुत श्रेष्ठ है। चरक में स्वास्थ्यरक्षा, व्याधिपरिमोक्ष, वैद्यकीय सद्वृत्त इनका प्रतिपादन बहुत ही युक्तियुक्त, रोचक और विशद पद्धति से किया गया है और उसमें उन विषयों के सम्बन्ध में ऐसे दिक्कालाबाधित सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं कि जो भूत, वर्तमान तथा भविष्य कालीन संसार की सब चिकित्सा पद्धतियों (व्याधियों) के लिये सदैव मार्ग दर्शन कर सकते हैं। 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' यह दृढबल का चरक सम्बन्धी वचन अन्य बातों के लिए भले ही सही न हो, परन्तु चिकित्सा सिद्धान्तों की दृष्टि से सोलहों आने सत्य है ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास हो गया है। सुश्रुत में सैद्धान्तिक विषयों के अतिरिक्त आयुर्वेद के आठों अंगों का विवरण शल्य कर्म को प्राधान्य देकर नातिसंक्षेप-विस्तार से सरल भाषा से व्यावहारिक बातों पर ध्यान देकर बहुत ही अच्छी तरह किया गया है। मेरे इस मत की कुछ झलक वाग्भट के निम्न वचन में मिल जाती है—

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरमविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिह खलु करोतु व्याधितानां वराकः ॥ अष्टांगहृदय ॥

इसलिए मैं यह उचित समझता हूँ कि इन दोनों संहिताओं का विशेष करके उनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक उपयुक्त अंशों का अध्ययन केवल आयुर्वेद के विद्यालयों तक ही सीमित न रख करके इतर चिकित्सा पद्धतियों के विद्यालयों में भी जारी करना चाहिये। इससे वहाँ के विद्यार्थियों और डाक्टरों को अपना शास्त्र पढ़ने और पढ़ाने में अधिक सहायता मिलेगी तथा केवल अपना ही शास्त्र पढ़ने-पढ़ाने के कारण जो अवैज्ञानिक, अनुदार तथा अव्यापक दृष्टि उत्पन्न होती है वह दूर होकर वे जनता के सच्चे सेवक बनेंगे।

आयुर्वेद की ये संहिताएँ तथा उनकी टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान इनके अध्ययनार्थ आवश्यक होता है। परन्तु आजकल आयुर्वेद महाविद्यालयों में भी जहाँ पर प्रवेश के लिए संस्कृत-प्रावीण्य की अत्यन्त आवश्यकता होती है, संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि अच्छे संस्कृतज्ञ विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी। इतर वैद्यक महाविद्यालयों में भरती के लिये संस्कृत की आवश्यकता ही न होने के कारण वहाँ पर संस्कृतज्ञ विद्यार्थी नगण्य होते हैं। ऐसी अवस्था में आयुर्वेद की प्रतिष्ठा बढ़ाने की दृष्टि से तथा उसके त्रिकालाबाधित सुन्दर सिद्धान्तों के द्वारा सब पद्धतियों के चिकित्सकों को चारित्र्य और शील की शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से इन संहिताओं के प्रचलित भाषाओं में अच्छे अच्छे अनुवाद करके प्रकाशित करना प्रत्येक आयुर्वेद प्रेमी का एक परम कर्तव्य हो जाता है।

प्राचीन संहिताओं के अनुवाद अनेक पद्धतियों से किये जाते हैं। प्रथम पद्धति में मूल-संहिता न देकर केवल उसका अनुवाद सरल भाषा में दिया जाता है। इस पद्धति के अनुवाद शास्त्राध्ययन करनेवालों की दृष्टि से अच्छे नहीं हो सकते हैं, परन्तु संहिताओं का भावार्थ मालूम करने की दृष्टि से पर्याप्त होने के कारण सामान्य जनता को शास्त्र का परिचय कराने के लिए उपयोगी होते हैं। दूसरी पद्धति में ऊपर मूलसंहिता देकर उसके नीचे उसका सरल भाषानुवाद दिया जाता है। इस पद्धति के अनुवाद सामान्य जनता के लिए जितने उपयोगी होते हैं उतने ही शास्त्रजिज्ञासु के लिए भी उपकारक होते हैं, क्योंकि इसमें पाठक के सामने मूलसंहिता भी रहती है और वह अनुवाद के अर्थ की यथार्थता स्वयं देख सकता है। तीसरी पद्धति में मूल और उसके अनुवाद के अतिरिक्त मूल की टीकोपटीकाएँ तथा उनके भी सरल अनुवाद दिये हुए रहते हैं। सामान्य जनता के लिए ये अनुवाद विशेष उपयोगी नहीं होते, परन्तु शास्त्राध्ययन की दृष्टि से दूसरी पद्धति के अनुवादों की अपेक्षा अधिक उपयोगी होते हैं। इसका कारण यह है कि टीकोपटीकाओं में मूल के अतिरिक्त शास्त्र की काफी चर्चा रहती है, जिससे शास्त्र का आकलन होने में सहायता होती है। चतुर्थ पद्धति में मूल संहिता और उसके सरल अनुवाद के पश्चात् अनुवादक स्वयं अपना वक्तव्य प्रकट करता है। इसमें कठिन तथा गूढ़ शब्दों और भावों पर उचित प्रकाश डाला जाता है, मतमतान्तरों का उल्लेख किया जाता है, जहाँ दोनों का समन्वय हो सकता है वहाँ समन्वय करने की चेष्टा की जाती है, जहाँ पर वास्तविक विरोध होता है वहाँ पर पक्षपातविरहित होकर विरोध प्रदर्शित किया जाता है, प्राचीन त्रुटियों की पूर्ति आधुनिक ज्ञान विज्ञान से की जाती है और इसके लिए श्रुति-स्मृति-पुराण उपनिषद्-इतिहास इत्यादि प्राचीन शास्त्र उनकी टीकाएँ, आधुनिक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों के लेख, ग्रन्थ, संशोधनात्मक टिप्पणी इत्यादि का उचित परामर्श लिया जाता है। संक्षेप में मूल का उचित अर्थ करने के लिए प्राचीन तथा अर्वाचीन सब साधन सामग्री रखकर दोनों का सुन्दर सम्मेलन करने का प्रयत्न किया जाता है। अनुवाद की यह पद्धति सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि इससे मूल का आकलन इतर पद्धतियों की अपेक्षा आसानी से होता है और इसके अतिरिक्त जहाँ मतभेद का अवसर होता है वहाँ पर सामने रक्खी हुई सब साधन सामग्री के आधार पर पाठक स्वयं अपना मत बना सकता है।

सुश्रुतसंहिता के आजतक अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें निर्देश करने योग्य प्रथम पद्धति का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में है। दूसरी पद्धति के अनेक अनुवाद हिन्दी तथा इतर सब भारतीय भाषाओं में हुए हैं। तीसरी पद्धति का एक भी अनुवाद नहीं हुआ है। इस प्रकार का सुश्रुत का एकाध अनुवाद होना जरूरी है। चौथी पद्धति के अनुवाद अधिक उपयोगी होने के कारण उस प्रकार के जितने भी अनुवाद प्रकाशित हो सकते हैं उतने होने चाहिए। मैंने इस पद्धति का 'आयुर्वेदरहस्यदीपिका' नामक सुश्रुत का अनुवाद करने का बृहत्प्रयास किया था और उसके परिणाम स्वरूप सूत्र-निदान-शारीर के दो विभाग प्रकाशित हो चुके थे। परन्तु अभाग्यवश मैं उसको पूरा न कर सका और मेरा वह प्रयास अपूर्ण ही रह गया।

अत्रिदेवजी आयुर्वेद संहिता के प्रसिद्ध अनुवादक हैं। आपने आयुर्वेद की सब संहिताओं का हिन्दी में अनुवाद किया है। सुश्रुत का यह अनुवाद दूसरी पद्धति का है। इसमें प्रथम ऊपर मूल देकर उसके बाद उसका सरल भाषा में अनुवाद दिया है। कहीं कहीं उसका विस्तार भी किया है। इसके अतिरिक्त पादटिप्पणी में मूल-संहिता के अनेक कठिन शब्दों और कल्पनाओं का विवरण इतर संहिता ग्रन्थों के उद्धरणों से किया गया है। इससे ग्रन्थ की उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है। इस समय सम्पूर्ण सुश्रुत का एक भी अच्छा अनुवाद उपलब्ध नहीं था, जिससे विद्यार्थियों को सुश्रुत के अध्ययन में बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इस अनुवाद से विद्यार्थियों का बहुत उपकार हो गया है। आशा है कि आयुर्वेद के छात्र तथा आयुर्वेदानुरागी इतर चिकित्सा पद्धतियों के छात्र तथा चिकित्सक अत्रिदेवजी के इस परिश्रम का हृदय से स्वागत करेंगे।

महाशिवरात्रि
संवत् २००६
काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय

भास्कर गोविन्द घाणेकर

अनुवाद के विषय में

"भिषग् बुभूषुः शास्त्रमेवादितः परीक्षेत।
विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके ॥" चरक

सबसे प्रथम शास्त्र की परीक्षा करे, वैद्यों के बहुत से शास्त्र लोक में प्रचलित हैं। सुश्रुत के भी बहुत से अनुवाद बाजार में प्रचलित हैं। इनमें कुछ पूर्ण हैं, और कुछ अपूर्ण हैं। कोई अनुवाद इतने अधिक विस्तृत हैं कि साधारण बुद्धि का मनुष्य उनको पढ़ भी नहीं सकता, (इसी से चरक में कहा—त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्)। विद्यार्थी जीवन में कुछ तो बालपन तथा कुछ दूसरे विषयों के बोझ से कुछ थोड़े से विद्यार्थी ही इन विस्तृत व्याख्याओं का उपयोग करते हैं। इन व्याख्याओं का मुख्य आधार पाश्चात्यज्ञान रहता है। आयुर्वेद को स्पष्ट करने के लिये इनका सहारा प्रायः लिया जाता है, जो कि इनको बहुत विस्तृत कर देता है। यही विस्तार साधारण विद्यार्थी जीवन में रुचिकर नहीं होता। इसलिये इस अनुवाद में मैंने इन दोनों बातों से यथासम्भव बचने का प्रयत्न किया है। मैंने अनुवाद को विद्यार्थी की दृष्टि से न तो विस्तृत और न संक्षिप्त किया है। विषय को स्पष्ट करने या पुष्ट करने के लिये आयुर्वेद के ही उद्धरण लिये हैं। जिस देश में आप हैं, उस देश के ज्ञान को उसी देश की आंखों से देखने से सत्य ज्ञान मिलता है। भारत का रसोई घर, उसके साधन इस देश की दृष्टि से विचारने होंगे। रसोई घर में टेबल-कुर्सी न देखकर उसे हीन कल्पना करना सत्यता नहीं होगी। बस, इसी दृष्टि से मैंने इस अनुवाद को लिखने का यत्न किया।

इस अनुवाद का एक खासा इतिहास भी है—जो कि प्लासी के युद्ध के इतिहास की तरह रुचिकर तथा हल्दी घाटी के युद्ध की तरह महत्त्वपूर्ण है। चरक संहिता का अनुवाद समाप्त करके सन् ३६ से सुश्रुत का अनुवाद शुरू किया था। उस समय यह शारीरस्थान तक ही लिखा था। बस, यह यहीं पड़ा रहा। फिर सन् ४७ में श्री **सुन्दरलालजी, अध्यक्ष-मोतीलाल बनारसी दास**-फर्म लाहौर वालों ने इसका प्रकाशन आरम्भ किया था। उसके लिये इसे फिर देखा और शेष अनुवाद पूरा किया। उन्होंने छापना भी शुरू किया। चिकित्सास्थान से आगे तक छप गया था। भारत का विभाजन हुआ। लाहौर पाकिस्तान में गया। सब वहाँ नष्ट हो गया। केवल निदान तक के प्रूफ मेरे पास आये थे, वह बचे, बस, उसके आगे सारा लिखना था।

यह लिखना पहाड़ या महाभारत था—दिल टूट गया था-प्रकाशक आर्थिक दृष्टि से किसी प्रकार की मदद देने में लज्जा अनुभव करते थे-उनकी भी कमर टूट गई थी। इस समय जीवन की साथिन शान्ति ने ढाढस दिया, उसी की यह प्रोत्साहना थी कि इसको समाप्त कर सका। उसका यह बार-बार कहना कि लोग कहेंगे कि तुमने सुश्रुत नहीं लिखा, एक धब्बा रहेगा, जब चरक संहिता लिखी, अष्टांग संग्रह लिखा, अष्टांग हृदय लिखा, इसे भी पूरा कर दो। माननीय डाक्टर बालकृष्ण पाठक एम० बी० बी० एस० प्रिन्सिपल आयुर्वैदिक कालेज, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी और आदरणीय डाक्टर प्राणजीवन मेहता एम० डी० एम० एस० की कही एवं लिखी बात पूरी कर दी-कि अत्रिदेव ने वृद्धत्रयी का अनुवाद किया।

इस अनुवाद में तथा दूसरे अनुवादों में मुख्य प्रेरणा-बड़ा हाथ श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज बम्बई का है। उनका यह कहना कि "लिखो, अपनी तरफ से शुद्ध लिखने का यत्न करो, परन्तु अशुद्धि के डर से न लिखना, यह ठीक नहीं। तुम सर्वज्ञ नहीं। गल्ती दूसरे सुधार लेंगे-ऐसे भी आदमी हैं, जो सुधार ही सकते हैं, लिख नहीं सकते। आज की 'ग्रेएनौटमी' आज से तीस साल पहली ग्रे की एनौटमी से बहुत बढ़ी है, उसमें संशोधनों से बढ़ती होती रही। इसी प्रकार तुम्हारे अनुवाद में भी शोधन हो जायेगा। लिखो, मेहनत करो।" ये वाक्य थे, ये शब्द थे, जो सदा जामनगर के गैस्ट हाउस में रात दिन कानों में पड़ते रहते थे-बस, इन शब्दों से बाहर में मिली प्रेरणा, घर में शान्ति का आग्रह, इन दो पाटों के बीच में पड़ने पर मुझसे यह कार्य हो गया है। कैसे हुआ यह मुझे स्वयं भी पता नहीं। सुश्रुत जैसी बड़ी पुस्तक का अनुवाद दो-तीन बार करना पड़े इसमें अरुचि, अनिच्छा, विमनस्कता अवश्य आ जायेगी। विशेषकर मुझ जैसे को जिसने एकबार प्रश्न पत्रों

का उत्तर लिखकर कभी भी दुबारा देखने का साहस नहीं किया। अस्तु, भगवान् की इच्छा गुरुजनों का आशीर्वाद, शान्ति का स्नेह भरा आग्रह, इन सबोंसे यह इच्छा भी पूर्ण हो गई, कि मुझे आयुर्वेद की वृद्धत्रयी का अनुवाद पूरा करना है।

अशुद्धि या शुद्धि के लिये मुझे कोई चिन्ता नहीं, अशुद्धियाँ तो होनी ही चाहिये, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ। भूल होना ही मनुष्य की पहचान है। रामजी ने हिरण्य के मृग में भूल की, इसीसे हम लोग उनको मनुष्य मानते हैं। इसलिये अशुद्धियों को मनुष्य ही शुद्ध भी कर लेंगे। सोना तो अग्नि में ही शुद्ध होता है। यह अनुवाद भी विद्वानों की ज्ञानाग्नि में तपकर कुछ समय पीछे अवश्य कुन्दन बन जायेगा, इसका मुझे विश्वास है[1]।

अन्त में इसके प्रकाशक श्रीसुन्दरलालजी को धन्यवाद देता हूँ कि जिन्होंने फिर उसी उत्साह से इसका प्रकाशन इस संकटमय जीवन में शुरू किया है। और इसको पुनः नये सिरे से छापकर जनता के सामने उपस्थित किया।

इसके सिवाय इसके भूमिका लेखक डाक्टर श्री भास्कर गोविन्द जी घाणेकर का मैं बहुत कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार कर मुझे कृतार्थ किया। श्री घाणेकर जी सुश्रुत के अच्छे परखनेवाले हैं। उन्होंने स्वयं सुश्रुत की टीका हिन्दी में लिखी है, उसका सबसे अधिक प्रचार हुआ, विद्यार्थियों तथा वैद्य समाज में बहुत सम्मान उसने पाया है। वे भूमिका लिखें—यह वास्तव में अनुवादक और प्रकाशक दोनों के लिये गौरव की बात है, साथ ही भूमिका लेखन कार्य सबसे प्रथम इसी अनुवाद को उनकी लेखनी से प्राप्त हुआ है, यह तो वास्तव में सौभाग्य की बात है। हृदय से उनका धन्यवाद करके विदा लेता हूँ।

अत्रिदेव

---

१ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥भगवद्गीता।

सुश्रुतसंहिता के विषय में

वर्तमान समय में जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध है, उस पर केवल श्रीडल्हणाचार्य की टीका मिलती है। उस टीका में उन्होंने अपना सब परिचय दिया है। उसी में उन्होंने जेज्जट, गयदास, भास्कर आदि विद्वानों की टीका पंजिका का नाम कीर्तन किया है, स्थान-स्थान पर दूसरे आचार्यों के पाठ भी दिये हैं।

इसी प्रसंग में उन्होंने प्रतिसंस्कर्ता रूप में नागार्जुन का नाम भी दिया है; यथाः—"यत्र तत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्त्तृ सूत्रं ज्ञातव्यमिति। प्रतिसंस्कर्त्ताऽपीह नागार्जुन एव।"

बस, इस एक स्थान के सिवाय और प्रमाण नागार्जुन के प्रतिसंकर्त्ता होने का नहीं मिलता। साथ ही नागार्जुन बौद्ध था। सब इतिहासकार इस बात को बिना विरोध के मानते हैं। इसके विपरीत सुश्रुत में स्थान स्थान पर ब्राह्मणों के लिये विशेष उपचार, ब्रह्मभोज आदि का वर्णन मिलता है।

ब्रह्मभोज की प्रथा आज भी इस देश में है, किसी भी पवित्र कार्य में वास्तु संस्कार या कोई मांगलिक कार्य होने पर ब्राह्मणों को भोज दिया जाता है, इसी प्रकार सुश्रुत में भी वर्णित है।

"छत्रं धारयेद् बालव्यजनैश्च वीजयेत्, ब्राह्मणसहस्रं भोजयेत्॥" चि० अ० ४।२६

चरक में भी छत्र धारण, पंखा करना, उत्तम बस्तियों के सिद्ध करने में है, परन्तु वहाँ ब्रह्मभोज नहीं है। इसके सिवाय सुश्रुत में ब्राह्मण के लिये दूसरे वर्णों से चिकित्सा में तथा दूसरे कार्यों में भेद बताया है। यथा—

(१) ब्राह्मणो वा शिलोञ्छवृत्तिर्भूत्वा ब्रह्मरथमुद्धरेत्, कृषेत् सततमितरः, खनेद्वा कूपम्॥

(२) 'तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितसर्वागारं यथासंख्यं तन्मयपर्यङ्कम्॥" शा० अ० १०।

चरक में इस प्रकार का भेद चिकित्सा में नहीं है। वहाँ पर जातिसूत्रीय विधि में आसन का भेद वर्ण के अनुसार अवश्य है, यह प्रथा स्मृति काल से चालू है, परन्तु वर्णभेद से भूमिभेद नहीं है, अपि तु इसके विपरीत चरक में—

विद्यासमाप्तौ भिषजस्तृतीया[1] जातिरुच्यते।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना।
विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा,
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद् वैद्यस्त्रिजः स्मृतः॥

([1]त्रिजः के स्थान पर द्विजः भी पाठ है)। चरक चि० अ० १।४।५२-५३

इससे स्पष्ट है कि चरक के पीछे सुश्रुत बना है, और सुश्रुत आज कल के रीतिरिवाजों से अधिक परिचित था।

सुश्रुत में बौद्ध समय के शब्दों का भी उल्लेख है, यथा—

विशिखा—"अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।" विशिखा का अर्थ कर्म मार्ग या रथ्या दिया है। परन्तु जैन ग्रन्थों में (उत्तराध्ययनसूत्र में चूर्णिटीका) विशिखा शब्द मल्ल लोगों को आराम करने के स्थान के लिये आया है। कुश्ती करते-करते जब मल्ल थक जाता है, तब वह आराम लेने के लिये जिस स्थान पर जाता है, उस स्थान को विशिखा कहते हैं। आजकल भी बौक्सिंग में ऐसा स्थान निश्चित होता है। वहाँ पर खड़े हुये व्यक्ति पर चोट नहीं की जा सकती। उत्तराध्ययन सूत्र में यह विशिखा शब्द दो मल्लों की कुश्ती के प्रसंग में ही आया है।[2]

---

१ तृतीया के स्थान पर द्वितीया भी पाठ है।

२ चरक में भी विशिखा शब्द है—वहाँ पर रथ्या अर्थ ठीक है, परन्तु सुश्रुत में कर्म मार्ग या घर अर्थ ठीक है।

भिक्षुसंघाटी[१]—यह दूसरा शब्द है। यथा—"जीर्णां च भिक्षुसंघाटीं धूपनायोपकल्पयेत् ॥" पुरानी भिक्षु-संघाटी (कन्था गुदड़िया) का धुवाँ दे। जिन वस्तुओं के साथ इसको पढ़ा है उनको देख लीजिये, यथा—

"पुरीषं कौक्कुटं केशाश्रुचर्मसर्पत्वचं तथा" मुर्गे की बीठ, बाल, खाल, साँप की केंचुली इनके साथ जीर्ण वस्त्र का धुवाँ देना कहा है। ये सब चीजें घृणित–निन्दित हैं। इन निन्दित वस्तुओं के साथ भिक्षुसंघाटी को भी गिना है, इससे स्पष्ट है कि यह कोई पवित्र वस्तु नहीं, अपितु घृणित वस्तु है। जब कि प्रव्राजित साधु सबसे बड़े—मान्य-पूज्य माने हैं। इसलिये टीकाकारों ने भिक्षुसंघाटी से शाक्यभिक्षु बौद्ध का ग्रहण किया है (यथा–भिक्षुरत्र शाक्यभिक्षुः बौद्धाख्यः–डल्हण)। नहीं तो अपने पूज्य आचार्य की प्रत्येक वस्तु को शिष्य महत्त्व की मानते हैं, जैसे लोग गांधी जी के चप्पल, फाउन्टेनपेन, उनके वस्त्र पूज्य समझते हैं। परन्तु सुश्रुत के समय बौद्धभिक्षु घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, इसी से उनका जीर्ण वस्त्र घृणित मानकर घृणित वस्तुओं के साथ धूप कार्य में लिया गया है। ब्राह्मणों का और बौद्धों का परस्पर विरोध रहा, इसका साक्षी इतिहास आज भी है।

इसलिये वर्तमान सुश्रुत बौद्धकाल के उदय काल के पीछे जब पुनः पुष्यमित्र ने ब्राह्मणों का राज्य स्थापित किया, तब का बना होना चाहिये। चूंकि इसमें ब्राह्मणों की प्रधानता है।

इसके सिवाय ज्वर की चिकित्सा में रोगी को सम्पूर्ण विश्राम देने का इस सुश्रुत में विशेष विधान है। टाई फाईड् रोगी को बिल्कुल हिलने-जुलने से मना करते हैं, सुश्रुत भी ऐसा ही बताते हैं, यथा—"ज्वरे प्रमोहो भवति स्वल्पैरप्यवचेष्टितैः। निषण्णं भोजयेत्तस्मात् मूत्रोच्चारौ च कारयेत् ॥ निषण्णम्—शय्यायामेव आसीनमुपविष्टम् ॥"

चरक में इस प्रकार का स्पष्ट वचन रोगी के लिये नहीं मिलता। बौद्धकाल में आयुर्वेद की उन्नति विशेष रूप में हुई। तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेद के लिये प्रसिद्ध था। जीवक ने यहीं शिक्षा ली। जीवक—बौद्धग्रन्थों में प्रसिद्ध चिकित्सक रहा[२]। इसलिये सुश्रुत में ज्वर के इस मुख्य अङ्ग को स्पष्ट किया है। ज्वर में—विश्राम मुख्य वस्तु है।

इन सबके सिवाय उत्तरकुरु शब्द का सुश्रुत में आना है। यह उत्तरकुरु शब्द सुश्रुत के सिवाय और किसी आयुर्वेद-ग्रन्थ में नहीं है।

"वाह्लीकाः शाद्वलाश्चीनाः मूलीका यवनाः शकाः। मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥
मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः। अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ॥
कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्। सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे ॥
मध्यदेशे भवेत्सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः ॥" चरक चि० अ० ३०-३१६-३१९ ॥

ये देश भारत के हैं, या उसके पास हैं। इनमें उत्तरकुरु का वर्णन नहीं है। सुश्रुत में उत्तरकुरु का वर्णन ऐसे स्थान पर है, जहाँ पर कि जाना सुगम नहीं, वहाँ पर रसायनसेवी ही जा सकता है, यथा—

"क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि। यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ॥" सु० चि० अ० २६-१७

उत्तरकुरु शब्द महाभारत में भी नहीं आया, परन्तु किरातार्जुनीय में अर्जुन की विजय वर्णन में आया है, यथा—

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान् कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
सवल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥भारवि

अर्जुन ने उत्तरकुरुओं को जीतकर बहुत सा सोना युधिष्ठिर को लाकर दिया था।

यह उत्तरकुरु–शक्रसदन–स्वर्ग के बराबर का स्थान है। प्राचीनकाल में जब-जब भी रावण या किसी राजा को (रघु आदि को) धन की जरूरत हुई, उन्होंने स्वर्गपर चढ़ाई की—ऐसी कथायें इस भारत देश में बहुत सी हैं। कुछ भी हो उत्तरकुरु स्थान स्वर्ग के समान साधारण मनुष्यों से अगम्य था। उत्तरकुरु को वर्तमान ऐतिहासिक "थ्यन शान"—कहते हैं। यह चीनी शब्द है, जिसका अर्थ देवताओं का पहाड़ है। जो ठीक भी

---

१ संघाटी—बौद्ध साधुओं का कटि से ऊपर का उत्तरीय वस्त्र है।
२ मेरा शल्यतंत्र इस विषय में सहायक होगा।

लगता है, इसका स्थान मध्य एशिया में मानते हैं। जब कि हम लोग स्वर्ग-त्रिविष्टप को वर्तमान तिब्बत कहते हैं। इसलिये उत्तरकुरु–वर्तमान तिब्बत के पास का स्थान शान पर्वत ही हो तो इसमें कोई आपत्ति नहीं।

इन सब से अधिक वर्तमान सुश्रुत में राम-कृष्ण का नाम भी आता है। राम और कृष्ण इस देशवासियों के पूज्य हैं। उनका सुश्रुत में नाम कथन होना–इसको ब्राह्मण काल का सिद्ध करने में प्रबल युक्ति है। यथा—

"महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि। तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥ सु०चि०अ० ३०।२७

राम, कृष्ण का नाम होना, उत्तरकुरु कथन, त्रिशिखा, भिक्षुसंघाटी शब्दों का आना, ब्रह्मभोज आदि बातों का वर्णन–सुश्रुत संहिता को ब्राह्मण काल का सिद्ध करने में पर्याप्त है। साथ ही इसका संस्कर्त्ता नागार्जुन–बौद्ध हो, इसमें सन्देह उत्पन्न करता है। बौद्ध संस्कर्त्ता-बौद्धों के लिये एक भी प्रतिपादक पंक्ति या उसकी झलक किसी रूप में न देवे, यह मुश्किल है, खासकर जब हम देखते हैं, कि अहिंसा के कारण हमारा शल्यशास्त्र (सर्जरी) पर्याप्त अधोगति में उतरा है, उसमें शल्यशास्त्र के इस प्रधान ग्रंथ का संस्कर्त्ता बौद्ध हो, इसके मानने में सन्देह रहता है। यदि संस्कर्त्ता नागार्जुन है तो वह बौद्ध नहीं था, और यदि बौद्ध नागार्जुन के सिवाय दूसरा कोई नागार्जुन नहीं मिलता तो इस सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन नहीं है, कोई दूसरा होगा।

इसलिये डल्हण के वचन पर आँखें बन्द करके बैठने में सन्देह रहता है।

वर्तमान सुश्रुत में चरक संहिता के वाक्य बहुत से एक जैसे ही आते हैं। यथा—

सुश्रुत में

(१) मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् सु० चि० अ० ३६।१५०

(२) गुरुकावस्थिरावूरू न स्वाविव च मन्यते॥

(३) गोधूमवेणुयवानुपयुञ्जीत।

(४) मधु मधुरमामलकरसेन हरिद्रायुतं,

(५) स्थितं दशाहत्रयमेतदञ्जनम्
कृष्णोरगास्ये कुशसंप्रवेष्टिते।
तन्मालतीकोरकसैन्धवायुतं
सदाऽञ्जनं स्यात् तिमिरेऽथ रागिणे॥

(६) अहोरात्रे सततकौ द्वौ कालावनुवर्त्तते।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रादेककालं प्रवर्त्तते॥

(७) मिथ्याचारेण यः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्त्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणुताः पृथक्॥
उ० अ० ३८।५

(८) वातिकं बस्तिभिश्चापि पैत्तिकं तु विरेचनैः।
कफजं वमनैर्धीमानपस्मारमुपाचरेत्॥

(९) आनह्यते यस्य विधूप्यते च प्रक्लिद्यते शुष्यति चापि नासा। न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥ सु० अ० २२।६

चरक में

(१) मुदगान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान्। चरक० चि० अ० ३।१६

(२) अन्यनेयौ हि संमग्नावूरुपादौ च मन्यते॥

(३) देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः॥

(४) क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद् रसेनामलकीफलानाम्।

(५) वदने कृष्णसर्पस्य निहितं भासमञ्जनम्।
ततस्तस्मात्समुद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद् बुधः॥
सुमनःकोरकैः शुष्कैरधीशैः सैन्धवेन च।
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम्॥

(६) अहोरात्रे सततकौ द्वौ कालावनुवर्त्तते॥
चि०अ० ३।६३

(७) मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च।
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्॥
चि० अ० ।३०

(८) वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्॥

(९) आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा। न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन॥ चरक चि० अ० २६।११४

अत्रिदेव

१ 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' पाणिनि के इस सूत्र की व्याख्या में 'उत्तराः कुरवः' यह उदाहरण है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व उत्तरकुरु शब्द प्रसिद्ध था।

❀ सुश्रुतविषयानुक्रमणिका ❀

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

निदानस्थान

प्रथमोऽध्यायः

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सुश्रुतसंहिता

सूत्रस्थानम्[1]

प्रथमोऽध्यायः

अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब इसके आगे 'वेदोत्पत्ति' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥ १ ॥

वक्तव्य—वेदोत्पत्ति से अभिप्राय आयुर्वेदोत्पत्ति का है। यथा—"तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः—" चरक में आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है, कि—

"न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम्। एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्येके ॥"
च० सू० अ० ३० ॥ २७ ॥

भगवान् शब्द का अभिप्राय--अतिशय ज्ञानवान् पुरुष से है, जैसा कि भगवान् का लक्षण किया है—

उत्पत्तिकारणं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स ज्ञेयो भगवानिति ॥

अथवा इसका दूसरा अर्थ—समस्त ऐश्वर्य, यश, श्री आदि से युक्त को भगवान् कहा है। क्योंकि योगिपुरुषों का यही ऐश्वर्य है—जैसा कि चरक में कहा है—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ॥
चरक शा० अ० १।१४०,१४१।

ऐश्वर्यस्य समस्तस्य माहात्म्य-यशसोः श्रियः।
कामस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना ॥
भानुमती।

धन्वन्तरिः—धनुः शल्यं, तस्यान्तमियर्त्ति गच्छतीति धन्वन्तरिः—शल्य शास्त्र के पारंगत होने से धन्वन्तरि[1]।

विशेष मन्तव्य—यह सुश्रुत संहिता श्री नागार्जुन (प्रतिसंस्कर्त्ताऽपीह नागार्जुन एव०ड०टी०) द्वारा प्रतिसंस्कृत (सम्पादित) है और प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ में ४ प्रकार के सूत्र या वाक्य रहते हैं अथवा यों कहिये कि प्रतिसंस्कृत ग्रन्थ ४ प्रकार के वाक्यों से सम्पादित होता है, यथा—१—गुरुसूत्र = आचार्य का वाक्य, २—शिष्यसूत्र या श्रोता का वाक्य (प्रश्न), ३—प्रतिसंस्कर्त्ता का सूत्र जैसे यहाँ तथा जहाँ तहाँ "यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः" आदि २ और ४—एकीय सूत्र अर्थात् किसी एक ऋषि (आचार्य) का मत, जिसका सब न मानते हों परन्तु कुछ अवश्य मानते हों या उसमें उपपत्ति हो, या सत्यांश हो, यथा—शा० स्थान० अ० ३ में गर्भसम्भव में ऋषियों के अनेक मतों का वर्णन तथा शा० अ० ६ में "तत्र केचिद् आहुः" और यत्र तत्र "यद् आहुः एके" "इति केचित्" आदि वाक्य। इस प्रकार उक्त चार प्रकार के वाक्यों से सम्पादित ग्रन्थ सुगम, सरल एवं संग्राह्य होता है ॥ २ ॥

अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्य (र) गोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतय ऊचुः ॥३॥

देवताओं में श्रेष्ठ, ऋषियों के समूह से घिरे, वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए—काशिराज, भगवान् दिवोदास धन्वन्तरि को

---

१ सूत्रस्थान का लक्षण—

सूत्रणात्, सूचनाच्चैव धारणादर्थसन्ततेः।
सूत्रस्थानं समुद्दिष्टम्— ॥ सु० सू० अ० ३ ॥

अथवा—यथा सुमनसां सूत्रं संग्रहार्थं विधीयते।
संग्रहार्थं तथाऽर्थानामृषिणा संग्रहः कृतः ॥ ५ ॥
चरक सू० अ० ३० । ८९ ॥

यह समझना चाहिये—फूलों को गूँथने के लिये-सूत्र की जरूरत होती है, यहाँ पर अर्थों को पिरोने के लिये सूत्र चाहिये।

१ जगदर्थसाधनाद् धनुर्धर्मः—तस्यान्तो व्याधिः, अकालमृत्युसम्पादकोऽधर्मः, तस्यारिः व्याध्यकालमृत्युनिवर्त्तनद्वारा ॥
भानुमती।

औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित और सुश्रुत आदि (कलायान, गार्ग्य आदि) ऋषियों ने पूछा।

(यद्यपि सुश्रुत प्रधान था, उसका नाम प्रारम्भ में न देकर औपधेनव आदि का जो नाम दिया है, वह देवर्षि होने से है, अथवा प्रिय का नाम आदि या अन्त में दिया जाता है, चूँकि आदि अथवा अन्त में ध्यान जाता है) ॥ ३ ॥

भगवन्! शारीरमानसागन्तुभिर्व्याधिभिर्विविधवेदनाभिघातोपद्रुतान् सनाथानप्यनाथवद्विचेष्टमानान् विक्रोशतश्च मानवानभिसमीक्ष्य मनसि नः पीडा भवति, तेषां सुखैषिणां रोगोपशमनार्थमात्मनश्च प्राणयात्रार्थं प्रजाहितहेतोरायुर्वेदं श्रोतुमिच्छाम इहोपदिश्यमानम्, अत्रायत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः तद्भगवन्तमुपपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति ॥ ४ ॥

हे भगवन्! शारीर, मानस तथा आगन्तुज रोगों से एवं अनेक प्रकार की वेदनाओं की पीड़ा से कष्ट भोगते हुए मित्र-स्वामी-नौकर आदि से सनाथ होने पर भी अनाथों की भाँति चेष्टा करते हुए और चिल्लाते हुए मनुष्यों को देखकर हमारे मन में दुःख होता है। सुख की इच्छावाले[1] इन पुरुषों के रोग की शान्ति के लिये तथा हमारी अपनी जीविका के लिये एवं जनकल्याण के लिये आप द्वारा उपदेश किये हुए आयुर्वेद को सुनना चाहते हैं। इस आयुर्वेद में ही ऐहलौकिक कल्याण और पारलौकिक श्रेय है, इसलिये हे भगवन्! हम आपके पास शिष्य रूप से आये हैं।

वक्तव्य—संसार में भले ही, पैसा, मकान, नौकर आदि सुख कहा जाये, एवं दरिद्रता, शोक, चिन्ता को दुःख कहें, परन्तु आयुर्वेद में तो आरोग्य—को ही सुख और रोग को ही दुःख कहा है। यथा—

'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥' च० सू०

(२) जनकल्याण के लिये ही आयुर्वेद बना है—जैसा चरक में कहा है—

'आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थम् आयुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छताम्............शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हंतायोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति' ॥ चरक चि० अ० १।४।४॥

(३) धर्म, अर्थ और काम—इन पुरुषार्थों से ऐहलौकिक या पारलौकिक-एक सुख मिलता है। दोनों स्थानों का सुख देनेवाला एक यही आयुर्वेद है, इसी से चरक में कहा है—

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः ॥
च० सू० अ० १ ॥ ४ ॥

तानुवाच भगवान्—स्वागतं वः, सर्वं एवामीमांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः ॥ ५ ॥

उनको भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—हे पुत्रो! तुम सबका आना अच्छा है, तुम सब के विषय में कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं, तुम सब पढ़ाने योग्य हो।

वक्तव्य—शिष्य को आचार्य की सेवा पुत्रवत् करनी चाहिये, इसी से चरक में कहा है—

'पुत्रवत्-दासवत्-अर्थिवच्चोपचरता
ऽनुवस्तव्योऽहम्'। च० वि० ॥

(२) अध्यापन करने से पूर्व आचार्य के लिये शिष्य की और शिष्य के लिये आचार्य की परीक्षा आवश्यक है। यथा—

(१) अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत्।
(२) ततोऽनन्तरमाचार्यं परीक्षेत्।
चरक वि० अ० १ ॥ ५ ॥

इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः, ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् ॥ ६ ॥

यह आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है, जिस आयुर्वेद को प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों में और एक हजार अध्यायों में कहा था। फिर मनुष्यों को अल्प आयुवाले एवं अल्पबुद्धिवाले देखकर इस आयुर्वेद को आठ अङ्गों में बनाया।

वक्तव्य—आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपांग चरक में कहा है। [1]केवल 'चरणव्यूह' में ऋग्वेद का उपांग इसे कहा है—

इस विस्तृत शास्त्र को संक्षेप में कहने की चर्चा चरक में भी की गई है। यथा—

तस्मै प्रोवाच भगवानायुर्वेदं शतक्रतुः।
परैरल्पैः मतिं बुद्ध्वा-विपुलां परमर्षये ॥[2]
च० सू० अ० १। २३।

---

१ प्रोवाच विनयाद्धीमान् ऋषीणां वाक्यमुत्तमम्।
व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयंकराः।
तद् ब्रूहि मे शमोपायं यथावदमरप्रभो ॥
च० सू० अ० १।

१ तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृक्-साम-यजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या।

२ कामशास्त्र में भी, इसी प्रकार से कामशास्त्र की उत्पत्ति बताई है—उसके भी आठ अङ्ग हैं।

वि० मन्तव्य—'इह खलु' का तात्पर्य-इस ग्रन्थ में या इस अध्याय में या हमारे विचार में यह माना जाता है, निश्चय किया गया है या कहा जाता है भले ही अन्य ग्रन्थों में प्रकरणों में अध्यायों में अथवा अन्य आचार्यों के विचार मत में कुछ भी माना जाता हो निश्चय किया गया हो या कहा जाता हो। इस प्रकार विरोध तथा विरोधाभास का निराकरण हो जाता है जो भिन्न २ प्रकारों, दृष्टिकोणों या विधिभेदों के अनुसार कहे गये विषय विरुद्ध (परस्पर या पूर्वापर विरोधी) प्रतीत होते हैं॥

तद्यथा—शल्यं, शालाक्यं, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, वाजीकरणतन्त्रमिति ॥ ७ ॥

यथा—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण तन्त्र ॥ ७ ॥

अथास्य प्रत्यङ्गलक्षणसमासः—

तत्र, शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्टास्थिबालनखपूयास्रावदुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थं च (॥१॥)

शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनामुपशमनार्थम् (॥२॥)

कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेहातिसारादीनामुपशमनार्थम् (॥३॥)

भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् (॥४॥)

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनामुपशमनार्थम् ॥

अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च (॥६॥)

रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च (॥७॥)

वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च (८) ॥८॥

अब इन आठ अङ्गों में से प्रत्येक अङ्ग का लक्षण संक्षेप में कहते हैं। इनमें—

शल्य से अभिप्राय—नाना प्रकार के तिनके, काष्ठ, पत्थर धूलि, लोहा, धातु, ढेला, अस्थि, बाल, नख, पूय, स्राव, दूषित व्रण, अन्तः शल्य, गर्भशल्य आदि को निकालने के लिये और यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोग के लिये एवं व्रण के निश्चय के लिये, शल्य शास्त्र है। [1]

जत्रु (ग्रीवामूल अथवा अंस सन्धि) से ऊपर के रोग अर्थात्, कान, आँख, मुख और नासिका आदि में होनेवाले रोगों की शान्ति के लिये शालाक्य शास्त्र है।

वक्तव्य—जत्रु—शब्द से मिलता हुआ शब्द 'जात' या 'जोता' है। बैलों को गाड़ी में जोतते समय उनके गले के नीचे जो पट्टी या रस्सी जूले में बाँधी जाती है, उसे जोत कहते हैं। यह पट्टी जहाँ गले में बाँधती है, उस भाग का नाम जत्रु है।

(२) शलाका—पटलवेधनी—यह अर्थ है। लिंग नाश की चिकित्सा में शलाका का उपयोग सुश्रुत में बताया गया है। यथा—

नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्रया॥
मध्यप्रदेशिन्यंगुष्ठस्थिरहस्तगृहीतया।
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत्॥
सु० उ० अ० १७ ॥५६,६०॥

और चूंकि जत्रु से ऊपर के मुख, नाक, शिर, कान के रोगों में आँख के रोग ही अधिक हैं और इनमें आँख ही प्रधान है, इसलिये इस अङ्ग का नाम शालाक्य रक्खा गया है [1]।

(३) काय चिकित्सा—सारे अङ्गों में होने (प्रभाव डालने)-वाले रोगों की अर्थात्, ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसार आदि रोगों की शान्ति के लिये कायचिकित्सा है।

वक्तव्य—'काय' का अथ सम्पूर्ण शरीर है, इसकी चिकित्सा कायचिकित्सा। अथवा 'कायति शब्दं करोति—इति कायो जाठराग्निः, अंगुलिपिहिते कर्णयुगले धुक् इति शब्दश्रवणात् तात्स्थ्याद् वा कायशब्देन अग्निरुच्यते। उक्तं च भोजेन—

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः॥'

क्योंकि ज्वर, अतिसार आदि रोग अग्नि के दोष से ही होते हैं। इसी से कहा है—

शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद् विकृते मूलं, अग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥
चरक चि० अ० १५।

(४) भूतविद्या—देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, ग्रह आदि के आवेश से दूषित मनवालों की

१ शल्यम्—शल्–हिंसायाम्-अथवा, शलः-शलनम्—हिंसा इत्यर्थः—इसी से कहा है—
अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजंगमानाम्।
यत् किंचिदाबाधकरं शरीरे तत् सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥

१ जत्रु से ऊपर के रोगों में प्रायः शलाका से काम किया जाता है इससे शालाक्य नाम है।

शान्ति कर्म, बलिदान आदि के द्वारा ग्रह की शान्ति के लिये भूतविद्या है।

(५) कौमारभृत्य—बालकों के भरणपोषण, धात्री के दूध के दोषों के संशोधन के लिये, दूषित स्तन्य के कारण (शारीरिक) एवं दुष्टग्रह के कारण (आगन्तुज) रोगों की शान्ति के लिये कौमारभृत्य है।

(६) अगदतन्त्र—साँप, कीड़ा, मकड़ी, चूहे आदि के दंश से उत्पन्न विषरोग की परीक्षा के लिये तथा नाना प्रकार के विषों के संयोग से उत्पन्न हुए विकारों की शान्ति के लिये अगदतन्त्र है।

(७) रसायनतन्त्र—अवस्था को बनाये रखने के लिये, आयु, मेधा और बल को बढ़ाने के लिये, तथा रोगों को दूर करने की शक्ति के लिये, [1]रसायनतन्त्र है।

(८) वाजीकरण तन्त्र—स्वभाव से ही अल्पवीर्यवाले पुरुषों में वीर्य को बढ़ाने के लिये, वात आदि में दूषित शुक्रवालों में शुक्र के शोधन के लिये, किन्हीं कारणों से स्वाभाविक परिमाण में क्षीणशुक्रवालों में शुक्र की वृद्धि के लिये, वृद्धावस्था के कारण शुष्कवीर्यवालों में शुक्र पैदा करने के लिये तथा स्त्रीप्रसङ्ग में प्रहर्ष उत्पन्न करने के लिये वाजीकरण है[2] ॥

एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यते; अत्र कस्मै किमुच्यतामिति ॥९॥

इस प्रकार से यह आयुर्वेद आठ अङ्गोंवाला कहा जाता है। इन आठ अङ्गों में से किस अङ्ग का तुम्हारे में से किसके लिये, उपदेश करूँ, वह कहो ॥९॥

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भगवानिति ॥१०॥

उन शिष्यों ने कहा—हे भगवन्! आप शल्य ज्ञानको मुख्य रखकर हम सब को आयुर्वेद का उपदेश दें ॥१०॥

स उवाचैवमस्त्विति ॥११॥

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—ऐसा ही सही ॥११॥

त ऊचुर्भूयोऽपि भगवन्तम्—अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रक्ष्यति; अस्मै चोपदिश्यमानं वयमप्युपधारयिष्यामः ॥१२॥

उन शिष्यों ने फिर भी भगवान् धन्वन्तरि को कहा—कि एक विचारवाले हम सबों के अभिप्राय को ध्यान में रखकर सुश्रुत आपसे पूछेगा और इस सुश्रुत को सम्बोधन करके कहे उपदेश को हम सब धारण करेंगे ॥१२॥

स होवाचैवमस्त्विति ॥१३॥

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—ऐसा ही सही ॥१३॥

वत्स सुश्रुत! इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च ॥१४॥

हे वत्स सुश्रुत! आयुर्वेदोत्पत्ति के विषय में—आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन—रोगों से आक्रान्त प्राणियों को रोगों से मुक्त करना और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना है[1]।

'आयुरस्मिन विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दन्ति' इत्यायुर्वेदः ॥१५॥

आयुर्वेद की निरुक्ति—शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व और आत्मा इनके संयोग का नाम आयु है, यह इस आयुर्वेद में है, अथवा इस शास्त्र के द्वारा आयु प्राप्त होती है, इसलिये यह आयुर्वेद है[2] ॥१५॥

---

१ रसायन—'रसशब्देन रसकार्यत्वात् सर्वेषामेव धातूनां ग्रहणम्। तेन रसादीनां शुक्रान्तानां, किं वा रसवीर्यविपाकानामयनं लाभोपायः रसायनम्।' जैसा कि चरक में कहा है—

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

२ जिस प्रकार आजकल शक्ति के माप की इकाई घोड़ा माना गया है, उसी प्रकार प्राचीनकाल में घोड़े की ही शक्ति से तुलना की जाती थी। इसी से कहा है—

"अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति अनेन-इति वाजीकरणम्। येन वा अत्यर्थं व्यज्यते स्त्रीषु शुक्रं तद् वाजीकरणम्।" जैसा कि चरक में कहा है—

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
व्रजते चाधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥

अथवा—वाजो वेगः—प्रस्तावाच्छुक्रस्य. स विद्यते येषां ते वाजिनः, ते क्रियन्तेऽनेन इति वाजीकरणम्। अथवा वाजः, शुक्रं सोऽस्यास्ति-इति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तद् वाजीकरकरणम्। किं वा, वाजो मैथुनम्-उक्तं हि हारीते—

वाजो नाम प्रकाशत्वाच्च मैथुनसंज्ञितम्।
वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते ॥

शिवदास सेन, यह वाजीकरण तीन प्रकार कहा है। यथा—

शुक्रस्रुतिकरं किंचित्, किंचित् शुक्रविवर्धनम्।
स्रुतिवृद्धिकरं किंचित्, त्रिविधं वृष्यमुच्यते ॥

तत्र स्रुतिकरं-स्त्रीस्पर्शादि, वृद्धिकरं क्षीरादि, स्रुतिवृद्धिकरं माषादि।

१ प्रयोजनं चास्य—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च। चरक सूत्र अ० ३०।

२ (१) हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यच्चोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥

(२) हिताहिततः, सुखासुखतः प्रमाणाप्रमाणतश्च तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः। यतश्चायुष्याणि, अनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि वेदयति ततोऽप्ययमायुर्वेदः ॥ च० सू० अ० ३०।

तस्याङ्गवरमाद्यं प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरविरुद्ध-मुच्यमानमुपधारय ॥१६॥

इस आयुर्वेद के श्रेष्ठ एवं आदिम अङ्ग को—प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और आगम इन चार प्रमाणों से अविरोध रूप में कहता हूँ, सुनो[1] ॥१६॥

एतद्ध्यङ्गं प्रथमं, प्रागभिघातव्रणसंरोहाद्यज्ञशिरःसन्धानाच्च । श्रूयते हि यथा—"रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति, ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—भगवन्तौ ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः, भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरः सन्धातव्यमिति । तावूचतुरेवमस्त्विति । अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन् । ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम्" इति ॥१७॥

इन आठों अङ्गों में—यह शल्य अङ्ग ही प्रधान है। क्योंकि—प्रथम देवासुर संग्राम में व्रणोत्पत्ति के रोहण होने से और यज्ञ का सिर जोड़ने के कारण—यह शल्यतन्त्र प्रधान है। ऐसा परम्परा से सुना जाता है कि—'रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था, तब देवताओं ने अश्विनी कुमारों के पास जाकर कहा कि 'आप दोनों यज्ञ का सिर जोड़ दें'। इस प्रकार करने से आप हम में अतिश्रेष्ठ होंगे। अश्विनों ने कहा कि—अच्छा, ऐसा ही हो। तब देवताओं ने इन अश्विनीकुमारों के यज्ञ भाग के लिये इन्द्र को प्रसन्न किया। अश्विनी कुमारों ने यज्ञ का सिर जोड़ दिया" ॥१७॥

अष्टास्वपि नायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्, आशुक्रियाकरणाद्यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात् सर्वतन्त्रसामान्याच्च ॥१८॥

आयुर्वेद के आठों तन्त्रों में यह शल्यतन्त्र ही सब से अधिक मान्य है। क्योंकि—यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि प्रयोग में शीघ्र क्रिया करने के कारण तथा शालाक्य आदि सब तन्त्रों में सामान्य होने के कारण।

वक्तव्य—शल्य तन्त्र, में—यन्त्र, शस्त्र, क्षार आदि का प्रयोग शीघ्र होने से रोग की निवृत्ति भी शीघ्र ही होती है। औषध-चिकित्सा में जितना समय लगता है, शस्त्र-चिकित्सा में कम लगता है। दूसरी बात—आयुर्वेद के शेष सब अङ्गों को किसी न किसी रूप में शल्य तन्त्र की अपेक्षा रहती है। इसी से चरक में अर्शरोग में, गुल्म में, उदररोग में 'शल्यचिकित्सक' की सहायता लेने के लिये कहा है[1] ॥१८॥

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति ॥१९॥

वह यह शाल्यशास्त्र शश्वत (अविनाशि), पुण्य का निमित्त, स्वर्ग के लिये मंगल का–यश का साधन, आयु के लिये हितकारी और दूसरी जीविका का साधन है ॥१९॥

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥२०॥

इस आयुर्वेद का ब्रह्मा ने उपदेश किया, ब्रह्मा से प्रजापति दक्ष ने पढ़ा, दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने सीखा, अश्विनों से इन्द्र ने और इन्द्र से मैंने (धन्वतरि ने) पढ़ा। मुझे तो इस मर्त्य लोक में—प्रजा के कल्याण के लिये, अर्थि रूप में शिष्य रूप से आये हुए तुमको देना है[2] ॥२०॥

भवति चात्र—

अहं हि धन्वन्तरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ।२१।

इस विषय में कहा भी है—

देवताओं की वृद्धावस्था, रोग[3] तथा मृत्यु दूर करनेवाला

---

१ चरक में तीन ही प्रमाण माने हैं, यथ—त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ॥ चरक वि० अ० ४॥

२ अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ ।
यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ।
बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥

१ अर्शरोग में—तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्त्तनं हितमर्शसाम् ।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना ॥
गुल्मरोग में—
तत्र धान्वतरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ ।
वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥
उदररोग में—इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद् दृष्टकर्मणाम् ॥
चरक चि० अ० १३ ।

२ कहा है—सम्यग् गुरुमुखादधीत्य यो न प्रयच्छत्यन्तेवासिभ्यः स खलु ऋणी गुरुजनस्य महदेनो विन्दति ॥

(१) अश्विनौ—शब्द आजकल के M. B. B. S. या M. D. M. S. का प्रतिनिधि है। वैदिक देवताओं में ये ही युगल हैं, और इनके दोनों प्रकार के सर्जिकल और मैडिकल कार्य मिलते हैं। यथा-सर्जिकल-यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ।
मैडिकल-भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः ।
वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥

३ देवताओं को भी रोग होते हैं, यथा—
खालित्यं गरुडध्वजस्य शिरसि, स्नाविव्रणो ब्रह्मणो ।
घोरं चापि जलोदरं च वरुणस्येन्दोस्तथैव क्षयः ।
पूष्णो दन्तगता रुजः सुरपतेर्नेत्रामया दारुणाः ।
लिंगार्त्तिर्भुवनेश्वरस्य, धनदस्याभूच्च पानात्ययः ॥

आदि देव धन्वन्तरि मैं हूँ। आयुर्वेद के अन्य अङ्गों सहित शल्य तन्त्र का उपदेश करने के लिये फिर से इस पृथ्वी पर आया हूँ ॥२१॥

अस्मिञ्छास्त्र पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं, तस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः—स्थावरो, जङ्गमश्च; द्विविधात्मक एवाग्नेयः सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात्। पञ्चात्मको वा; तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः संस्वेदजजरायुजाण्डजोद्भिज्जसंज्ञः; तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्; तस्मात् 'पुरुषोऽधिष्ठानम्' ॥२२॥

इस आयुर्वेद शास्त्र में--पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों के और आत्मा के संयोग का नाम पुरुष है, (मोक्ष शास्त्र में पच्चीस तत्त्वों के संयोग को पुरुष कहते हैं)। इसी पुरुष में भेषज, शस्त्र, क्षार, अग्निकर्म तथा स्वास्थ्यकारक कर्म अभिप्रेत हैं। क्योंकि यही पुरुष स्वास्थ्य और रोग का अधिष्ठान है। यह नर जातीय पुरुष ही इसका अधिष्ठान इस लिये है—क्योंकि लोक दो प्रकार का है, एक स्थावर और दूसरा जङ्गम। ये दोनों प्रकार के लोक पंच महाभूतों से बने होने पर भी, दो प्रकार के गुण की अधिकता के कारण आग्नेय और सौम्य कहे जाते हैं।[1] अथवा पाँच भूतोंवाला होने से, पाँच स्वभाववाले, ये दोनों प्रकार के लोक हैं। इनमें—सम्पूर्ण प्राणिसमूह, स्वेदज, जरायुज, अण्डज, और उद्भिज—इन चार संज्ञाओंवाला है। इन सब में पुरुष ही प्रधान[2] है। अन्य सब लोक इस पुरुष के साधनरूप हैं। इसीलिए इस शास्त्र का पुरुष ही अधिष्ठान है, (हाथी, वृक्ष आदि नहीं हैं[3])।

विशेष मन्तव्य—यहाँ "पुरुष" प्राणिमात्र का नाम है, आयुर्वेद स्थावर=वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा औषधि की चिकित्सा का तथा हाथी घोड़ा, गौ, भैंस आदि पशु एवं पक्षी आदि की चिकित्सा का भी उपदेश करता है और उत्तरदायी है, परन्तु उन सब में पुरुष (मानव) प्रधान है, अतः इस शास्त्र (सुश्रुत संहिता) में प्रधान माना गया है और इसी को ध्यान में रखकर अङ्ग प्रत्यङ्ग आदि का वर्णन किया गया है ॥२२॥

---

१ (१) खादयश्चेतनाषष्ठधातवः पुरुषः स्मृतः ॥चरक॥

(२) सौम्यं शुक्रमार्त्तवमाग्नेयम्। चरक० शा० १ अ० ३।

२ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठाः:...॥ मनु०। ३ इसके लिये विस्तृत विवेचन-भानुमती टीका में दिया गया है, वहाँ देखा जा सकता है।

तद्दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ॥२३॥

इस पुरुष को जिनके संयोग से दुःख होता है, उनको व्याधियाँ (विविधं दुःखमादधतीति व्याधयः) कहते हैं ॥२३॥

ते चतुर्विधाः—आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वाभाविकाश्चेति ॥२४॥

ये व्याधियाँ चार प्रकार की हैं—आगन्तुक, शारीरिक, और स्वाभाविक[1] ॥२४॥

तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः (॥१॥)

शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता (॥२॥)

मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति (॥३॥)

स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृ (भृ)-तयः (॥४॥) ॥२५॥

इनमें आगन्तुक रोग—शस्त्र आदि के अभिघातरूप कारणों से उत्पन्न होते हैं। शारीरिक रोग—अन्नपान के कारण, एवं वात, पित्त, कफ और रक्त इनसे एवं इनके सन्निपात रूप में विषमता से उत्पन्न होते हैं। मानसिक रोग--क्रोध, शोक, भय, हर्ष, दुःख, ईर्ष्या, असूया, दीनता, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा इच्छा और द्वेष के भेदों से उत्पन्न होते हैं। स्वाभाविक रोग—भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, निद्रा आदि हैं।

वि० मन्तव्य—शल्य एवं शालाक्य तन्त्रों में वातपित्तकफ के साथ रक्त को भी गिना जाता है और यूनानी चिकित्सा में रक्त (खून) को विल्त (दोष) भी माना जाता है ॥२५॥

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः ॥२६॥

ये चारों प्रकार के रोग मन और शरीर को आश्रय करके होते हैं।

इसी से चरक में कहा है—

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥
च० सू० अ० १ ॥

वि० मन्तव्य—उक्त चारों प्रकार की व्याधियों का अधिष्ठान—आश्रय या स्थान मन एवं शरीर हैं, अतः इन दोनों पर ही उनका प्रभाव भी पड़ता है ॥२६॥

---

१ चरक में रोग तीन प्रकार के माने हैं। यथा—त्रयो रोगा इति—निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसमुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते ॥ चरक सूत्र अ० ११।

तेषां संशोधनसंशमनाहाराचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रहहेतवः ॥ २७ ॥

सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त किये गये संशमन, आहार और विहार, इन रोगों का निग्रह करते हैं। संशोधन—बाह्य संशोधन और अन्तः संशोधन। बाह्य संशोधन—शस्त्र, क्षार, अग्नि प्रलेप आदि से होता है, और आभ्यन्तर संशोधन—वमन, विरेचन, आस्थापन और रक्तमोक्षण—इन चार प्रकार से होता है। (कोई रक्तमोक्षण के स्थान पर शिरोविरेचन मानते हैं)।

संशमन—न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति क्रुद्धांश्च तत् संशमनमुच्यते।

यह संशमन भी दो प्रकार का है-बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य संशमन-आलेप, परिषेक, अभ्यंग, कवल, गण्डूष आदि आदि रूपमें है। आभ्यन्तर संशमन-पाचन, लेखन, बृंहण, विष प्रशमन आदि रूप में हैं।

आहार चार प्रकार का है-पेय, भक्ष्य, लेह्य और चूष्य। यह चार प्रकार का आहार-दोष प्रशमन, व्याधि प्रशमन और स्वास्थ्यकर भेद से तीन प्रकार का है।

आचार—शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म है। इसमें उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि शारीरिक कर्म स्वाध्याय आदि वाचिक, संकल्प चिन्तन आदि मानसिक कर्म हैं ॥ २७ ॥

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च। स षट्सु रसेष्वायत्तः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि पुनरोषधयः। तास्तु द्विविधाः-स्थावरा जङ्गमाश्च ॥ २८ ॥

आहार प्राणियों का तथा इनके बल, वर्ण और ओज का मूल है। यह [1]आहार छ रसों के अधीन है। रस द्रव्य के आधीन है, और औषधियाँ ही द्रव्य हैं। औषधियाँ दो प्रकार की हैं, यथा—स्थावर और जंगम[2] ॥ २८ ॥

तासां स्थावराश्चतुर्विधाः-वनस्पतयो, वृक्षाः, वीरुधः, औषधय इति। तासु अपुष्पाः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥ २९ ॥

इनमें स्थावर ओषधियाँ चार प्रकार की हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधि। इनमें से जिनमें पुष्प आये बिना फल आता है, वे वनस्पति कहाती हैं[1]। जिनमें पुष्प और फल दोनों होते हैं, उनको वृक्ष कहते हैं। जो फैलनेवाली एवं गुल्म रूप (थम्बला रूप) होती हैं, वे वीरुध (बेल) कहाती हैं। जो फल के पकने तक ही अस्तित्व रखती हैं वे ओषधि हैं।

वि० मन्तव्य—'अपुष्पा' शब्द का अर्थ—'अविद्यमानपुष्पाः' (डल्लन), 'येषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म' (हाराणचन्द्र) तथा 'फलैः वनस्पतिः' (चरक) 'विना पुष्पैः फलैर्युक्ता वटोदुम्बरादयः' चक्रपाणिः, तथा—'तेषां अपुष्पा फलिनो वनस्पतय इति स्मृताः' हारीत, 'तैरपुष्पाद् वनस्पतिः' अमरकोश-आदि वनस्पति शास्त्र के अनुसार पुष्प का न होना ही सिद्ध है-सत्य है सही है, परन्तु आधुनिक वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन करनेवाले 'अदृश्यपुष्पाः' अर्थ करते हैं, अर्थ ही नहीं करते प्राचीनों को बुरा-भला भी कह डालते हैं, यद्यपि वे स्वयं गतानुगतिक हैं, फलतः उनकी कल्पना भी निराधार है, कारण सुनिये—पुष्प-विकसने धातु से 'पुष्प' शब्द निष्पन्न होता है। पुष्प वह है जो विकसित होता है—खिलता है—फूलता है और वट उदुम्बर आदि पर इस प्रकार के फूल आते भी नहीं हैं और भगवान् चरक ने इन्द्रियस्थान अ० २ में लिखा है कि—फलं चापि भवेत् किञ्चित् पुष्पं यस्य न विद्यते—अर्थात् ऐसे फल भी होते हैं जिनका पूर्वज पुष्प नहीं होता ॥ २९ ॥

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः ॥ ३० ॥

जंगम औषधि भी चार प्रकार की हैं। यथा—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और, उद्भिज। इन चारों में—पशु, मनुष्य, व्याल (हिंसक पशु) आदि जरायुज हैं। पक्षि, सर्प, अजगर आदि अण्डज हैं। कृमि, कीड़ा चिऊँटी आदि स्वेदज हैं। वीरबहूटी, मेंढक आदि उद्भिज्ज हैं[2] ॥ ३० ॥

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफलमूलकन्दनिर्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः ॥ ३१ ॥

चरक में कहा है—

(१) एकरसाहारः कर्शनीयानाम्—
सर्वरसाभ्यवहारी बलकराणाम् ॥

(२) वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम्।
तुष्टिः पुष्टिः बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥
चरक सु० अ० २७। ३४९।

२ औषधि शब्द से—स्थावर और जङ्गम में पार्थिव द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि चरक में कहा है—
पुनस्तत् त्रिविधम्-जंगमौद्भिदपार्थिवम्। च. सू. अ. १।

---

१ "अपुष्पा इति-पुष्पाणामतिसूक्ष्मतया पुष्पाधारकर्णिकया (Receptacles) आच्छादितत्वाच्च अदृश्यपुष्पा इत्यर्थः ॥ सुश्रुत निर्णय० मू०।

२ मेंढक और वीरबहूटी-उद्भिज हैं-यह विचारणीय है? आजकल का विज्ञान इनको ऐसा नहीं मानता।

इनमें स्थावर ओषधियों से—छाल, पत्ता, फूल, फल, मूल, कन्द, गोंद और स्वरस आदि (तैल, क्षार, कांटे आदि) अङ्ग बरते जाते हैं। जङ्गम औषधियों से—चमड़ा, नख, बाल, रक्त आदि का उपयोग होता है ॥ ३१ ॥

पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः ॥ ३२ ॥

पार्थिव ओषधियाँ—स्वर्ण, रजत, (चाँदी), मणि, मुक्ता, मैनसिल, मिट्टी का ठिकरा आदि हैं[1] ॥ ३२ ॥

कालकृतास्तु प्रवातनिवातातपच्छायाज्योत्स्नातमः शीतोष्णवर्षाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनादयः संवत्सरविशेषाः ॥

कालकृत औषध—अतिवायुवाला, वायुरहित स्थान, धूप, छाया, ज्योत्स्ना (चाँदनी), अन्धकार, शीत, उष्ण, वर्षा, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, आदि (निमेष, काष्ठ, ओला आदि) संवत्सर के विभाग को कालकृत कहते हैं।

चिकित्सा में इनका उपयोग होता है। यथा-प्रवातं वर्जयेत्, निवातागारमाश्रयेत्, इत्यादि—

इसी प्रकार प्रवालपिष्टी बनाने में प्रबाल को चाँदनी में रखते हैं। इसी तरह भिन्न भिन्न कुछ योगों को भिन्न भिन्न समय तक भूमि या धान्य राशि में रखने का विधान है। यथा—

लाजोत्पलोशीरकचन्दनानि दत्त्वा प्रवाते निशि वासयेच्च।
उत्तर अ० ४८।

(२) "निवाते देशे निचितं कृत्वा"। सु० सू० ११।
(३) 'मदनफलानामातपपरिशुष्काणाम्'। सु० अ० ४३॥

त एते स्वभावत एव दोषाणां संचयप्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥ ३४ ॥

ये सब स्वभाव से ही दोषों के संचय, प्रकोप प्रशमन और प्रतिकार में कारण हैं, और चिकित्सा में उपयोगी हैं ॥ ३४ ॥

भवन्ति चात्र श्लोका—
शरीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः।
प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः ॥ ३५ ॥

इस विषय में श्लोक है—[1]

चिकित्सकों ने इस चार प्रकार के वर्ग को शारीरिक रोगों के प्रकोप में तथा रोगों की शान्ति में कारण कहा है। (चार प्रकार का वर्ग—स्थावर, जङ्गम, पार्थिव और कालकृत है)॥

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया ॥३६॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः ॥ ३७ ॥

आगन्तुज रोग दो प्रकार से होते हैं। एक—मन में और दूसरे शरीर में होते हैं। इन दोनों की चिकित्सा दो प्रकार की है। शरीर में होनेवाले रोगों की—शारीरिक रोगों की भाँति चिकित्सा है, और मनमें होनेवाले रोगों की शब्द-स्पर्श-रूप रस और गन्ध इनका सुखकारी उपयोग करना चिकित्सा है ॥ ३६,३७ ॥

एवमेतत् पुरुषो व्याधिरौषधं क्रियाकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम्। तत्र पुरुषग्रहणात् तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तस्तदङ्गप्रत्यङ्गविकल्पाश्च त्वङ्मांसास्थिसिरास्नायुप्रभृतयः, व्याधिग्रहणाद् वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता सर्व एव व्याधयो व्याख्याताः, औषधग्रहणाद् द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकानामादेशः, क्रियाग्रहणात् स्नेहादीनि च्छेद्यादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि, कालग्रहणात् सर्वक्रियाकालानामादेशः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार से पुरुष, व्याधि, औषध और क्रियाकाल इन चारों की संक्षेप में व्याख्या कर दी है। इनमें पुरुष शब्द से इस पुरुष को उत्पन्न करनेवाले पंचमहाभूत द्रव्यसमूह, एवं इस पुरुष के अङ्ग प्रत्यङ्ग के भेद, त्वचा, मांस, अस्थि, सिरा स्नायु, आदि भी कह दिये हैं। व्याधि शब्द से-वात, पित्त, कफ, रक्त एवं इनके सन्निपात तथा विषमता से होनेवाले सब रोगों की व्याख्या कर दी है। औषध शब्द से—द्रव्य, रस, गुण, वीर्य, विपाक का ग्रहण कर लिया है। क्रिया शब्द से स्नेह आदि एवं छेद्य आदि कर्मों की व्याख्या कर दी है। काल शब्द से—सम्पूर्ण क्रियाओं के काल का कथन किया है[2] ।३८।

१ अत्र पार्थिवेषु मुक्तायाः पाठोऽनार्षः प्रतिभाति। मुक्तायाः शुक्लाख्यजलचरप्राणिजन्यत्वात् (सु० नि० मूल०)।

यह नोट श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज ने सुश्रुत संहिता (मूल) निर्णयसागर में दिया है। परन्तु पीछे उन्होंने ही बताया कि यह पाठ ठीक है। क्योंकि मुक्ता में स्वर आदि पार्थिव गुण देखकर इसको पार्थिव कहा है न कि उत्पत्ति की दृष्टि से। इस लिये यह प्रमाद का पाठ नहीं है।

१ चरक में कहा है—
गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते।
तद् व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते ॥
च० नि० अ० १॥

२ पहले जो 'कालकृत'—शब्द आया है, वहाँ पर कोई, 'क्रियाकाल' ऐसा कहते हैं। जैसा भानुमती में कहा है कि—"क्रियाणां स्नेहवमनादिनां तथा छेद्यादीनां च प्रवृत्ति-निवृत्त-उप

भवति चात्र—

बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम्।
सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥३९॥

इस विषय में श्लोक है—

चिकित्सा शास्त्र का यह बीज संक्षेप में कहा है। इस संक्षेप में कहे हुए विषय की व्याख्या एक सौ बीस अध्याय में की जायगी ॥३९॥

तच्च सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु। तत्र सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेष्वर्थवशात् संविभज्योत्तरे तन्त्रे शेषानर्थान् वक्ष्यामः ॥४०॥

ये एक सौ बीस अध्याय पाँच स्थानों में विभक्त हैं। यथा-सूत्रस्थान, निदानस्थान, शारीरस्थान, चिकित्सास्थान और कल्पस्थान। प्रयोजन वश इन एक सौ बीस अध्यायों को पाँच स्थानों में विभक्त करके, शेष विषय की उत्तरतन्त्र में व्याख्या करेंगे[1]।

भवति चात्र—

स्वयम्भुवा प्रोक्तमिदं सनातनं
पठेद्धि यः काशिपतिप्रकाशितम्।
स पुण्यकर्मा भुवि पूजितो नृपै
रसुक्षये शक्रसलोकतां व्रजेत् ॥४१॥

कहा भी है—इस विषय में श्लोक है—

ब्रह्मा से कहे हुए और काशिपति से प्रकाशित किये इस सनातन शास्त्र का पृथ्वी पर जो पुरुष अभ्यास करता है, वह पुण्यकर्मशाली पुरुष पृथ्वी पर तो राजाओं से सम्मानित होता है, और मरने पर इन्द्र के समान लोक को अर्थात् स्वर्ग को पाता है। (इस शास्त्र से ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार का सुख मिलता है) ॥४१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वेदोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

पिछले अध्याय में इस शास्त्र के अध्ययन के ऐहिक तथा पारलौकिक फल को बताकर अब अध्ययन विधि को बताने के लिए 'शिष्योपनयनीय' नामक अध्याय का अवतरण करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥१-२॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयःशीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधाधृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्; अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥३॥

जिस प्रकार के शिष्य का उपनयन करना चाहिये वह कहते हैं—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किसी एक जाति के, शुद्ध वंश में अथवा आयुर्वेद पढ़नेवाले कुल में उत्पन्न बालक या तरुण अवस्थावाले, शील-शूरता पवित्रता कुल तथा देश के व्यवहार को जाननेवाले, नम्रता, उत्साह-शक्ति, बल, मेधा, स्मृति (स्मरण), मति, प्रतिपत्ति (उत्तमसूझ युक्त), पतली जिह्वा, पतले ओठ, पतले दाँतों के अग्रभागवाले, सरल मुख-नासिका-आँखोंवाले, प्रसन्नचित्त, मधुरवाणी, सुन्दर चेष्टावाले और कष्ट को सहन करनेवाले शिष्य का वैद्य उपनयन करे। इन उपरोक्त गुणों से विपरीत गुणवाले शिष्य का उपनयन नहीं करना चाहिये। (अकुलीन को पढ़ाने का निषेध है। यथा--अकुलीनं त्यजेत् शिष्यम्। वियोनिं म्लेच्छजातिं च)

उपनयनीयं तु ब्राह्मणं प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं चतुरस्रं स्थंडिलमुपलिप्य गोमयेन, दर्भैः संस्तीर्य, रत्नपुष्पलाजभक्तैर्देवताः पूजयित्वा विप्रान् भिषजश्च, तत्रोल्लिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो ब्रह्माणं स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारुबिल्वानां समिद्भिश्चतुर्णां वा क्षीरिवृक्षाणां (न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थमधूकानां) दधिमधुघृताक्ताभिर्दार्वीहौमिकेन विधिना सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः स्रुवेणाज्याहुतीर्जुहुयात्, ततः प्रतिदैवतमृषींश्च स्वाहाकारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत् ॥४॥

उपनयन विधि—

उपनयन के योग्य ब्राह्मण शिष्य को उपनयन देने के लिये वैद्यप्रशस्त तिथि, प्रशस्त करण, प्रशस्त मुहूर्त्त, प्रशस्त नक्षत्र में, प्रशस्त दिशा में (प्राची या उत्तर दिशा), पवित्र, समान स्थान में चार हाथ बराबर, लम्बा-चौड़ा, चारकोणवाले स्थान

दर्शन-कालः क्रियाकालः।"

इसी प्रकार—

(२) नान्यः कालः क्रियातोऽस्ति, क्रिया नान्याऽथवौषधात्। प्राधान्यात् पुरुषस्यात्र ततो व्याधिचतुष्टयम् ॥ क्रियाविशिष्टः कालो वा, कालो वा तच्चतुष्टयम् ॥ इसलिये ये चार ही हैं, पाँच नहीं।

१ जैसा कि कहा है—"अधिकृत्य कृतं यस्मात् तन्त्रमेतदुपद्रवान्"—अर्थात् शल्य शास्त्र के व्रण आदि में होनेवाले उपद्रवों के लिये इस उत्तरतन्त्र को कहा है।

१ उपनयन हो चुकने पर भी आयुर्वेद शास्त्र को पढ़ने के लिये फिर उपनयन दिया जाता है। क्योंकि उपनयन का अर्थ—शिष्य का गुरु के समीप आना है। इस विधि से शिष्य गुरु के नजदीक आता है। इसी कारण से गुरु-शिष्य मिलकर परस्पर प्रतिज्ञायें करते हैं।

को गोबर से लेपकर इस पर कुशा बिछा दे। फिर रत्न, फूल, लाजा, (चावल आदि) अन्न से देवताओं का, ब्राह्मणों का, वैद्यों का पूजन करे। फिर, इस स्थान पर ऊर्ध्वमुखी रेखाकरके इसे जल से प्रोक्षण करके, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा में बैठाकर अग्नि प्रज्वलित करे। खैर, ढाक, देवदार, बिल्व इनकी समिधाओं से, अथवा, बड़, गूलर, पीपल, महुवा इन चार क्षीरी वृक्षों की समिधा से, दही, शहद, घी इनके साथ दार्वी होम विधि[1] से, ओं भूः स्वाहा, ओं भुवः स्वाहा, ओं स्वः स्वाहा—इस ओंकार विधि पूर्वक स्रुवे से घृत की आहुति देते हुए, तथा प्रत्येक के लिये (ब्रह्मणे स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, अश्विभ्यां स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा), प्रत्येकऋषि के लिये (धन्वन्तरये स्वाहा, भारद्वाजाय स्वाहा, आत्रेयाय स्वाहा) 'स्वाहा' इस शब्द के साथ घी की आहुति देवें। शिष्य भी इसी प्रकार से करे।

वि०मन्तव्य—ज्योतिःशास्त्रानुसार--उपनयन के लिये—प्रशस्त तिथि—द्वितीया, तृतीया, प्रतिपदा, एकादशी, द्वादशी तथा दशमी। भद्रा से अतिरिक्त करण, नक्षत्र—हस्त, अश्विनी पुष्य, तीनों उत्तरा, रोहिणी, आश्लेषा, स्वाती, पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, मूल, मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा, तीनों पूर्वा, आर्द्रा। वार—रविवार, बुध, गुरु, शुक्र। उक्त तिथियाँ शुक्लपक्ष की हों और कृष्णपक्ष में प्रतिपदा से पञ्चमी पर्यन्त। समय—मध्याह्न से पूर्व। मास—ब्राह्मण के लिये वसन्त=चैत्र एवं वैशाख, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म=ज्येष्ठ एवं आषाढ़, वैश्य के लिये शरद्=आश्विन एवं कार्तिक। मुहूर्त--दैवज्ञ से पूछिये ॥ ४ ॥

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति, राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यस्यैवेति। (शूद्रमपि कुलगुणसंपन्नं मन्त्रवर्जमुपनीतमध्यापयेदित्येके) ॥५॥

ब्राह्मण तीनों वर्णों का उपनयन कर सकता है, क्षत्रिय दो वर्णों का (अपना और वैश्य का), वैश्य—वैश्य का ही उपनयन कर सकता है। कई आचार्यों का मत है कि यदि शूद्र आयुर्वेद पाठि कुल में उत्पन्न हो, तथा-शौच शील आदि गुणों से युक्त हो तो, मन्त्र (ओं भूः स्वाहा) को छोड़कर इसको उपनयन देकर आयुर्वेद पढ़ाना चाहिये। (चरक) में ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य के लिये आयुर्वेद पढ़ने का विधान करके—फिर 'सामान्यतो वा धर्मार्थकामपरिग्रहार्थं सर्वैः'—यह कह दिया है ॥ ५ ॥

ततोऽग्निं त्रिःपरिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात्—कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेर्ष्यापारुष्यपैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादनतत्परेणावश्यं भवितव्यं, मदनुमतस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्; अतोऽन्यथा ते वर्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति ॥६॥ अहं वा त्वयि सम्यग्वर्तमाने यद्यन्यथादर्शी स्यामेनोभाग्भवेयमफलविद्यश्च ॥७॥

स्वाहाकार के पीछे अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा कराके शिष्य को—अग्नि की साक्षि रखकर आचार्य उपदेश दे—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहंकार, ईर्ष्या, कठोरवाणी, खलता, झूठ, आलस्य एवं निन्दित कर्मों को छोड़कर, नख और सिर के बाल कटाकर, पवित्रता के साथ, कषाय वस्त्र पहिनकर, सत्य, शास्त्रोक्त नियम, ब्रह्मचर्य, नामोच्चारण पूर्वक अभिवादन करते हुए, सदा बरतना चाहिए। मेरी आज्ञा से उठना, बैठना, जाना, सोना, खाना, पढ़ना चाहिये। मेरे प्रिय एवं हितकारी कार्यों में तुमको बरतना चाहिए। यदि इससे विपरीत करोगे तो तुमको अधर्म होगा, विद्या भी निष्फल जायेगी, विद्या कभी प्रकाशित नहीं होगी। और यदि तुम्हारे ठीक प्रकार से व्यवहार करने पर भी मैं इसमें विपरीत मिथ्याचरण करूँ तो मैं पाप का भागी बनूँ और मेरी विद्या व्यर्थ हो। (चरक में—"त्रिः पक्षस्य केशश्मश्रुलोमनखान् संहरेत्"—यह पाठ है—परन्तु शल्यशास्त्र होने से इसमें इस नियम का अपवाद रखकर-'सदा नीचनखरोम्णा'—इसका पालन करना चाहिये) ॥ ६-७ ॥

द्विजगुरुदरिद्रमित्रप्रव्रजितोपनतसाध्वनाथाभ्युपगतानां चात्मबान्धवानामिव स्वभेषजैः प्रतिकर्तव्यम्, एवं साधु भवति; व्याधशाकुनिकपतितपापकारिणां च न प्रतिकर्तव्यम्; एवं विद्या प्रकाशते, मित्रयशोधर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति ॥८॥

रोगी परिचर्य्या के लिये उपदेश—

ब्राह्मण, गुरु, दरिद्र, मित्र, संन्यासी, पास में नम्रतापूर्वक आये, सत्पुरुष, अनाथ, दूर से आये सज्जनों को चिकित्सा स्वजनों की भाँति अपनी औषधियों से करनी चाहिये। इस प्रकार करने से मंगल होता है। व्याध, चिड़िमार, नीच, पाप कर्म करनेवालों की चिकित्सा में अर्थ लाभ की इच्छा से भी प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। इस प्रकार करने से विद्या प्रकाशित होती है, तथा मित्र, यश, धर्म अर्थ और काम की प्राप्ति होती है[1] ॥ ८ ॥

---

१ दार्वी होमविधि—मीमांसादर्शन के आठवें अध्याय के चौथे पाद में देखिये। अथवा सामान्य होम की विधि से यज्ञ करना चाहिये।

१ चरक विमान—अध्याय में इसको सुन्दर रूप से लिखा है, यथा—त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्वप्राणभृतां शर्माशासितव्यम्। सर्वात्मना चातुराणामारोग्याय प्रयतितव्यम्। जीवित-

भवतश्चात्र—

कृष्णेऽष्टमी तन्निधनेऽहनी द्वे शुक्ले तथाऽप्येवमहर्द्विसन्ध्यम्।
अकालविद्युत्स्तनयित्नुघोषे स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु ।९।
श्मशानयानायतनाहवेषु मनोत्सवौत्पातिकदर्शनेषु।
नाध्येयमन्येषु च येषु विप्रा नाधीयते नाशुचिना च नित्यम् ॥१०॥

अनध्याय काल—

कृष्ण पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पञ्चदशी (अमावस) शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पञ्चदशी (पूर्णिमा) ये तीनों तिथियाँ, दोनों संध्याकाल–प्रातःसायम्, विना समय के (हेमन्त—शिशिर काल में) विद्युत्, या बिजली की कड़क अथवा वृष्टि के होने पर (अथवा मल मास में) अपनी सम्बन्धियों की राष्ट्र की, और राजा की पीड़ा में, श्मशान में, सवारी में, मार्ग में, वन में, संग्राम में, महोत्सव (कौमुदी महोत्सवादि) में, अनिष्ट सूचक उत्पातों के दर्शन में, तथा ब्राह्मण जिन समयों में अध्ययन नहीं करते उन समयों में, (वीणा आदि के बजने के समय) अपवित्र अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—स्वतन्त्रराष्ट्रक्षितिपव्यथासु--अर्थात्—स्वाधीन राज्य के सम्म्राट् की व्यथा (रुग्णावस्था) में, अद्यतनाऽऽहवेषु-अर्थात् आज भर के युद्धकाल में अनध्याय होना चाहिये, साधारण सामन्तों की रुग्णावस्था में और लम्बे युद्धकाल में नहीं। येषु विप्रा नाधीयते—अर्थात् प्रतिपदा तिथि ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शिष्योपनयनीयो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथातोऽध्ययनसंप्रदानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शिष्य के उपनयन के अनंतर शास्त्र के सम्यक् प्रकार से दान करने के लिये 'अध्ययन सम्प्रदानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

हेतोरपि चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यम्।

अन्यद् वा--भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवं विधस्य कुर्यात्। तद्यथा--अनपवादप्रतीकारस्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्यमानिनः चण्डासूयकस्य तीव्राधर्मरुचेरतिक्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य चेति। एवंविधं ह्यातुरमुपचरन् भिषक् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छति ॥ चरक वि० अ० ३ ॥ और-चरक सिद्धि अ० २ में चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च-- इत्यादि देखिये।

प्रागभिहितं 'सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु' (सू. अ. १) तत्र सूत्रस्थानमध्यायाः षट्चत्वारिंशत्, षोडश निदानानि, दश शारीराणि, चत्वारिंशच्चिकित्सितानि, अष्टौ कल्पाः, तदुत्तरं षट्षष्टिः ॥ ३ ॥

प्रथम जो कहा है कि एक सौ बीस अध्यायपांच स्थानों में विभक्त हैं। यथा—सूत्रस्थान में ४६ अध्याय, निदानस्थान में १६, शारीरस्थान में १०, चिकित्सास्थान में ४०, कल्प में ८, उत्तर स्थान में ६६ अध्याय हैं। (एक सौ बीस अध्यायों में उत्तर स्थान के अध्यायों की गिनती नहीं है।) ॥ ३ ॥

वेदोत्पत्तिः शिष्यनयस्तथाऽध्ययनदानिकः।
प्रभाषणाप्रहरणावृतुचर्याऽथ यान्त्रिकः ॥ ४ ॥
शस्त्रावचारणं योग्या विशिखा क्षारकल्पनम्।
अग्निकर्म जलौकाख्या ह्यध्याया रक्तवर्णनम् ॥ ५ ॥
दोषधातुमलाद्यानां विज्ञानाध्याय एव च।
कर्णव्यधामपक्वैषावालेपो व्रण्युपासनम् ॥ ६ ॥
हिताहिता व्रणप्रश्नो व्रणास्रावश्च यः पृथक्।
कृत्याकृत्यविधिर्व्याधिसमुद्देशीय एव च ॥ ७ ॥
विनिश्चयः शस्त्रविधौ प्रनष्टज्ञानिकस्तथा।
शल्योद्धृतिव्रणज्ञानं दूतस्वप्ननिदर्शनम् ॥ ८ ॥
पञ्चेन्द्रिय तथा छाया स्वभावाद्वैकृतं तथा।
अवारणो युक्तसेनीय आतुरक्रमभूमिकौ ॥ ९ ॥
मिश्रकाख्यो द्रव्यगणः संशुद्धौ शमने च यः।
द्रव्यादीनां च विज्ञानं विशेषो द्रव्यगोऽपरः ॥ १० ॥
रसज्ञानं वमनार्थमध्यायो रेचनाय च।
द्रवद्रव्यविधिस्तद्वदन्नपानविधिस्तथा ॥ ११ ॥
सूचनात् सूत्रणाच्चैव स्रवनाच्चार्थसन्ततेः।
षट् चत्वारिंशदध्यायं सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥ १२ ॥

प्रत्येक स्थान के अध्यायों का नाम कहते हैं—

वेदोत्पत्ति, शिष्योपनयनीय, अध्ययनसंप्रदायनीय प्रभाषणीय, अग्रोपहरणीय, ऋतुचर्य्या, यन्त्रविधि, शस्त्रावचरणीय, योग्यासूत्रीय, विशिखानुप्रवेशनीय, क्षारपाकविधि, अग्निकर्मविधि, जलौकावचरणीय, शोणितवर्णनीय, दोषधातुमलक्षयवृद्धि विज्ञानीय, कर्णव्यधबन्धनविधि, आमपक्वैषणीय, व्रणालेपनविधि, व्रणितोपासनीय, हिताहितीयाध्याय, व्रणप्रश्न, व्रणस्राव विज्ञानीय, कृत्याकृत्यविधि, व्याधिसमुद्देशीय, अष्टविधशस्त्रकर्माध्याय, प्रनष्टशल्यविज्ञानीय, शल्यापनयनीय, विपरीताविपरीतव्रण विज्ञानीय, विपरीताविपरीत दूत स्वप्न विज्ञानीय, पंचेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति, छायाविप्रतिपत्ति, स्वभावविप्रतिपत्ति, अवारणीय, युक्तसेनीय, आतुरोपक्रमणीय, भूमिप्रविभागीय, मिश्रक, द्रव्यसंशोधन संशमनीय, द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीय, द्रव्यविशेष विज्ञानीय, वमन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय, विरेचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय, द्रवद्रव्यविधि, अन्नपान

विधि ये छियालीस अध्याय हैं। अर्थों को सूचित करने से (एक देश के कहने से अनुक्त अर्थ को ग्रहण करने से) अर्थों को यथास्थान रखने से, अर्थों के जानने से (अनुसन्धान से) इन छियालिस अध्यायों को सूत्रस्थान कहते हैं ॥ ४-१२ ॥

वातव्याधिकमर्शांसि साश्मरिश्च भगन्दरः।
कुष्ठमेहोदरं मूढो विद्रधिः परिसर्पणम् ॥ १३ ॥
ग्रन्थिवृद्धिक्षुद्रशूकभग्नाश्च मुखरोगिकम्।
हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानीति षोडश ॥ १४ ॥

निदानस्थान के अध्याय—

वातव्याधि, अर्श, अश्मरि, भगन्दर, कुष्ठ, प्रमेह, मूढगर्भ, विद्रधि, उदर, परिसर्प (विसर्प), ग्रन्थि (ग्रन्थि, अपची, अर्बुद. गलगण्ड), वृद्धि (उपदंश, वृद्धि, श्लीपद), क्षुद्ररोग, शूकरोग, भग्नरोग और मुखरोग ये सोलह निदानस्थान में अध्याय हैं। रोगोत्पत्ति का कारण (हेतु) और लक्षण (रोग को बतानेवाले चिह्न) का निर्देश करने से इसको निदानस्थान कहते हैं ॥

भूतचिन्ता रजःशुद्धिगर्भावक्रान्तिरेव च।
व्याकरणं च गर्भस्य शरीरस्य च यत् स्मृतम् ॥१५॥
प्रत्येकं मर्मनिर्देशः शिरावर्णनमेव च।
सिराव्यधो धमनीनां गर्भिण्या व्याकृतिस्तथा ॥१६॥
निर्दिष्टानि दशैतानि शारीराणि महर्षिणा।
विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥ १७ ॥

शारीरस्थान के अध्याय—

भूतचिन्ता (पञ्चभूत सम्बन्धी), रजःशुद्धि (शुक्रशोणित की शुद्धि), गर्भावक्रान्ति, गर्भव्याकरण शारीर, शरीरव्याकरण (शरीर का विवरण), प्रत्येक मर्म निर्देश, शिरावर्णनशारीर, सिराव्यध विधि, धमनी व्याकृति, गर्भिणी व्याकृति—ये दश अध्याय पूज्य धन्वन्तरि ने वैद्यों तथा रोगियों के लिये शरीर का विशेष रूप में ज्ञान कराने के लिये कहे हैं। (चरक में भी मुमुक्षु के लिये निर्देश शारीर ज्ञान से सत्या बुद्धि उत्पन्न होकर मोक्ष में प्रवृत्त कराती है)[1] ॥ १५-१७ ॥

द्विव्रणीयो व्रणः सद्यो भग्नानां वातरोगिकम्।
महावातिकमर्शांसि साश्मरिश्च भगन्दरः ॥ १८ ॥
कुष्ठानां महतां चापि मैहिकं पैडिकं तथा।
मधुमेहचिकित्सा च तथा चोदरिणामपि ॥ १९ ॥
मूढगर्भचिकित्सा च विद्रधीनां विसर्पिणाम्।
ग्रन्थिवृद्ध्युपदंशानां तथा च क्षुद्ररोगिणाम् ॥२०॥
शुक्रदोषचिकित्सा च तथा च मुखरोगिणाम्।
शोफस्यानागतानां च निषेधो मिश्रकं तथा ॥ २१ ॥
वाजीकरं च यत् क्षीणे सर्वाबाधशमोऽपि च।
मेधायुष्करणं चापि स्वभावव्याधिवारणम् ॥ २२ ॥
निवृत्तसंतापकरं कीर्तितं च रसायनम्।
स्नेहोपयौगिकः स्वेदो वमने सविरेचने ॥ २३ ॥
तयोर्व्यापच्चिकित्सा च नेत्रबस्तिविभागिकः।
नेत्रबस्तिविपत्सिद्धिस्तथा चोत्तरबस्तिकः ॥ २४ ॥
निरूहक्रमसंज्ञश्च तथैवातुरसंज्ञकः।
धमनस्य विधिश्चान्त्यश्चत्वारिंशदिति स्मृताः ॥२५॥
प्रायश्चित्तं प्रशमनं चिकित्सा शान्तिकर्म च।
पर्यायास्तस्य निर्देशाच्चिकित्सास्थानमुच्यते ॥२६॥

चिकित्सास्थान के अध्याय—

द्विव्रणीय, सद्योव्रण, भग्नरोग, वातव्याधि, महावातव्याधि, अर्शचिकित्सा, अश्मरि, भगन्दर रोग, कुष्ठ, महाकुष्ठरोग, प्रमेह, प्रमेह पिड़िका, मधुमेह, उदररोग, मूढगर्भ, विद्रधि, विसर्प (नाड़ीस्तन रोग), ग्रन्थि (ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड), वृद्धि (वृद्धि, उपदंश, श्लीपद), क्षुद्ररोग, शूकरोग, मुखरोग, शोफरोग, अनागत बाध प्रतिषेध (चिकित्सा,) मिश्रक, क्षीणबलीय वाजीकरण चिकित्सा, सर्वाबाधशम (रसायनसर्वाबाधशमनीय), मेधायुष्कामीय रसायन, स्वभाव व्याधि प्रतिषेधीय रसायन, निवृत्त संतापीय, स्नेहोपयोगीय, स्वेदावचरणीय, वमन विरेचन साध्योपद्रव, वमन विरेचन व्यापच्चिकित्सा, नेत्र बस्ति प्रमाण प्रविभाग, नेत्र बस्ति व्यापत्, उत्तर बस्ति, निरूहोपक्रम चिकित्सा, आतुरोपद्रव, धूमनस्यविधि (धूम, नस्य, कवल ग्रह) यह अन्तिम अध्याय है--इस प्रकार से ४० अध्याय इस स्थान में हैं। चिकित्सा के पर्याय—प्रायश्चित्त, प्रशमन, चिकित्सा, शान्तिकर्म, ये चिकित्सा के पर्याय हैं। चिकित्सा का विवरण होने से इसे चिकित्सास्थान कहते हैं। चरक में—व्याधिहर, पथ्य, साधन, प्रकृतिस्थापन और औषध ये अन्य भी पर्य्याय हैं।

वि० मन्तव्य—प्रायश्चित्त = रोगनिवृत्ति के लिए अनेक विध व्रत उपवास आदि कर्म, प्रशमन—शारीरिक एवं मानसिक दोषों की शान्ति के उपाय, चिकित्सारोगप्रतिकार, शान्तिकर्म—रोगजनक सूर्यादि ग्रहों तथा देवादि एवं बालग्रहों की शान्ति के कर्म, व्याधिहर—रोग नाशन के उपाय, पथ्य या जीवनयात्रा के लिये उपयोगी आचार (आहार-विहार), साधन सिद्धि—सफलता के उपाय=जरा आलस्य आदि के नाशक उपाय, औषध=आ=समस्त शरीर में ओष=उचित ताप या दीप्ति का आधान करने-रखने का उपाय, प्रकृतिस्थापन-प्रकृति=स्वास्थ्य में स्थापित रखने का उपाय तथा हित=धारण एवं पोषण का उपाय। अतएव चिकित्सास्थान में केवल रोगप्रतिकार के ही उपाय नहीं लिखे गये हैं, अपितु स्वास्थ्य के लिये भी रसायन एवं वाजीकरण का वर्णन करने के लिये अनेक अध्याय

१ इसी में कहा है
शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥
देखिये चरक शारीर ५-६

लिखे गये हैं। पाठक ध्यान देने की कृपा करें—विशेषतः वे, जो कहा करते हैं कि रसायन एवं वाजीकरण के लिये पृथक् स्थान का सन्निवेश क्यों नहीं किया गया है ॥२६॥

अन्नस्य रक्षा विज्ञानं स्थावरस्येतरस्य च।
सर्पदष्टविषज्ञानं तस्यैव च चिकित्सितम् ॥२७॥
दुन्दुभेर्मूषिकाणां च कीटानां कल्प एव च।
अष्टौ कल्पाः समाख्याता विषभेषजकल्पनात् ॥२८॥
अध्यायानां शतं विंशमेवमेतदुदीरितम्।

कल्पस्थान के अध्याय

अन्नपानरक्षा विज्ञानीय, स्थावर विष विज्ञानीय, जंगमविष विज्ञानीय, सर्पदष्ट चिकित्सा, दुन्दुभि स्वनीय, मूषिककल्प, कीट कल्प—ये आठ अध्याय इस कल्प स्थान में हैं। विषौषध के जानने से इसको कल्प कहते हैं। (कई लोग—दुन्दुभिस्वनीय को मूषिक कल्प के पीछे पढ़ते हैं)। इस प्रकार से पूर्व कहे हुए १२० अध्याय पूर्ण हो जाते हैं।

वि० मन्तव्य—कल्पस्थान अगदतन्त्र का नामान्तर है, जिसको विषविज्ञान भी कह सकते हैं। इस तन्त्र में औषध का ही नाम "अगद" है जिसका अर्थ है—जिसके सेवन से गद = रोग = विषविकार उत्पन्न ही न हों अथच नष्ट—दूर भी हो जायँ ॥२७,२८॥

अतः परं स्वनाम्नैव तन्त्रमुत्तरमुच्यते ॥२९॥
अधिकृत्य कृतं यस्मात्तन्त्रमेतदुपद्रवान्।
औपद्रविक इत्येष तस्याग्र्यत्वान्निरुच्यते ॥३०॥
सन्धौ वर्त्मनि शुक्ले च कृष्णे सर्वत्र दृष्टिषु।
संविज्ञानार्थमध्याया गदानां तु प्रतिं प्रति ॥३१॥
चिकित्साप्रविभागीयो वाताभिष्यन्दवारणः।
पैत्तस्य श्लैष्मिकस्यापि रौधिरस्य तथैव च ॥३२॥
लेख्यभेद्यनिषेधौ च छेद्यानां वर्त्मदृष्टिषु।
क्रियाकल्पोऽभिघातश्च कर्णोत्थास्तच्चिकित्सितम् ॥३३॥
घ्राणोत्थानां च विज्ञानं तद्‌गदप्रतिषेधनम्।
प्रतिश्यायनिषेधश्च शिरोगदविवेचनम् ॥३४॥
चिकित्सा तद्‌गदानां च शालाक्यं तन्त्रमुच्यते।
नवग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्य च निषेधनम् ॥३५॥
अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक्।
पूतनायास्तथाऽन्धायाः शीतपूतनमण्डिका ॥३६॥
नैगमेषचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा।
कुमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम् ॥३७॥

शल्य तन्त्र का प्रतिपादन करके अर्थवशात् उत्तर तन्त्र को कहते हैं।

इसके आगे अपने (उत्तर) नाम से ही उत्तर तन्त्र कहते हैं। व्रण के उपद्रव ज्वर आदि को बताने के लिये इस तन्त्र को कहते हैं। इस उत्तर तन्त्र के प्रथम अध्याय में कहे हुए उपद्रवों का तथा दुःसाध्य एवं अपरिसंख्येय आँख आदि के रोगों का वर्णन होने से इसके प्रथम अध्याय को 'औपद्रविक' कहते हैं॥

सन्धि, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण, सर्वगत, और दृष्टिगत रोगों को बताने के लिये प्रत्येक के लिये पृथक् पृथक् अध्याय कहे हैं। इस प्रकार से छः अध्याय हैं। सातवां चिकित्सा प्रविभागीय, वाताभिष्यन्द, पित्ताभिष्यन्द, कफाभिष्यन्द, रक्ताभिष्यन्द, लेख्यरोग प्रतिषेध, भेद्यरोग प्रतिषेध, छेद्यरोग प्रतिषेध, यक्ष्मकोप प्रतिषेध, दृष्टिगत रोग प्रतिषेध, क्रियाकल्पोपक्रम, नयनाभिघात प्रतिषेध, कर्णगतरोग विज्ञानीय, कर्णगतरोग प्रतिषेध, नासिकागत रोग प्रतिषेध, प्रतिश्याय प्रतिषेध, शिरोरोग विज्ञानीय, शिरोरोग प्रतिषेध, इनका शालाक्य तन्त्र में समावेश होता है।

कुमार तंत्र—नवग्रहाकृति विज्ञानीय, स्कन्दग्रह प्रतिषेध, स्कन्दापस्मारप्रतिषेध, शकुनि प्रतिषेध, रेवती प्रतिषेध, पूतना प्रतिषेध, अन्ध पूतना प्रतिषेध, शीत पूतना प्रतिषेध, मुखमण्डिका प्रतिषेध, नैगमेष प्रतिषेध, ग्रहोत्पत्ति, योनिव्यापत्प्रतिषेध—इसका तथा शरीर स्थान में कहे (रजःशुद्धि और गर्भावक्रान्ति) को कुमारतंत्र कहते हैं।

वि०—मन्तव्य—उक्त १२० अध्यायों में जो अनेक स्थलों पर बार-बार कहा गया है कि 'अन्य अर्थों (विषयों) को उत्तर तन्त्र में कहा जायगा'। उनका वर्णन किया गया है। और उसमें उपद्रव अर्थात् दोष विकृति = दोष वैषम्य से उत्पन्न तथा भूतावेश से उत्पन्न उपद्रवों = बाधाओं—रोगों का वर्णन किया गया है। कुमार तन्त्र कौमार भृत्य का नामान्तर है। शारीर स्थान के गर्भिणी व्याकरण नामक (१० वें) अध्याय में कौमार भृत्य का बहुत सा विषय लिखा गया है ॥२९-३७॥

ज्वरातिसारशोषाणां गुल्महृद्रोगिणामपि।
पाण्डूनां रक्तपित्तस्य मूर्च्छायाः पानजाश्च ये ॥३८॥
तृष्णायाश्छर्दिहिक्कानां निषेधः श्वासकासयोः।
स्वरभेदचिकित्सा च क्रम्युदावर्तिनोः पृथक् ॥३९॥
विसूचिकारोचकयोर्मूत्राघातविकृच्छ्रयोः।
इति कायचिकित्सायाः शेषमत्र प्रकीर्तितम् ॥४०॥

कायचिकित्सा के अध्याय—

ज्वर, अतिसार, शोष, गुल्म, हृदयरोग, पाण्डु, रक्तपित्त, मूर्च्छा, पानात्ययप्रतिषेध, तृष्णा, छर्दि, हिक्का, श्वास, कास, स्वरभेद, कृमि, उदावर्त्त, विसूचिका, अरोचक, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, ये इक्कीस कायचिकित्सा के शेष रोग इस उत्तरतंत्र में कह दिये हैं ॥३८-४०॥

अमानुषनिषेधश्च तथाऽपस्मारिकोऽपरः।
उन्मादप्रतिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते ॥४१॥

भूतविद्या—अमानुषीय रोग प्रतिषेध, अपस्मार, उन्माद रोग प्रतिषेध, इन तीन अध्यायों को अपस्मार, कहते हैं ॥४१॥

रसभेदाः स्वस्थवृत्तं युक्तयस्तान्त्रिकाश्च याः ।
दोषभेदा इति ज्ञेया अध्यायास्तन्त्रभूषणाः ॥४२॥

तन्त्र भूषण अध्यायों को कहते हैं—

रस भेद कल्प, स्वस्थवृत्त, तन्त्रयुक्तियाँ, दोषभेदकल्प—ये चार अध्याय शास्त्र के अलंकार हैं। इन से शास्त्र की प्रतिष्ठा है। (तंत्रयुक्तियाँ चरक कौटिल्य आदि सब में एक समान ही प्रायः दी हैं) ॥४२॥

श्रेष्ठत्वादुत्तरं ह्येतत्तन्त्रमाहुर्महर्षयः ।
बह्वर्थसंग्रहाच्छ्रेष्ठमुत्तरं चाऽपि पश्चिमम् ॥४३॥
शालाक्यतन्त्रं कौमारं चिकित्सा कायिकी च या ।
भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे तूत्तरसंज्ञिते ॥४४॥
वाजीकरं चिकित्सासु रसायनविधिस्तथा ।
विषतन्त्रं पुनः कल्पाः शल्यज्ञानं समन्ततः ॥४५॥
इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम् ।
विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा भुवि ॥४६॥

उत्तरतंत्र के नाम का कारण—

महर्षि लोग इस तंत्र को श्रेष्ठ होने से उत्तरतंत्र कहते हैं। इसमें शालाक्य, कुमार, कायचिकित्सा, भूतविद्या आदि बहुत से अर्थों का संग्रह होने से यह श्रेष्ठतंत्र है, पश्चिम (अन्तिम) होने से भी इस तंत्र को उत्तरतंत्र कहते हैं।

उत्तर तंत्र में कहे शालाक्य, कौमार, कायचिकित्सा, भूतविद्या, ये चार चिकित्सायें, वाजीकरण चिकित्सा, रसायन विधि, कल्पस्थानोक्त विष तंत्र; ये तीन प्रथम कहे शल्य तंत्र में सब तंत्रों में शल्य ज्ञान, यह आठ अंगोंवाला तंत्र धन्वन्तरि द्वारा प्रकाशित हुआ है। इस आठों अंगोंवाले तंत्र को विधिपूर्वक पढ़कर प्रयोग करता हुआ मनुष्य पृथिवी पर 'प्राणाभिसर' प्राणों को देनेवाला कहलाता है। चरक में कहा है—

(प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणाम् ।
रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानाम् ।) ॥४३-४६॥

एतद्ध्यवश्यमध्येयम्, अधीत्य च कर्माप्यवश्यमुपासितव्यम्, उभयज्ञो हि भिषग् राजार्हो भवति ॥४७॥

यह तंत्र अवश्य ही पढ़ना चाहिये; और पढ़कर कर्म में अवश्य इसका अभ्यास करना चाहिये। दोनों कार्यों को जाननेवाला वैद्य राजा से पूजित होता है ॥४७॥

भवन्ति चात्र—

यस्तु केवलशास्त्रज्ञः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥४८॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चर्च्छति राजतः ॥४९॥
उभावेतावनिपुणावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवेदधरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥५०॥

'वधं चर्च्छति राजतः' के स्थान में 'वधं चार्हति राजतः' पाठ अधिक उपयुक्त एवं संगत है।

कहा भी है—(यह शास्त्र की रीति है) गद्य के पीछे श्लोक से आरम्भ होता है जो मनुष्य-वैद्य केवल शास्त्र को ही जानता है, और कर्मों के विषय में अशिक्षित है; वह वैद्य रोगी को देखकर उसी प्रकार से घबरा जाता है, जिस प्रकार कि डरपोक आदमी संग्राम में पहुँचकर डर जाता है। और जो वैद्य कर्मों के विषय में भली प्रकार शिक्षित है और शास्त्र से बाहर है, धृष्टता के कारण जिसने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया, वह वैद्य सज्जनों में पूजित नहीं होता, अपितु राजाद्वारा वध किये जाने योग्य है। ये दोनों प्रकार के व्यक्ति अशिक्षित, अपने कार्य करने में असमर्थ, आधे ज्ञान को धारण करनेवाले-एक पाँखवाले पक्षी के समान हैं। जिस प्रकार कि एक पंख का पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार ये भी काम नहीं कर सकते ॥४८-५०॥

ओषध्योऽमृतकल्पास्तु शस्त्राशनिविषोपमा ।
भवन्त्यज्ञैरुपहृतास्तस्मादेतान् विवर्जयेत् ॥५१॥

प्र०—किस कारणसे राजा द्वारा वध किया जाने योग्य है?

उत्तर—अमृत के समान प्रभाव करनेवाली औषधियाँ मूढ़ मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त की जाने पर शस्त्र, बिजली और विष के समान प्रभाव करती हैं। इसलिये इन ऊपर कहे मूढ़ वैद्यों का त्याग करना चाहिये[1] ॥५१॥

स्नेहादिष्वनभिज्ञो यश्छेद्यादिषु च कर्मसु ।
स निहन्ति जनं लोभात् कुवैद्यो नृपदोषतः ॥५२॥

और जो वैद्य स्नेहादि कार्यों में तथा छेद्य आदि कर्मों में (शल्यतंत्र तथा कायचिकित्सा में—आठों में यही मुख्य है) अनभिज्ञ हैं, वे कुत्सित वैद्य राजा के प्रमाद के कारण लोभ वश से मनुष्य को मार देते हैं। (इसी से आगे कहेंगे कि राजा की आज्ञा से चिकित्सा कर्म करना चाहिये) ॥५२॥

यस्तूभयज्ञो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥५३॥

जो वैद्य शास्त्र एवं कर्म दोनों को जानता है तथा ऊहापोह ज्ञानवाला है, वह आरोग्य करने में समर्थ है, जिस प्रकार कि संग्राम में दोनों पहियोंवाला रथ कार्य करने में समर्थ रहता है ॥५३॥

अथ वत्स! तदेतदध्येयं यथा तथोपधारय मया प्रोच्यमानम्··अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाऽव्याकुलायोपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरुपदिशेत्

१ चरक में--श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः । वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि ॥ (२) योगादपि विषं तीक्ष्णमुत्तमं भेषजं भवेत् । भेषजं चापि दुर्युक्तं तीक्ष्णं संपद्यते विषम् ॥ चरक-सूत्र-अ० १

पदं पादं श्लोकं वा, ते च पदपादश्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेयाः, एवमेकैकशो घटयेदात्मना चानुपठेत्, अद्रुतमविलम्बितमविशङ्कितमननुनासिकं सुव्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमक्षिभ्रुवौष्ठहस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत्। न चान्तरेण कश्चिद् व्रजेत् तयोरधीयानयोः ॥५४॥

हे वत्स ! यह आयुर्वेद जिस प्रकार पढ़ना चाहिये वह मुझसे कहा हुआ सुनो। नैत्यिक कार्य करके पवित्र होने पर उत्तरीय वस्त्र धारण करके एकाग्रचित्त से अभिवादन करके अध्ययन काल के उपस्थित होने पर शिष्य के लिये गुरु यथाशक्ति (शिष्य की उत्तम, मध्यम अवर बुद्धि से) पद, (सुप् तिङन्त) पाद (श्लोक का एक चरण) अथवा श्लोक का (चारों चरण) पढ़ाये और ये पद, पाद श्लोक फिर बार-बार क्रम से घटित करे शिष्य को समझाये।

पाठ करने की विधि—नतो बहुत जल्दी, न बहुत रुक रुक कर, बिना भय के, बिना नासिका स्वर के, साफ अक्षर (उच्चारणों) से, वर्ण को बिना खाये (दबाये), आँख, भ्रू, ओठ, हाथों को बिना चलाये-नचाये, साफ मधुर आवाज से, न बहुत ऊँचे न बहुत नीचे-मध्यम स्वर से पाठ करे। पढ़ते हुए गुरु शिष्य के बीच में कोई न आये ॥५४॥

(चरक में-यह विधि विस्तार से दी है[1])

भवतश्चात्र—

शुचिर्गुरुपरो दक्षस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः।
पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥५५॥

कहा भी है—

बाह्य और अन्दर की पवित्रता से, गुरु के कार्य में तत्पर चतुर, आलस्य रहित होकर इस विधि से जो शिष्य पढ़ता है, वह इस शास्त्र की समाप्ति तक पहुँचता है ॥५५॥

वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे।
तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः ॥५६॥

अतिस्पष्ट वाणी के, अर्थज्ञान के, धृष्टता, उत्साह, कर्मनिपुणता, कर्म के अभ्यास में, तथा वाञ्छित अर्थ की सिद्धि में यत्न करता रहे।

वि० मन्तव्य—पढ़ने के अन्त में प्रतिदिन वाणी की सुष्ठुता = वाक्योच्चारण की सुन्दरता में, अर्थों को विशेषरूप से जानने में, प्रतिभा (नवीन २ सूझ) की प्राप्ति में, चिकित्सा विषयक कार्य कौशल में, शास्त्राभ्यास में या उक्त कार्यों के अभ्यास (बार २ करने) में तथा सिद्धि (सफलता) के पूर्ण करने में प्रयत्न करे—करता रहे ॥५६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽध्ययनसंप्रदानीयो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

अथातः प्रभाषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

पढ़े हुए शास्त्र को फिर अर्थ रूप में व्याख्यान करने का नाम 'प्रभाषण' है। उसी प्रभाषणीय अध्याय को कहते हैं, जैसा कि भगवान धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था ॥१,२॥

अधिगतमप्यध्ययनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य चन्दनभार इव केवलं परिश्रमकरं भवति ॥३॥

पढ़ा हुआ शास्त्र यदि अर्थ पूर्वक जाना न जाये, तो वह गधे के चन्दन के बोझ के समान केवल निरर्थक (परिश्रमकारक) होता है ॥३॥

भवति चात्र—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥

कहा भी है—

जिस प्रकार गधा केवल चन्दन बोझ को उठानेवाला होता है, वह चन्दन की सुगन्ध को नहीं जानता, इसी प्रकार जो शिष्य बहुत से शास्त्रों को केवल पढ़ लेते हैं, अर्थ को नहीं समझते, वे केवल बोझ को उठानेवाले होते हैं ॥४॥

तस्मात् सविंशमध्यायशतमनुपदपादश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च, कस्मात् ? सूक्ष्मा हि द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकदोषधातुमलाशयमर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिगर्भसंभवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्टशल्योद्धरणव्रणविनिश्चयभग्नविकल्पाः साध्ययाप्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेवमादयश्चान्ये विशेषाः सहस्रशो ये विचिन्त्यमाना विमलविपुलबुद्धेरपि बुद्धिमाकुलीकुर्युः, किं पुनरल्पबुद्धेः ? तस्मादवश्यमनुपदपादश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यं च ॥५॥

इसीलिए उत्तरतन्त्र के साथ एक सौ बीस अध्याय पद-पद, पाद-पाद, श्लोक-श्लोक करके आचार्य को व्याख्यान करना चाहिये शिष्य को सुनना चाहिये। क्योंकि—द्रव्य (स्थावरादि), रस (मधुरादि), गुण (गुर्वादि), वीर्य (शीत-उष्ण), विपाक (मधुरादि), दोष (वातादि), धातु (रसादि), मल (स्वेदादि),आशय (कोष्ठादि), मर्म, शिरा, स्नायु, सन्धि,

---

[1] यथा—अध्ययनविधिः—कल्यः कृतक्षणः प्रातरुत्थायोपव्युषं वा कृत्वाऽऽवश्यकमुपास्य उपस्पृश्योदकं देवर्षिगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे सुखोपविष्टः मनःपुरःसराभिर्वाग्भिः सूत्रमनुक्रामन् पुनः पुनरावर्त्तयेद् बुद्ध्या सम्यगनुप्रविश्यार्थतत्त्वं स्वदोषपरिहारार्थं परदोषप्रमाणार्थं च। एवं मध्यंदिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वद् अपरिहापयन्नध्ययनमभ्यस्येत्। चरक वि० अ० ८।

अस्थि, गर्भोत्पत्ति के कारण द्रव्य (शुक्र-शोणित) समूहों का विभाग, इसी प्रकार-त्वचादि में छिपे शल्य का निकालना, वातादि के भेद से व्रण का निश्चय, भग्न के भेद (अनेक प्रकार के), रोगों का साध्य, याप्य, और असाध्य भेद आदि की दृष्टि से हजारों प्रकार के भेद बन जाते हैं। इन भेदों का चिन्तन ज्ञान बहुत विशाल बुद्धिवाले मनुष्य की बुद्धि को भी विचलित कर देता है, फिर अल्प बुद्धिवाले मनुष्य का क्या कहना ? इसलिये आचार्य को अवश्य ही एक-एक पद, पाद और श्लोक की व्याख्या भली प्रकार करनी चाहिये, और शिष्य को सुननी चाहिये ॥५॥

अन्यशास्त्रोपपन्नानां चार्थानामिहोपनीतानामर्थवशात्तेषां तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्यं, कस्मात् ? न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोधः कर्तुम् ॥

प्रयोजन वश जो व्याकरण, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, ज्यौतिष शास्त्र आदि यहाँ इस शास्त्र में आये हैं—उन शास्त्रों को उन शास्त्रों के ज्ञाताओं से समझना और सुनना चाहिये। क्योंकि—एक ही शास्त्र में सब शास्त्रों का समावेश करना असम्भव है ॥६॥

भवति चात्र—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।
तस्माद्बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥७॥

कहा भी है—एक ही शास्त्र को पढ़नेवाला व्यक्ति शास्त्र के निश्चय को नहीं जान सकता। इसलिये जिसने बहुत से शास्त्र पढ़े हों वही चिकित्सक शास्त्र को समझ सकता है ॥७॥

शास्त्रं गुरुमुखोद्‌गीर्णमादायोपास्य चासकृत् ।
यः कर्म कुरुते वैद्यः स वैद्योऽन्ये तु तस्कराः ॥८॥

गुरु के मुख से उपदेश किये शास्त्र को ग्रहण करके, पाठ एवं अर्थ द्वारा बार-बार अभ्यास करके जो वैद्य कर्म करता है वह वैद्य है, शेष सब चोर हैं[१] ॥८॥

औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् ।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥९॥

गूढ़ार्थ को समझने के लिये जिन तन्त्रों को समझना चाहिये उनको व्याज से कहते हैं। औपधेनव, औरभ्र, सुश्रुत, पौष्कल, करवीर्य, गोपुररक्षित आदि शेष शल्य तन्त्रों में यही तन्त्र प्रधान है ॥९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रभाषणीयो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

---

१ ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्मकोविदाः ।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्यो नित्यं कृतं नमः ॥ चरक ।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातोऽग्रोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे यन्त्रादि के सम्भार को बताने के लिये 'अग्रोपहरणीय' नामक अध्याय कहते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था ॥१,२॥

त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मेति; तद्व्याधिं प्रति उपदेक्ष्यामः ॥३॥

कर्म तीन प्रकार का है—पूर्व कर्म (शस्त्रावचरण से पूर्व), प्रधान कर्म (शस्त्र कर्म) और पश्चात्कर्म (शस्त्रावचरण के पीछे का कर्म), इन कर्मों का उपदेश प्रत्येक व्याधि में करेंगे, यहाँ पर विस्तारभय से नहीं कहा[१] ।

वि० मन्तव्य—कर्म—छेदन आदि शस्त्रकर्म तथा वमन-विरेचन आदि काय-चिकित्सा का नाम है। प्रधान कर्म के पूर्व जो उपचार किये जाते हैं ये 'पूर्वकर्म' तथा पश्चात् (पीछे) जो उपचार किये जाते हैं वे 'पश्चात्कर्म' कहे जाते हैं।

सम्भार (सामग्री) अर्थात् चिकित्सा कर्म में उपयोगी या आवश्यक सहायक वस्तुएँ। परिकर्मी—चिकित्सक के सहायक, इधर उधर का सब काम करनेवाले, कर्मचारी ॥३॥

अस्मिंस्तु शास्त्रे शस्त्रकर्मप्राधान्याच्छस्त्रकर्मैव तावत् पूर्वमुपदेक्ष्यामस्तत्सम्भारांश्च ॥४॥

इस शास्त्र में शस्त्र कर्म की प्रधानता है। इसलिये सबसे प्रथम शस्त्र कर्म को तथा इसके द्रव्य सम्भारों कहते हैं ॥४॥

तच्च शस्त्रकर्माष्टविधं; तद्यथा—छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यम् , एष्यम् , आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति ॥५॥

यह शस्त्र कर्म आठ प्रकार का है। यथा—छेद्य (भगन्दर आदि का दो करना), भेद्य (विद्रधि आदि का विदारना), लेख्य (उपजिह्विका आदि का लेखन), वेध्य (छोटे मुखवाले शस्त्रों से वेंधना-शिरा आदि में छेद करना), एष्य (शलाका आदि से नाड़ी व्रण आदि का ढूँढ़ना), आहार्य (दन्त आदि का निकालना), विस्राव्य (विद्रधि आदि में जलौका आदि से खून बहाना), सीव्य (पद्मकोप आदि में सीना)। वाग्भट ने—उत्पाटन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दाहन कर्म

---

१ कई आचार्य इसका यह अर्थ करते हैं—

'लंघनादि विरेकान्तं पूर्वकर्म व्रणस्य च। पाचनं रोपणं यच्च प्रधानं कर्म तत्स्मृतम् । बलवर्णाग्निकार्यं तु पश्चात्कर्म समादिशेत् ॥

अधिक माने हैं। चरक ने शस्त्र कर्म छै प्रकार का माना है। यथा–पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा। प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥५॥

अतोऽन्यतमं कर्म चिकीर्षता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि भवन्ति। तद्यथा—यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निशलाकाशृङ्गजलौकालाबूजाम्बवौष्ठपिचुप्रो(सो)तसूत्रपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकषायालेपनकल्कव्यजनशीतोष्णोदककटाहादीनि, परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तश्च।

पूर्वकर्म—इन आठों में से कोई एक भी कार्य करने से पूर्व वैद्य की निम्न वस्तुएँ तैयार कर लेनी चाहिये। यथा—यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृङ्ग, जौंक, अलाबू, जाम्बवौष्ठ (जामुन के समान मुखवाला लौह से बना यन्त्र जलाने के लिये), पिचु (रूई का पोया), प्रोत (कपड़े का टुकड़ा), सूत्र (धागे) पत्र (केले-एरण्ड आदि के), पट्ट (रेशमी वस्त्र-पट्टियाँ); शहद, घी, वसा, दूध, तैल, तर्पण (तृप्तिकारक अन्न सक्तु दूध), कषाय (व्रण शोधनादि द्रव्य कृत क्वाथ) आलेपन (प्रलेप), कल्क (क्षत में लगाने लायक लेप), पंखा, ठण्डा-गरम पानी, कड़ाही आदि लोहे के बने पात्र, सब कर्मों को करनेवाले स्निग्ध-अनुरक्त, दृढ़ एवं बलवान् परिचारक तैयार कर लेने चाहिये। (चरक में भी उपकल्पनीय अध्याय में समारम्भ एकत्रित करने का विधान है) ॥६॥

ततः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु दध्यक्षतान्नपानरत्नैरग्निं विप्रान् भिषजश्चार्चयित्वा, कृतबलिमङ्गलस्वस्तिवाचनं लघु भुक्तवन्तं प्राङ्मुखमातुरमुपवेश्य, यंत्रयित्वा, प्राङ्मुखो वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन्, अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात्, सकृदेवापहरेच्छस्त्रमाशु च, महत्स्वपि च पाकेषु द्व्यंगुलान्तरं त्र्यङ्गुलान्तरं वा शस्त्रपदमुक्तम् ॥७॥

प्रधानकर्म—इसके पश्चात् श्रेष्ठ तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र में दधि, अक्षत, खान-पान, रत्नों से अग्नि, ब्राह्मणों और वैद्यों की पूजा करके, बलि (पूजोपहार), मंगल (गीतादि), स्वस्तिवाचन (आशीर्वाद उच्चारण) करके, रोगी को थोड़ा सा अन्न खिलाकर, रोगी का मुख पूर्व दिशा में रखते हुए बिठाये। रोगी को भली प्रकार बाँध दे जिससे हिले नहीं। फिर वैद्य पश्चिम की ओर मुख करके—सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि और धमनी को बचाकर लोगों के अनुकूल यथायोग्य शस्त्र को पूय (पीब) के निकलने तक गहरा चलाये। शस्त्र को एक बार ही और शीघ्रता से चलाना चाहिये। बहुत बड़े पाक में भी दो अंगुल या तीन अंगुल तक परिमित लम्बा शस्त्र का घाव करना चाहिये। घाव की गम्भीरता व्रण की अपेक्षा से है। अरुणदत्त का कहना है कि दो या तीन अंगुल के बीच[1] में दूसरा व्रण नहीं करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यन्त्रयित्वा—रोगी को बाँधकर या आप्त जनों से पकड़ाकर शस्त्रकर्म करने का विधान क्रियासौकर्य के लिये है, परन्तु आजकल—यह कार्य—क्लोरोफार्म सुंघाकर कर लिया जाता है। व्रण का अर्थ है घाव—चीरा। उत्सङ्ग-व्रण के भीतर का कोटर जिसको पूय बना लेता है—जहाँतक उत्सङ्ग होता है व्रण किया जाता है या करना चाहिये। बड़े-बड़े पाकों में २ अथवा ३ अंगुल के अन्तर अर्थात् दूरी पर एक से अधिक व्रण भी किये जाते हैं। यह व्रण-शोथों में चीरा लगाने की विधि है ॥७॥

तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो।
निराश्रय इति व्रणगुणाः ॥८॥

व्रणकर्म में व्रण की प्रशस्त आकृति—आयत (दीर्घ) विशाल (विस्तीर्ण), सम (विषम नहीं बराबर), सुविभक्त भली प्रकार से सब अवयव पृथक् हो गये हों, निराश्रय—ये व्रण के गुण हैं। निराश्रय का अर्थ-पूय के लिये कोई कोटर न रह जाय।

वि० मन्तव्य—व्रण-शोथ में ऐसा व्रण अर्थात् घाव करे जो आयत अर्थात् चौड़ा हो जिससे भीतरी समस्त दोष-विकार पूय निकल जा सके। विशाल अर्थात् लम्बा व्रण करे अर्थात् जहाँतक उत्सङ्ग-कोटर हो, जिससे वहाँतक लेपौषध एवं कवलिका लगायी-पहुँचायी जा सके। सुविभक्त-जिसमें चीरा लगाते ही या शस्त्र निकालने पर मुखरोध न हो जाय। निराश्रय-व्रण शोथोत्पादक दोष के आश्रय को समूल निकाल देना चाहिये। यह व्रण के गुण (सद्गुण) हैं अर्थात् इस प्रकार से व्रण करना चाहिये। अन्यथा बार-बार व्रण करने की आवश्यकता पड़ सकती है। पड़ जाती है ॥८॥

भवतश्चात्र—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥९॥

कहा भी है—

आयत, दीर्घ, विशाल, निम्नोन्नतरहित, भलीप्रकार अलग हुआ, अंगुली द्वारा सम्पूर्ण पूय निकल जाने से निराश्रय; प्राप्त काल (ठीक समय पर-कच्चे व्रण में न किया) हुआ व्रण शस्त्रकर्म में प्रशस्त होता है।

---

१ यहाँ पर अन्तर शब्द विचारणीय है, इसका अर्थ यदि चौड़ाई में किया जाय तो ठीक है। दो या तीन अंगुल चौड़ा व्रण करे, क्योंकि लम्बा व्रण देर में भरता है यह मान्यता ठीक नहीं। पेट के शल्यकर्म में आठ अंगुल लम्बा शस्त्रकर्म करना होता है।

वि० मन्तव्य—'प्राप्तकालकृतः' अर्थात् व्रण करने—चीरा लगाने का काल—समय प्राप्त होनेपर किया गया व्रण प्रशस्त होता है, पूर्व अथवा पश्चात् नहीं। तात्पर्य यह है कि आम शोफ में व्रण करना भी बुरा है और पक्व शोफ में व्रण न करना भी बुरा है ॥९॥

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथू।
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ॥१०॥

वैद्य के गुण—

शौर्य (उत्साह, निडरपन) आशुक्रिया (लघुहस्तता) रोगी को अधिक देर नहीं लगती; शस्त्रतैक्ष्ण्य (शस्त्र का तेज एवं धार उत्तम होना), पसीने का न आना, और न काँपना, असंमूढता—ये वैद्य के गुण शस्त्रकर्म में प्रशस्त हैं। कायचिकित्सा में इन गुणों की इतनी जरूरत नहीं ॥१०॥

एकेन वा व्रणेनाशुध्यमानेनाऽन्तरा बुद्ध्याऽवेद्यापरान् व्रणान् कुर्यात् ॥११॥

यदि एक व्रण से घाव पूर्णरूप में साफ न हो तो मनुष्य को चाहिये कि बुद्धि से विचारकर दूसरे व्रणों को बीच में बना दे ॥११॥

भवति चात्र—

यतो यतो गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च।
तत्र तत्र व्रणं कुर्याद्यथा दोषो न तिष्ठति ॥१२॥

कहा भी है—

व्रण में जिस स्थान पर पूय की गति को देखे, और जहाँ-पूय के संचित होने से उन्नत प्रदेश दिखाई दे, उन उन स्थानों पर व्रण कर देना चाहिये, जिससे कि व्रण में पूय दोष संचित न रहने पाये, बाहर आ जाये। (यहाँ पर दोष शब्द पूय के लिये है) ॥१२॥

तत्र भ्रूगण्डशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेष्टकक्षाकुक्षिवङ्क्षणेषु तिर्यक् छेद उक्तः ॥१३॥

भ्रू, गण्डस्थल, शंख प्रदेश, ललाट, अक्षिवर्त्म (पलक), दन्तवेष्ट (मसूड़े), कक्षा (बाहुमूल), कुक्षि (उदर), वंक्षण (ऊरुसन्धि) इन स्थानों में तिरछा छेदन करना चाहिये १३

चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत्।
अर्धचन्द्राकृतींश्चापि गुदे मेढ्रे च बुद्धिमान् ॥१४॥

पाँव एवं हाथ के तन्तुओं में चन्द्रमण्डल के समान (चन्द्राकार) गोल छेदन करना चाहिये (अंगुलियों की जड़ों में धमनियों का चक्र बनता है।) बुद्धिमान् मनुष्य गुद और मेढ्र प्रदेश में भी अर्धचन्द्राकार छेदन करे। शेष स्थानों में सीधा छेदन करना चाहिये ॥१४॥

अन्यथा तु सिरास्नायुच्छेदनम , अतिमात्रं वेदना, चिराद् व्रणसंरोहो, मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति ॥१५॥

उपर्युक्त विधि के अनुसार छेदन न करने से सिरास्नायु धमनी आदि कट जाती है, बहुत पीड़ा होती है, 'और व्रण भी देर में भरता है ॥१५॥

मूढगर्भोदराऽर्शोऽश्मरीभगन्दरमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत ॥१६॥

निम्न रोगों में रोगी को बिना खिलाये शस्त्रकर्म करना चाहिए—

मूढ़गर्भ, उदररोग, अर्श, अश्मरी, भगन्दर, रोग में बिना खिलाये शस्त्रकर्म करना चाहिये। क्योंकि खिलाकर कर्म करने से वायु का कोप तथा यन्त्र आदि के चलाने में कठिनता होती है। मुख रोग में भी बिना खिलाये शस्त्रकर्म करना चाहिये। खिलाकर करने से वमन आदि होता है। कोई कोई अर्श, अश्मरी, और भगन्दर इनका पाठ यहाँ ठीक नहीं मानते क्योंकि इनमें भोजन कराकर शस्त्रकर्म किया जाता है ॥१६॥

ततः शस्त्रमवचार्य, शीताभिरद्भिरातुरमाश्वास्य समन्तात् परिपीड्याङ्गुल्या, व्रणमभिमृद्य (ज्य), प्रक्षाल्य कषायेण, प्रो(सो)तेनोदकमादाय, तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढामौषधयुक्तां नातिस्निग्धां नातिरूक्षां वर्तिं प्रणिदध्यात्; ततः कल्केनाच्छाद्य, घनां कवलिकां दत्त्वा, वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्, वेदनारक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेत्, रक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत ॥१७॥

पश्चात्कर्म—शस्त्रकर्म के पश्चात् शस्त्र को निकालकर शीतल जल से रोगी का स्वेद आदि दूर करके उसे सान्त्वना देते हुए चारों ओर से व्रण को अङ्गुलि द्वारा भली प्रकार दबाकर (पूय निकालकर) क्वाथ से व्रण को धोये। फिर प्लोत द्वारा व्रण का पानी सुखाकर तिलपिष्ट, शहद, घी, एवं मिश्रक अध्यायोक्त अजशृङ्गी आदि औषधियों से लिप्त, न बहुत स्निग्ध एवं न बहुत रूक्ष वर्त्ति व्रण में रखकर कल्क से व्रणको ढापकर मोटी (सान्द्र-जिसमें हवा न जा सके), कवलिका (गद्दी) रखकर पट्टी बाँध देनी चाहिए। वेदना नाशक, रक्षोघ्न धूपोंसे व्रण का धूपन करना चाहिए, तथा रक्षोघ्न मंत्रों से व्रण की रक्षा करनी चाहिए। व्रण संक्रमित न हो इस बात का ध्यान रखना चाहिए[२]। (तिलकल्कमधुसर्पिःप्रगाढां वर्त्ति प्रणिधाय पत्रेणाच्छाद्य कवलिकां दत्त्वा बन्धनेनोपपादयेत्-यह भी पाठ है)

१ स्निग्धमुष्णम्, अल्पम् अन्नं द्रवप्रायं भुक्तवन्तं इति अर्शोऽधिकारे तत्रनिलप्रशमनार्थवचनं तु तथा भोजनं दर्शयतीति च विरोधः।

२ पट्टी कवलिका आदि सबको धूपन द्वारा संक्रमण रहित कर लेना चाहिये। जैसा कि वाग्भट्ट में कहा है—

शुचिरूक्ष्मा दृढाः पट्टाः कवलाः सविकेशिकाः।
धूपिता मृदवः श्लक्ष्णाः निर्वलीका व्रणे हिताः ॥

भानुमतीवाली निर्णय सागर की पुस्तक में—पत्रेणाच्छाद्य के स्थान पर कल्केनाच्छाद्य पाठ है ॥१७॥

ततो गुग्गुल्वगुरुसर्जरसवचागौरसर्षपचूर्णैर्लवणनिम्बपत्रविमिश्रैराज्ययुक्तैर्धूपयेत्, आज्यशेषेण चास्य प्राणान् समालभेत ॥१८॥

उदकुम्भाच्चापो गृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म कुर्यात्, तद्वदयामः—॥१९॥

धूपन द्रव्य—इसके अनन्तर, गुग्गुलु, अगर, राल, बच, श्वेत सरसों, सैन्धानमक, नीम के पत्ते इनको मिलाकर घी के साथ धूपन करना चाहिये। धूपन कार्य से बचे घी आदि द्रव्य से रोगी के मर्म स्थानों को मलना चाहिये, इससे रोगी में जान आती है। घड़े में से हाथ में पानी लेकर रोगी का परिमार्जन करते २ रक्षा कर्म[1] करना चाहिये ॥१८,१९॥

कृत्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।
रक्षाकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तदनुमन्यताम् ॥२०॥
नागाः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यक्षराक्षसाः ।
अभिद्रवन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या घ्नन्तु तान् सदा॥२१॥
पृथिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निशाचराः ।
दिक्षु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥२२॥
पान्तु त्वां मुनयो ब्राह्मचा दिव्या राजर्षयस्तथा ।
पर्वताश्चैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः॥२३॥
अग्नी रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च ।
सोमो व्यानमपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥२४॥
उदानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्नवः ।
बलमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥२५॥
कामांस्ते पान्तु गन्धर्वाः सत्त्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।
प्रज्ञां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥२६॥
चक्षुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पान्तु ते मनः ।
नक्षत्राणि सदा रूपं छायां पान्तु निशास्तव ॥२७॥
रेतस्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
आकाशं खानि ते पान्तु देहं तव वसुन्धरा ॥२८॥
वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
पौरुषं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्माऽऽत्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥२९॥

1 रक्षाकर्म—धूपन कार्य से जहाँ व्रण की दुर्गन्धि मिटती है, वहाँ पर कृमि आदि का भी सम्बन्ध नहीं होता! आर्ष ग्रन्थों में कृमि, राक्षस, निशाचर आदि प्रायः वर्त्तमान कालीन germs को ही कहते हैं। क्योंकि इन दोनों के कार्य-भोजन, रहने का स्थान, एवं चिकित्सा एक ही है। अपवित्र वस्तुओं से इनको स्नेह है,पवित्र कार्यों से द्वेष है। इसी से Sterilization या AsePtic कार्य को 'रक्षा कर्म' शास्त्र में कहा है।

एता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
एतास्त्वां सततं पान्तु दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥३०॥
स्वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवाश्च कुर्वताम् ।
(स्वस्ति ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ ॥)
स्वस्त्यग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः॥३१॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्धतां तव ।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥३२॥
इति स्वाहा ॥

रक्षा कर्म को कहते हैं—

कृत्या (अभिचार जनित राक्षसी कर्म)के निवारण के लिये, तथा राक्षसों के भय को दूर करने के लिये रक्षा कर्म करूँगा,— ब्रह्मा इस कर्म का अनुमोदन करें, (सहायता करें)।

जो जो वासुकि आदि नाग, पिशाच (मांस खानेवाले), गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, रावण आदि राक्षस जो जो तुझ व्रणी को पीड़ित करते हैं, उन सबों को ब्रह्मा आदि देवता नष्ट करें।

पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में, दिशाओं में जो जो राक्षस विचरते हैं या घर में रहते हैं, वे सब नमस्कार ग्रहण करके, तुझ व्रणी की रक्षा करें, सब पर्वत, सब नदियाँ और सब सागर तेरी रक्षा करें। अग्नि तेरी जिह्वा की रक्षा करे, वायु तेरे प्राणों की; चन्द्रमा व्यान की, बादल तेरे अपान की रक्षा करें। विद्युत् तेरे उदान की, बादल तेरे समान--वायु की रक्षा करे। बलपति इन्द्र तेरे बल की, मनु-प्रजापति तेरी बुद्धि तथा मन्यों (ग्रीवा के पिछे की दो शिराओं) की रक्षा करे। तेरी इच्छाओं की रक्षा गन्धर्व करें। तेरे सत्त्व (मन) की रक्षा इन्द्र करें; वरुण राजा तेरी प्रज्ञा की; समुद्र नाभिमण्डल की; सूर्य-आँख की; दिशायें कानों की; चन्द्रमा मन की; नक्षत्र तेरे रूप लावण्य की; रात्रियाँ तेरी छाया (समीप से दोखनेवाली छाया) की; जल तेरे शुक्र की; ओषधियाँ लोमों की, आकाश इन्द्रियों की और पृथ्वी शरीर की रक्षा करे। वैश्वानर अग्नि तेरे शिर की; विष्णु तेरे पराक्रम (उत्साह) की; पुरुषोत्तम-नारायण तेरे पौरुष की; ब्रह्मा जीवन की, ध्रुव तारा भ्रुवों की रक्षा करें। ये उपर्युक्त देवता तेरे शरीर में सदा स्थित हैं। ये देवता सदा तेरी रक्षा करें और तुम को दीर्घायु प्रदान करें। भगवान्[1]--विशिष्ट ज्ञानवान् ब्रह्मा तेरे लिये मंगल करे; देवता लोग मंगल करें; चन्द्रमा--सूर्य मंगल करें, नारद एवं पर्वत, अग्नि-वायु कल्याणकारी हों; इन्द्रानुयायी देवता मंगल कारक हों। पितामह--ब्रह्मा द्वारा की हुई रक्षा तेरे लिये मंगलकारी हो एवं आयु को बढ़ाये। ईतियाँ

1 भगवान् का लक्षण—
उत्पत्तिं च विनाशञ्च भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

(सब प्रकार के कष्ट) सदा शान्त हों, तू पीड़ा रहित हो जाये। इति स्वाहा—इस प्रकार से उपरोक्त मंत्रों द्वारा आहुति देनी चाहिये ॥२०-३२॥

एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्याव्याधिविनाशनैः।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥३३॥

इन सब उपर्युक्त कृत्यानाशक वेद मन्त्रों से मुझ द्वारा रक्षा किया हुआ तू दीर्घायु को प्राप्त कर ॥३३॥

ततः कृतरक्षमातुरमागारं प्रवेश्य, आचारिकमादिशेत् ॥

व्रण रोगी की इस उपरोक्त विधि से रक्षा करके रोगी को घर में प्रविष्ट कराके आचारिक कर्म (आहार विहार रूपी व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे) का उपदेश कर देना चाहिये ॥

ततस्तृतीयेऽहनि विमुच्यैवमेव बध्नीयाद् वस्त्रपट्टेन; न चैनं त्वरमाणोऽपरेद्युर्मोक्षयेत्, द्वितीयदिवसे परिमोक्षणाद्विग्रथितो व्रणश्चिरादुपसंरोहति, तीव्ररुजश्च भवति ॥

इसके पश्चात् तीसरे दिन इस व्रण को खोलकर कषाय से धोकर पूर्व की भांति फिर पट्टी से बाँध देना चाहिये। जल्दी की दृष्टि से इस व्रण को दूसरे दिन नहीं खोलना चाहिये। क्योंकि दूसरे दिन व्रण के खोलने से व्रण अंकुरित नहीं होता, गांठ पड़ जाती है, देर में रुजता है और बहुत पीड़ा होती है ॥

अत ऊर्ध्वं दोषकालबलादीनवेक्ष्य कषायालेपनबन्धाहाराचारान् विदध्यात् ॥३६॥

तीसरे दिन के पश्चात् आगे दोष (वात आदि), काल (हेमन्त आदि), बल (हीन-मध्यम, उत्तम)--वयःसात्म्य आदि को देखकर कषाय, लेपन, बन्धन, आहार, आचार (विहार) करना चाहिये ॥३६॥

न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषं रोपयेत्, स ह्यल्पेनाप्यपचारेणाभ्यन्तरमुत्सङ्गं कृत्वा भूयोऽपि विकरोति ॥३७॥

जल्दी के कारण से दोष सहित (पूय को अन्दर रखकर) व्रण का रोपण नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार के व्रण में थोड़ा सा भी विरुद्ध कर्म होने पर यह व्रण अन्दर ही कोटर बनाकर विकार को करता है। मुनि ने शुद्ध व्रण का लक्षण—

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक्।
न चोत्सन्नो न चोत्संगी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥

यह किया है ॥३७॥

भवन्ति चात्र—

तस्मादन्तर्बहिश्चैव सुशुद्धं रोपयेद् व्रणम्।
रूढ़ेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्।
हर्षं क्रोधं भयं चापि यावत् स्थैर्योपसंभवात् ॥३८॥

कहा भी है—

इस लिये अन्दर और बाहर से शुद्ध हुए व्रण का ही रोपण करना चाहिये। व्रण के भर जाने पर भी जब तक व्रण में दृढ़ता न आये तब तक अजीर्ण, व्यायाम, मैथुन, हर्ष, क्रोध, भय आदि का परित्याग करना चाहिये। अष्टांग संग्रह में—

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्।
मासान् षट् सप्त वा नृणां विधिरेष प्रशस्यते ॥३८॥

हेमन्ते शिशिरे चैव वसन्ते चापि मोक्षयेत्।
त्र्यहात् द्व्यहाच्छरद्ग्रीष्मवर्षास्वपि च बुद्धिमान् ॥३९॥

हेमन्त और शिशिर ऋतु में तथा बसन्त में तीसरे दिन पट्टी करनी चाहिये। शरद्, ग्रीष्म और वर्षा में दूसरे दिन, पट्टी करनी चाहिये। क्योंकि हेमन्त आदि में शीघ्र पाक का भय नहीं, ग्रीष्म आदि में भी पैत्तिक व्रण की अवस्था में दूसरे दिन पट्टी बदलनी चाहिये। शरद् ऋतु में पैत्तिक व्रण की अवस्था में दिन में दो बार पट्टी बदलनी चाहिये ॥३९॥

अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक्।
प्रदीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥४०॥

अपवाद--जिन आत्ययिक रोगों में जल्दी का काम हो (पूयस्राव आदि उपद्रव अधिक हों) उन में वैद्य को चाहिये कि वह उपर्युक्त विधि का खूंटा पकड़कर न बैठ जाये। ऐसी अवस्था में जलते हुए घर के समान जल्दी की चिकित्सा करनी चाहिये ॥४०॥

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः।
घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन॥

शस्त्रावचरण के कारण उत्पन्न हुई जो तीव्र वेदना रोगी को कष्ट देती रहती है, वह वेदना मुलहटी के चूर्ण को घी में मिलाकर-थोड़ा गरम करके लगाने से शीघ्र शान्त हो जाती है॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्रोपहरणीयो
नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः।

अथात ऋतुचर्यमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

हेमन्त आदि ऋतुओं में जिस प्रकार का आचरण करना चाहिये, वह कहते हैं; जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१;२॥

कालो हि नाम (भगवान्) स्वयम्भुरनादिमध्यनिधनः। अत्र रसव्यापत्संपत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः, संकलयति कालयति वा भूतानीति कालः ॥३॥

जिस वस्तु के ऋतुएँ अंगभूत हैं, उस काल को कहते हैं— यह प्रसिद्ध काल-भगवान्-स्वयं उत्पन्न हुआ है, किसी ने इसको उत्पन्न नहीं किया; आदि मध्य निधन—विनाश से रहित

है। इस काल के अधीन ही द्रव्यों के रस की सम्पत् या व्यापत् है। मनुष्यों का जीवन एवं मरण भी इसी काल के वश में है। यह थोड़े काल के लिये भी नहीं रुकता, सर्वदा गतिशील रहता है। इसी से इस को काल कहते हैं। अथवा—सब प्राणियों का संहार कर इकट्ठा करता है—इस लिये, अथवा सब भूतों को सुख-दुःख के साथ युक्त करता है, इसलिये इसका काल कहते हैं। अथवा—सब का संक्षेप करता है, सब प्राणियों को मृत्यु के समीप लाता है, इसलिये काल है।

वि० मन्तव्य—यहाँ काल समय का नाम है। वह स्वयम्भू है, स्वभाव सम्भूत है, और अनादि तथा अनन्त है, अतः उसका कोई मध्य भी नहीं हो सकता है। काल के ही प्रभाव से इक्षु, इमली एवं मरिच आदि में मधुर आदि रसों की व्यापत्ति (विकृति) होती है, जैसे जनपदोध्वंस आदि के पूर्व औषधियों के रस, वीर्य, गुण, विपाक तथा प्रभाव विकृत हो जाते हैं। और सम्पत्ति (उचित सम्पादन) होती है जैसे सुकाल में। और मनुष्यों के ही नहीं प्राणिमात्र के जीवन मरण अर्थात् उत्पत्ति विनाश का कारण वही काल है, इतना ही नहीं पार्थिव द्रव्यों के निर्माण का कारण भी काल है। उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल के लिये व्यवधान-उच्छेद नहीं होता, वह भूतों-प्राणियों तथा पृथिवी आदि भूतों का संकलन = संयोग या निर्माण तथा कलन विकलन वियोग या नाश करता है अर्थात् प्राणियों तथा विश्व के उत्पादन एवं विनाश का कारण काल है। सच यह है कि जैसे ईश्वरवादी उक्त सब का कारण ईश्वर को मानते हैं तथा अन्य सम्प्रदायवाले, शिव, विष्णु, शक्ति आदि को मानते हैं वैसे ही कालवादी काल को मानते हैं ॥३॥

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेषेणाक्षिनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्ताहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरयुगप्रविभागं करोति ॥४॥

इस संवत्सर रूप काल के भगवान् आदित्य (चन्द्रमा भी) अपनी गति विशेष से निमेष, काष्ठा, काल, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग का विभाग कर देता है[1]।

वि० मन्तव्य—यद्यपि कला का कोई विभाग नहीं हो सकता और न होता ही है, तथापि भगवान् सूर्य की गति (उदय अस्त तथा उत्तरायण एवं दक्षिणायन और मेषादि राशियों पर संक्रमण आदि) के भेद से काल के निमेष, काष्ठा आदि) विभाग मान लिये जाते हैं ॥४॥

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशाक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशतिकलो मुहूर्तः, कलादशभागश्च त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रं, पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः—शुक्लः कृष्णश्च, तौ मासः ॥५॥

इनमें आकारादि लघु अक्षर के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका नाम निमेष है। पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा; तीस काष्ठा की एक कला; बीस कला और कला का दसवाँ भाग—अर्थात् तीन काष्ठा का-एक मुहूर्त्त; तीस मुहूर्त्त का एक रात दिन, पन्द्रह रात दिन का एक पक्ष; यह पक्ष दो प्रकार के हैं। शुक्ल और कृष्ण—इन दो पक्षों का मास होता है।

वि० मन्यव्य—यह समय-विभाग श्री धन्वन्तरि के मतानुसार है, भले ही ज्योतिःशास्त्र, धर्म शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र के मतानुसार इसमें कुछ भेद क्यों न हों। आयुर्वेद में औषधि के संग्रह, निर्माण तथा सेवन में और वमन विरेचन आदि के विधि निषेध में स्वस्थ वृत्त के नियम पालन आदि में काल—समय का विचार आवश्यक है, अतः इसका ज्ञान भी आवश्यक है।

तत्र माघादयो द्वादश मासाः, द्विमासिकमृतुं कृत्वा षडृतवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति ॥६॥

इन मासों में माघ आदि बारह मास हैं। दो-दो मास के मिलने से छै ऋतुयें बनती हैं। यथा—शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त। इन में—तप (माघ,) तपस्य (फाल्गुन) से शिशिर; मधु—(चैत्र), माधव (वैशाख) से वसन्त; शुचि (ज्येष्ठ) शुक्र (आषाढ़) से ग्रीष्म; नभः (श्रावण) नभस्य (भाद्रपद) से वर्षा; इष (आश्विन) ऊर्ज (कार्त्तिक) से शरद; सह (मार्गशीर्ष) सहस्य (पौष) से हेमन्त ऋतु होती है[1]।

वि० मन्तव्य—सम्भव है सुश्रुतसंहिता के रचना काल में माघ मास से १२ मास गिने जाते हों; जैसे वैदिक काल में शरद् ऋतु से गिने जाते थे। और आज का ज्योतिःशास्त्र वैशाखमास से गिनता है ॥६॥

त एते शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चन्द्रादित्ययोः कालविभागकरत्वादयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भग-

१ बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है "नहि पुरा ततः संवत्सर आस" आनन्दगिरिव्याख्यायाम् पूर्वमिति प्रजापतेरादित्यात्मकत्वाद् तदधीनत्वाच्च संवत्सरव्यवहारस्य, आदित्वात् पूर्वं तद्व्यवहारो नासीद् इत्यर्थः ॥

१ देखिये चरक संहिता सूत्रस्थान अ० ६ सूत्र ४-८॥

वानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते ॥७॥

ये शीत उष्ण, वर्षा रूपी छैः ऋतुयें, चन्द्रमा और सूर्य के द्वारा काल का विभाग होने से दो अयनों में विभक्त हो जाते हैं। यथा-दक्षिणायन और उत्तरायण, इनमें दक्षिणायन वर्षा, शरद्, हेमन्त, इन तीन ऋतुओं से उपलक्षित है। इन वर्षादि ऋतुओं से भगवान् चन्द्रमा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान् होते हैं। सब प्राणियों का बल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उत्तरायण-शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म से उत्तरायण बनता है। इन ऋतुओं में सूर्य का बल उत्तरोत्तर बढ़ता है, तिक्त, कषाय और कटु रस बलवान् होते हैं, सब प्राणियों का बल उत्तरोत्तर घटता जाता है। जैसा चरक में कहा है-नृणां दौर्बल्यमावहन्ति—चरक. सू. अ.।

वि० मन्तव्य—स्थूलरूप से-शीत, उष्ण तथा वर्षा प्रधान-मोटे लक्षण या चिह्न हैं उन ६ ऋतुओं के। यूनानी चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार-१-मौसिमे सरदी २-मौसिमे गर्मी तथा मौसिमे बरसात। यह च० वि० अ० ८ के सूत्र १२७ के हेमन्तो ग्रीष्मो, बर्षाश्चेति।—

चरकसंहिता में दक्षिणायन का नाम "विसर्ग" तथा उत्तरायण का नाम "आदान" है।

भारतवर्ष में उक्त दोनों अयनों का तथा तीनों मौसिमों का प्रभाव अन्य देशों की अपेक्षा अधिक व्यक्त होता है, क्योंकि भूमण्डल पर ऐसे ही देश हैं जहाँ सर्वदा (वर्ष भर या अधिक मासों तक) एक एक मौसिम का प्रभाव रहता है, यथा-शीत कटिबन्ध के रूस आदि देशों में शीत का, उष्ण कटिबन्ध के अफ्रीका आदि देशों में उष्ण का तथा ब्रह्मा, जावा, सुमात्रा आदि देशों में वर्षा का प्रभाव या आधिक्य रहता है। यद्यपि महत्तर भारत में भी ऐसे तीन प्रकार के प्रदेश (प्रान्त) विद्यमान हैं। और यह क्रम पूर्ण रूप से कहीं भी नहीं घटता, तथापि भौगोलिक दृष्टि से सन्तोष जनक आवश्यक है ॥७॥

भवति चात्र—

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ॥८॥

शीतांशु—चन्द्रमा पृथ्वी को गीला-करता है, विवस्वान्-सूर्य पृथ्वी को सुखाता है। चन्द्रमा और सूर्य दोनों का आश्रय करके वायु प्रजा का पालन करती है। चन्द्रमा का आश्रय करके वायु जगत् में वृद्धि करता है, सूर्य का आश्रय करके जगत् का शोषण करती है, इस से यथासमय रसोत्पत्ति होती है, जिससे कि प्रजा का पालन होता है[1]।

वि० मन्तव्य—जहाँ पर चन्द्र, सूर्य तथा वायु की उक्त क्रिया जितनी ही व्यक्तरूप से होती रहती है वहाँ पर उतनी ही प्रजा (जनसंख्या) बढ़ती है ॥८॥

अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति। ते तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्ते। स एष निमेषादिर्युगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्रमित्युच्यत इत्येके ॥९॥

इन दोनों अयनों के एक साथ मिलने से संवत्सर बनता है। पाँच संवत्सरों के मिलने से एक युग बनता है। यह काल निमेष से लेकर युग पर्यन्त चक्र के समान घूमता हुआ-'कालचक्र'—नाम से कहा जाता है—ऐसा कई आचार्यों का मत है। "पाँचयुग=संवत्सरः, परिवत्सरः, इन्द्रावत्सरः, इद्वत्सरः वत्सरः-इत्येवं पञ्च वत्सराणि—ते पंचयुगमिति संज्ञा लभन्ते ॥" कौटिल्य ने भी पाँच वत्सर को युग कहा है।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेदीय शल्यतन्त्र में ५ वर्ष का युग माना जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी ५ वर्ष का ही युग माना गया है, यथा-'पञ्चसम्वत्सरो युगमिति" कौ० अ० शा० ४१। पुराणों में सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का वर्णन भिन्न प्रकार से माना जाता है और स्मृतियों में भिन्न प्रकार से।

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षड्ऋतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तं, ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः। तद्यथा-भाद्रपदाश्वयुजौ वर्षाः; कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाखज्येष्ठौ ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ प्रावृडिति ॥

इस अध्याय में वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त, ग्रीष्म और प्रावृट् (वर्षा का प्रथम समय प्रावृट् कहाता है) ये छै ऋतुएँ वातादि दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन में कारण हैं। ये छै ऋतुएँ भाद्रपद आदि दो दो मासों में उपलक्षित हैं। यथा—भाद्रपद-आश्विन में वर्षा; कार्त्तिक-मार्गशीर्ष में शरद्; पौष-माघ में हेमन्त; फाल्गुन चैत्र में वसन्त; वैशाख-ज्येष्ठ में ग्रीष्म, आषाढ़-श्रावण में प्रावृट् ऋतु होती है।

वि० मन्तव्य—आयुर्वेद शल्यशास्त्र में वात, पित्त एवं कफ के संचय, प्रकोप तथा प्रशम को ध्यान में रखकर उक्त

---

१ सौम्याः खलु आपः अन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यः अव्यक्तरसाश्च। तास्तु अन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पंचमहाभूतगुणसमन्विता जंगमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणमन्ति। चरक० सू० अ० २६.

६ ऋतु माने गये हैं। कायचिकित्सा के चरक ग्रन्थ में प्रावृट् को न मानकर, उधर शिशिर ऋतु माना है। सू० अ० ६। अस्तु, परन्तु च० वि० अ० ८ सू० १२७ में संशोधन को ध्यान में रखकर शिशिर न मानकर प्रावृट ऋतु मान लिया गया है। विचार-विधि भेद से यह सब समीचीन है॥ १०॥

तत्र, वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षितिमलप्राया, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जल प्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसंचयमापादयन्ति; स संचयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति। ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रशान्ताः स्निग्धा अत्यर्थं गुर्व्यश्च, ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्भानोः सतुषारपवनोपस्तम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याद् गौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसंचयमापादयन्ति; स संचयो वसन्तेऽर्करश्मिप्रविलायित ईषत्स्तब्धदेहानां देहिनां श्लैष्मिकान् व्याधीञ्जनयति। ता एवौषधयो निदाघे निःसारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमाना सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाच्च वायोः संचयमापादयन्ति; स संचयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां देहिनां शीतवातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति। एवमेव दोषाणां संचयप्रकोपहेतुरुक्तः॥

इन ऋतुओं में वर्षा ऋतु के अन्दर वनस्पतियाँ तरुण--(सार रहित कमजोर) अल्पशक्ति हो जाती हैं। पानी भी अस्वच्छ हो जाता है; भूमि भी मल-मूत्र आदि से दूषित होती है। वनस्पतियाँ और जल आकाश के मेघों से व्याप्त होने तथा जल द्वारा भूमि के गीली होने से; शीत एवं वायु से मन्द की हुई अग्निवाले, तथा क्लिन्न शरीरवाले प्राणियों में अम्लता को प्राप्त हो जाते हैं। अम्लपाक होने से शरीर में पित्त का संचय करते हैं। यह संचय ऋतु के शीत के कारण उस समय कुपित न होकर शरद् ऋतु में, आकाश में मेघों के साफ हो जाने से, भूमि के कीचड़ के सूखने से, सूर्य की किरणों से पिघलकर पित्तजन्य रोगों को उत्पन्न करता है। और यही औषधियाँ हेमन्त ऋतु में काल के परिपाक से शक्तिशाली परिपक्व वीर्यवाली हो जाती हैं। और पानी भी निर्मल, स्निग्ध और अत्यन्त भारी हो जाते हैं। इस ऋतु में सूर्य की किरणों के मन्द होने से, बर्फ से मिली गीली वायु के कारण स्तम्भित बने पुरुषों में इन वनस्पति तथा जल के उपयोग से, मधुरपाक होने के कारण, स्नेह से, शीतलता से, भारीपन तथा चिकनेपन से कफ का संचय हो जाता है। यह संचय वसन्त ऋतु में थोड़े आलसी बने शरीरवाले पुरुषों में-सूर्य की किरणों से पिघलकर (अन्न द्वेष आदि) कफ जन्य रोगों को उत्पन्न करता है। और ये ही औषधियाँ एवं पानी ग्रीष्म ऋतु में सार रहित, निर्बल रूक्ष और बहुत अधिक हल्की हो जाती हैं। इन वनस्पतियों के साथ पानी के सेवन से, सूर्य की गरमी से शुष्क शरीरवाले पुरुषों में—रूक्ष (स्नेह के अभाव) लघु और विशदगुण के कारण वायु का संचय इस ऋतु में होता है। यह वायु-संचय प्रावृट् ऋतु में पानी के कारण भूमि के बहुत अधिक तर होने से; आर्द्र शरीरवाले पुरुषों में--शीतल-वायु-वर्षा के कारण वातजन्य रोगों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार वात आदि दोषों के संचय एवं प्रकोप के कारण कह दिये हैं॥ ११॥

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्॥ १२॥

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में संचित वात आदि दोषों को, तथा शरद् वसन्त और प्रावृट् काल में कुपित पित्तादि दोषों को वमन आदि द्वारा निकालना चाहिये। यह निःसारण ऋतु के पिछले मास में करना चाहिये, यथा-पित्त का संशोधन मार्गशीर्ष में, कफ का निर्हरण-चैत्र में, वात का श्रावण मास में संशोधन करना चाहिये॥ १२॥

तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाघे, वातिकानां शरदि, स्वभावत एव, त एते संचयप्रकोपोपशमा व्याख्याताः॥ १३॥

उपशम कहते हैं—

कालस्वभाव के कारण ही पित्तजन्य रोगों की शान्ति हेमन्त में, कफजन्य रोगों की ग्रीष्म में और वातजन्य रोगों की शान्ति शरद् ऋतु में होती है। इस प्रकार से दोषों का संचय, प्रकोप और प्रशम कह दिये हैं॥ १३॥

तत्र, पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत्; एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात्॥ १४॥

सांवत्सरिक विधि को दिन रात में कहते हैं—

दिन के पूर्वार्ध में वसन्त ऋतु के लक्षण (कफ प्रकोप) होते हैं मध्याह्न में ग्रीष्म के लक्षण (वात संचय), अपराह्ण में प्रावृट् के (वात प्रकोप); प्रदोष-रात्रि के पूर्व भाग में वर्षा के (पित्त संचय), आधीरात में शरद् ऋतु के (पित्त प्रकोप), रात्रि के अन्तिम भाग में—उषःकाल में हेमन्त के (कफसंचय) लक्षण होते हैं। इस प्रकार से दिन रात में भी वर्ष भर की, शीत, उष्णिमा, और वर्षा (वर्षा हेमन्त ग्रीष्म ऋतु) की भाँति दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशमन होता है॥ १४॥

तत्र, अव्यापन्नेषु ऋतुष्वव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च, ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्बलवीर्यौजस्कर्यो भवन्ति ॥ १५ ॥

अव्यापन्न—आदूषित ऋतुओं में गेहूँ-चने आदि वनस्पतियाँ तथा पानी निर्दोष होते हैं। इन वनस्पति तथा पानी के उपयोग से—अग्निसोमीय रूपी प्राण शरीर-इन्द्रिय-सत्त्व-आत्मा के संयोग रूपी आयु, उत्साह रूपी बल, शक्ति, सप्त धातुओं का स्नेह रूपी हृदयाश्रित ओज बढ़ता है ॥ १५ ॥

तेषां पुनर्व्यापदोऽदृष्टकारिता, शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतान्योषधीर्व्यापादयन्त्यपश्च ॥ १६ ॥

इन ऋतुओं में विपरीतता का कारण अधर्म है। शीत, उष्ण, वायु और वर्षा के विपरीत (हीन, मिथ्या, अतियोग) होने से औषधियाँ एवं जल भी दूषित बन जाते हैं—अपने स्वाभाविक गुण-धर्म को छोड़ बैठते हैं। (सर्वेषामप्यग्निवेश यद् वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः। तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं, तयोः योनिः प्रज्ञापराध एव। चरक) ॥ १६ ॥

तासामुपयोगाद्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदिति ॥

इस प्रकार के दूषित अन्न-पान के सेवन से नाना प्रकार के रोग होते हैं अथवा-महामारी फैलती है[1] ॥१७॥

तत्र, अव्यापन्नानामोषधीनामपां चोपयोगः ॥ १८ ॥

इस अवस्था में (ऋतु के विपरीत होने पर) अदूषित वनस्पतियों का तथा पानी का उपयोग करना चाहिये। पुराना अन्न एवं अव्यापन्न पानी का उपयोग करना चाहिये। इस लिये कहा है—"तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेः विरसीभावाद् उद्धरध्वं भैषज्यानि"—इत्यादि ॥१८॥

कदाचिदव्यापन्नेष्वपि ऋतुषु कृत्याभिशापरक्षःक्रोधाधर्मैरुपध्वस्यन्ते जनपदाः, विषौषधिपुष्पगन्धेन वा वायुनोपनीतेनाक्रम्यते यो देशस्तत्र दोषप्रकृत्यविशेषेण कासश्वासवमथुप्रतिश्यायशिरोरुग्ज्वरैरुपतप्यन्ते, ग्रहनक्षत्रचरितैर्वा, गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावैर्वा ॥ १९ ॥

ऋतु व्यापत्ति के बिना भी कई बार (सदा नहीं) कृत्या (मन्त्रों द्वारा की हुई राक्षसी क्रिया), अभिचारी, अभिशाप (गुरु-सिद्ध आदि द्वारा दिया शाप) हिंसक प्रवृत्तिवाले राक्षसों के क्रोध से, काय, वाणी एवं मन के अधर्म से जनपद नष्ट हो जाते हैं। विष युक्त औषधि, या विषैले फूल की गन्ध वायु द्वारा जिन देशों के समीप पहुँचती है, वहाँ पर दोष, प्रकृति की अभिन्नता से कास, श्वास, वमन, प्रतिश्याय, शिर-वेदना, ज्वर होते हैं। अथवा-आदित्य आदि ग्रहों के तथा अश्विनी आदि नक्षत्रों के गति विशेष से, या घर, भार्या, पलंग, आसन, यान, सवारी, मणि, रत्न आदि उपकरणों के निन्दित लक्षणों के होने से (अकस्मात घर के गिरने से, बार बार कम्पन होने से) जनपद नष्ट होते हैं[1]। (तथाऽभिशापप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति। ये लुप्तधर्माणः धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितानि आचरन्ति, ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मतामुपयान्ति, प्रागेवानेककुलविनाशाय, नित्यप्रत्ययोपलम्भाद् अनियताश्चापरे) ॥१६॥

1. देखिये विस्तार के लिये-चरक-वि-अ० ३।

तत्र स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तमङ्गलजपहोमोपहारेज्याञ्जलिनमस्कारतपोनियमदयादानदीक्षाभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यम्, एवं साधु भवति ॥

सामान्यचिकित्सा—अधर्म के कारण ऋतु व्यापत्ति होने से दैव व्यपाश्रय औषध कहते हैं—स्थान का परित्याग, शान्तिकर्म, वेदोक्तमंत्रों से यजन, प्रायश्चित्त-तप, प्रशस्त मणि आदि मंगल वस्तु का धारण, जप, होम, उपहार, देवता बलि, इज्या (याग), अञ्जलि--भक्ति से हाथों को जोड़ना, नमस्कार–प्रणाम, तप, नियम-मौन, दया, दान, दीक्षा, अभ्युपगम गुरुवाक्य आदि को स्वीकार करना देवता-ब्राह्मण, गुरु की सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार करने से कुशल होता है। (येषां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्मणाम्। कर्म पंचविधं तेषां भेषजं परमुच्यते। हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ॥ इत्यादि) ॥ २० ॥

अत ऊर्ध्वमव्यापन्नमृतूनां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥२१॥

वायुर्वात्युत्तरः शीतो रजोधूमाकुला दिशः।
छन्नस्तुषारैः सविता हिमानद्धा जलाशयाः ॥२२॥
दर्पिता ध्वाङ्क्षखड्गाह्वमहिषोरभ्रकुञ्जराः।
रोध्रप्रियङ्गुपुन्नागाः पुष्पिता हिमसाह्वये ॥२३॥

इसके आगे अव्यापन्न ऋतुओं के लक्षण कहते हैं।

हेमन्तऋतु में—उत्तर दिशा की वायु चलती है। दिशायें धूलि-धूम कोहरे से व्याप्त होती हैं। सूर्य तुषार से घिरा होता है, जलाशय-बर्फ से ढंपे होते हैं। कौवे; गैंडा, भैंसा, मेढा एवं हाथी प्रसन्न रहते हैं। लोध्रप्रियंगु—तथा पद्मकेशर खूब खिलता है ॥ २१-२३ ॥

शिशिरे शीतमधिकं वातवृष्ट्याकुला दिशः।
शेषं हेमन्तवत् सर्वं विज्ञेयं लक्षणं बुधैः ॥ २४ ॥

शिशिर ऋतु में शीत अधिक रहता है, दिशायें वात से मिश्रित वृष्टि से व्याप्त रहती हैं। शेष सब लक्षण विद्वानों को हेमन्त के समान समझना चाहिये ॥ २४ ॥

1. देखिये-महाभारत-शान्तिपर्व में—'गोवत्सं बडवा सूते, श्वा शृगालं महीपते।'

सिद्धविद्याधरवधूचरणालक्तकाङ्किते ।
मलये चन्दनलतापरिष्वङ्गाधिवासिते ॥२५॥
वाति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः ।
दम्पत्योर्मानभिदुरो वसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥२६॥
दिशो वसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः ।
किंशुकाम्भोजबकुलचूताशोकादिपुष्पितैः ॥२७॥
कोकिलाषट्पदगणैरुपगीता मनोहराः ।
दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पल्लवोज्ज्वलाः ॥२८॥

वसन्त ऋतु में—सिद्ध एवं विद्याधरों की स्त्रियों के चरणों में लगे आलक्त से चिह्नित, चन्दनलता के आलिंगन से सुवासित; कामिजनों को आनन्द देनेवाली तथा कामवर्धक, दम्पतियों के मान को तोड़नेवाली मलयाचल की दक्षिण वायु बहती है। वसन्त में दिशायें निर्मल, जंगलों से शोभित, ढाक, कमल, बकुल, आम, अशोक आदि के फूलों से शोभित होती हैं। कोकिल-भ्रमर आदि के मनोहर गीतों से मिली शोभन अवकाशवाली तथा पल्लव—कोमल पत्तों से शृंगार की हुई और दक्षिण वायु बहती है ॥२५-२८॥

ग्रीष्मे तीक्ष्णांशुरादित्यो मारुतो नैर्ऋतोऽसुखः ।
भूस्तप्ता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलिता इव ॥२९॥
भ्रान्तचक्राह्वयुगलाः पयःपानाकुला मृगाः ।
ध्वस्तवीरुत्तृणलता विपर्णाङ्कितपादपाः ॥३०॥

ग्रीष्मऋतु में—सूर्य की किरणें तीक्ष्ण रहती हैं। नैर्ऋत की वायु बहती है, यह वायु सुखकारक नहीं होती। जमीन जलती रहती है, नदियों का प्रवाह मन्द पड़ जाता है, दिशायें मानों आग उगलती रहती हैं। घबराये चक्रवाक युगल पानी की फिकर में मंडराते रहते हैं। मृग पानी पीने के लिये व्यग्र होते हैं। वृक्ष, तृण, लतायें नष्ट होती हैं—जमीन पर गिर जाती हैं। वृक्षपत्तों—रहित रुण्ड-मुण्ड हो जाते हैं ॥२९,३०॥

प्रावृष्यम्बरमानद्धं पश्चिमानिलकर्षितैः ।
अम्बुदैर्विद्युदुद्द्योतप्रस्रुतैस्तुमुलस्वनैः ॥३१॥
कोमलश्यामशष्पाढ्या शक्रगोपोज्ज्वला मही ।
कदम्बनीपकुटजसर्जकेतकिभूषिता ॥३२॥

प्रावृड् ऋतु—पश्चिम दिशा की वायु (मोनसुन) से लाये हुए बादलों से आकाश प्रावृड् ऋतु में घिरा रहता है। बिजली की चमक के साथ बरसनेवाले प्रचंड गर्जनोंवाले बादल घिरे रहते हैं। भूमि कोमल-श्याम दूब से भरी रहती है। भूमि पर वीरबहूटियाँ फैली रहती हैं। कदम्ब, नीम, कुटज, राल, केतकी से भूमि अलंकृत रहती है। जैसा कि रामायण में कहा है—'बालेन्दुगोपान्तरचित्रितेन विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन' ॥

तत्र वर्षासु नद्योऽम्भश्छन्नोत्खाततटद्रुमाः ।
वाप्यः प्रोत्फुल्लकुमुदनीलोत्पलविराजिताः ॥३३॥
भूरव्यक्तस्थलश्वभ्रा बहुसस्योपशोभिता ।
नातिगर्जत्स्रवन्मेघनिरुद्धार्कग्रहं नभः ॥३४॥

वर्षाऋतु—वर्षाऋतु में नदियाँ पानी से भरी रहती हैं, जिससे कि किनारे के वृक्ष टूटते हैं। वावड़ियों में कुमुदिनी और नीले कमल खिल रहे होते हैं। भूमि पर गड्ढे और जमीन में भेद नजर नहीं पड़ता, शस्यश्यामला भूमि होती है। बहुत गर्जना न करनेवाले बादलों से नभ और सूर्य तथा तारे छिपे रहते हैं ॥३३,३४॥

बभ्रुरुष्णः शरद्यर्कः श्वेताभ्रविमलं नभः ।
तथा सरांस्यम्बुरुहैर्भान्ति हंसांसघट्टितैः ॥३५॥
पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेषु भूः ।
बाणसप्ताह्वबन्धूककाशासनविराजिता ॥३६॥

शरद् ऋतु—शरद् ऋतु में सूर्य कपिल-पिंगल एवं उष्ण होता है। आकाश श्वेत बादलों से व्याप्त एवं विमल होता है। हंसों के द्वारा आलोडित कमलों से तलाब सुशोभित होते हैं। नीचे ऊँचे स्थानों में भूमि समान हो जाती है कीचड़ शुष्क हो जाता है तथा—चिउँटी आदि से व्याप्त होती है। बाण (झिंटी), सप्तपर्ण, दुपहरिया, काश, असन से भूमि शोभित होती है। (बाण का अर्थ—कुरण्ट किया है)।

वि० मन्तव्य—पङ्कशुष्कद्रुमाकीर्णा निम्नोन्नतसमेषु भूः—का अर्थ है कि शरद् ऋतु में—भूमि-निम्न भागों में पङ्क (कीचड़) से आकीर्ण (व्याप्त) रहती है, उन्नत भागों में सूखी रहती है और समतल भागों में द्रुमों (पौदों) से व्याप्त रहती है ॥३५,३६॥

स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः ।
विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम् ॥३७॥

उपसंहार—ऋतुओं के जो स्वाभाविक गुण हैं, उन गुणों में अत्यधिकता होने से, अथवा स्वाभाविक गुणों में विपरीत गुण आने से (वर्षाऋतु में वर्षा न होने से), या ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों में विषमता (शीत में गरमी, गरमी में शीत) होने से (इस प्रकार से १८ प्रकार की ऋतु-व्यापत्तियाँ हैं) प्राणियों के वात आदि दोष कुपित होते हैं। (कालार्थ-कर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकाः) ॥३७॥

हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् ।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात् ॥३८॥

रोगोत्पत्ति से पूर्व ही दोषों का शमन करना चाहिये। यथा—वसन्त ऋतु में कफ का, शरद् ऋतु में पित्त का, वर्षाऋतु में वायु का शमन करना चाहिये। जिस ऋतु में जो दोष कुपित होता है, उसकी उसी में शान्ति करनी चाहिये। चरक में कहा है—

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते
प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले ।

घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगान् ऋतुजान्न जातु ॥

वि० मन्तव्य—वसन्त ऋतु में कफ को (वमन द्वारा) और शरद् ऋतु में पित्त को (विरेचन द्वारा) निकालना चाहिये और वर्षा में वात को शान्त करना चाहिये, परन्तु यह सब कार्य—रोगोत्पत्ति के पूर्व ही कर डालना या करना चाहिये अर्थात् स्वस्थ भी उक्त ऋतुओं में वमन, विरेचन तथा वात शमनोपाय करता रहे, इससे लाभ यह होता है कि उसको ऋतु जनित विकार कभी नहीं होते। शोधन द्वारा दोषों का सञ्चय निकल जाता है, फलतः प्रकोप का अवसर ही नहीं आता।

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्या
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

—:०:—

सप्तमोऽध्यायः

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे शल्यों को निकालने के साधनों को बताने के लिये 'यंत्रविधि' नामक अध्याय को कहते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

यन्त्रशतमेकोत्तरम्; अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ, (किं कारणं ? यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव) तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणाम् ॥३॥

यन्त्रों की संख्या साधारणतः एक सौ एक है, (वैसे असंख्य हैं[1])। इन सब यंत्रों में सब से प्रधान यंत्र हाथ को ही समझना चाहिये। क्योंकि—हाथ के बिना यंत्रों का चलना असम्भव है। सब यंत्र-कर्म इसी हाथ के आधीन हैं—

वि० मन्तव्य—यन्त्र--नियन्त्रण या पकड़ने के साधनों—उपकरणों का नाम है। इन से पकड़कर कण्टक एवं दन्त आदि तथा मृतगर्भ कभी २ जीवित गर्भ आदि २ भी निकाले जाते हैं। इन से शल्य को हिलाने-डुलाने या शिथिलमूल करने का काम भी लिया जाता है। गुद, भग तथा मुख आदि को चौड़ा करके (तान करके) भीतर देखने का, औषध लगाने का तथा शस्त्र कर्म करने का काम भी लिया जाता है। मूत्राशय एवं जलोदर आदि में लगाकर स्रावण का तथा आचूषण का भी काम लिया जाता है ॥३॥

तत्र, मनःशरीराबाधकराणि शल्यानि, तेषामाहरणोपायो यन्त्राणि ॥४॥

१ वाग्भट्ट में यन्त्रों की संख्या असंख्य मानी है। यथा—"अतः कर्मवशात्तेषामियत्ताऽवधारणमशक्यम्," वा० ग० सू० स्था० अ० २५।

शल्यविनिश्चय में—मन एवं शरीर को पीड़ित करनेवाली वस्तु को 'शल्य' कहते हैं। इस शल्य को निकालनेवाले साधनों को 'यंत्र' कहते हैं ॥४॥

तानि षट्प्रकाराणि तद्यथा—स्वस्तिकयन्त्राणि, संदंशयन्त्राणि, तालयन्त्राणि, नाड़ीयंत्राणि, शलाकायंत्राणि उपयंत्राणि, चेति ॥५॥

यंत्रों के भेद—

ये यंत्र आकृति भेद से छै प्रकार के हैं। यथा—स्वस्तिक यंत्र, संदंशयंत्र, तालयंत्र, नाड़ीयंत्र, शलाकायंत्र और उपयंत्र[1] ॥५॥

तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिकयन्त्राणि, द्वे संदंशयन्त्रे, द्वे एव तालयन्त्रे, विंशतिर्नाड्यः, अष्टाविंशतिः शलाकाः, पञ्चविंशतिरुपयन्त्राणि ॥६॥

इनमें स्वस्तिकयंत्र—२४, संदंशयंत्र—२ तालयंत्र—२, नाड़ीयंत्र—२०, शलाकायंत्र—२८, उपयंत्र—२५-इस प्रकार से १०१ यंत्र हैं ॥६॥

तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति, तत्प्रतिरूपकाणि वा तदलाभे ॥७॥

ये यंत्र प्रधानतः लोहे के (स्वर्ण-रजत, ताम्र-वंग लोहा) होते हैं। लोहादि के अभाव में दांत बांस आदि लोहे के समान दृढ़ वस्तुओं से बनाये जाते हैं ॥७॥

तत्र, नानाप्रकाराणां व्यालानां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यन्त्राणां प्रायशः सदृशानि, तस्मात्तत्सारूप्यादागमादुपदेशादन्ययन्त्रदर्शनाद्युक्तितश्च कारयेत् ॥८॥

यंत्रों की बनावट—

यंत्रों के मुख प्रायः भिन्न २ हिंसक पशुओं के तथा पक्षियों के मुख के सदृश होते हैं। इस लिये हिंसक पशु-पक्षियों के मुख के समान, शास्त्र उपदेश से, विदितवेदितव्य वैद्यों के आदेश से, युक्ति से तथा प्रयोजन वश से यन्त्रों की रचना करनी चाहिये ॥८॥

समाहितानि यन्त्राणि खरश्लक्ष्णमुखानि च ।
सुदृढानि सुरूपाणि सुग्रहाणि च कारयेत् ॥९॥

उपसंहार—

उचित (न अधिक और न कम) परिभाषा के बने, खर चिकने मुखवाले, दृढ़, देखने में सुन्दर, पकड़ने में सरल बनावटवाले यन्त्र बनाने चाहियें ॥९॥

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशाङ्गुलप्रमाणानि सिंहव्याघ्रवृकतरक्ष्वृक्षद्वीपिमार्जारशृगालमृगैर्वारुककाककङ्ककुररचाषभासशशघात्युलूकचिल्लिश्येनगृध्रक्रौञ्चभृङ्गराजाञ्जलिकर्णावभञ्जननन्दीमुखमुखानि, मसूराकृतिभिः

१ विस्तार के लिये—लेखक का 'शल्ययन्त्र' देखिये।

कीलैरवबद्धानि, मूलेऽङ्कुशवदावृत्तवारङ्गाणि, अस्थिविदष्ट-शल्योद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते ॥१०॥

स्वस्तिक यन्त्रों का प्रमाण एवं आकार—

स्वस्तिक यन्त्रों का प्रमाण १८ अंगुल होता है। इनके मुख सिंह, भेड़िया, व्याघ्र (चीता) तरक्षु, भालू, चीता, बिल्ली, गीदड़, हिरण, एर्वारु (हरिणभेद)—इन हिंसक पशुओं के मुख के समान तथा—कौवे, कंक (दीर्घ चोंच का), कुरर, चाष, भास, शशघाति (शशारि), उल्लू, चिल्ली (चील), श्येन, गीध, क्रौंच, भृङ्गराज—फिंगा, अञ्जलिकर्ण अवभञ्जन, नन्दी-मुख—इन पक्षियों के मुख के समान मुखवाले, सिर पर मसूर के समान फलदार कील से जुड़े, जड़ में अंकुश के समान घिरे-हुए पकड़ने के स्थानवाले, अस्थि में घुसे शल्य को निकालने के लिये काम में आते हैं।

वि० मन्तव्य—इन पशु-पक्षियों को हिंस्र ही मानना आवश्यक नहीं है, केवल मुख सादृश्य के लिये कुछ पशु-पक्षियों का नामोल्लेख कर दिया गया है, अवभञ्जन पक्षी को पञ्जाब में "ठोक ठेया" तथा उत्तर प्रदेश में 'लोहार' कहते हैं, यह वृक्ष के टहनों में अपनी चौंच से बिल बना लेता है। स्वस्तिक यन्त्र—स्वस्तिक (×) के सदृश होते हैं। इसके २ खण्ड होते हैं और दोनों को मुख-भाग से थोड़ा ऊपर कील से जोड़ा रहता है, परन्तु वह कील दोनों खण्डों के छिद्रों में ढीला रहता है कसा नहीं, ताकि यन्त्र में गति हो सके, कील के दोनों छोर मसूर के समान फूलदार हों, जिससे दोनों खण्ड अलग न हों। वारङ्ग—मूठ का या उस भाग का नाम है, जहाँ पर यन्त्र को हाथ से पकड़ा जाता है, मुख उस भाग का नाम है जिससे शल्य पकड़ा जाता है। इसके उदाहरण हैं दन्त निकालने का जमूर तथा गर्म लोहा पकड़ने की लोहारों की सानी या सन्नी। वाग्भट के शब्दों में—कण्ठे मसूराकार-पर्यन्तैः कीलकैः बद्धानि, मूले अंकुशवत् नतानि स्वस्तिकय-न्त्राणि विद्यात्। वा० सू० अ० २५ ॥१०॥

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशाङ्गुलौ भवतः, त्वङ्मांससिरास्नायुगतशल्योद्धरणार्थमुपदिश्येते ॥११॥

संदंशयंत्र—दो प्रकार के हैं। यथा—सनिग्रह (संनिबन्ध-संड़ासी) और अनिग्रह (अनिबन्ध चिमटा) इनकी लम्बाई १६ अंगुल होती है। ये त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु में लगे हुए शल्य को निकालने में काम आते हैं।

वि० मन्तव्य—संदंश—चिमटा या चिमटी का नाम है, इस पर एक छल्ला चढ़ाया रहता है उसका नाम है "निग्रह"। जिस पर छल्ला चढ़ा होता है वह "सनिग्रह" कहलाता है। यह छल्ला के दबाव से ही शल्य को पकड़े रहता है, हाथ का दबाव डालने की आवश्यकता नहीं होती और जिस पर छल्ला नहीं रहता वह "अनिग्रह" संदंश कहलाता है, इस पर हाथ का दबाव देकर शल्य पकड़ा जा सकता है। इसमें हाथ का दूना बल लगता है दबाने और खींचने में। इसके छोटे रूप का नाम "मुचुण्डी" है और छल्ला का नाम रुचक है। क्योंकि रुचक का नाम "कटक" है और कटक का नाम वलय है (मेदनीकोश)। सर्वसाधारण की बोली में मुचुण्डी संदंश को "नचकुण्डी" (पञ्जाब) तथा मुचुण्डी-मुचकूँडी कहते हैं। यह काँटा निकालने के लिये घर २ रखी जाती है। इसका लक्षण-—षडङ्गुलोऽन्यो हरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम्। मुचण्डी सूक्ष्मदन्ता ऋजुः मूले पचकभूषणा। गम्भीरव्रणमांसानामर्मणः शेषितस्य च। वा० सू० अ० २५। अर्थात् उक्त दो बड़े (१६-१६ अङ्गुल के) सन्दंशों के अतिरिक्त एक अन्य ६ अंगुल का संदंश होता है जिसका नाम "मुचुण्डी" है। इसके दन्त सूक्ष्म (बारीक) तीखे (नोकदार) नहीं होते हैं, यह आकारतः सीधी होती है, रुचक का भूषण होता है यह सूक्ष्म शल्य, उपपक्ष्म (परवाल), गम्भीर व्रण के दूषित मांस तथा अर्म को निकालने के काम आती है। इसे "मोचना" भी कहते हैं ॥११॥

तालयन्त्रे—द्वादशांगुले मत्स्यतालवदेकतालद्वितालके, कर्णनासानाडीशल्यानामाहरणार्थम् ॥१२॥

तालयंत्र भी दो प्रकार के हैं। इनकी लम्बाई १२ अंगुल होती है। इनका मुख मछली के ताल के समान पतला होता है। कइयों में एक प्रदेश होता है, और कइयों में दो प्रदेश होते हैं। इनका उपयोग कान, नासा एवं नाड़ी शल्यों के निकालने में होता है। आंगल भाषा में इनको स्कूप (scooP) कहते हैं।

वि० मन्तव्य—ताल यन्त्र-चम्मच के आकार के होते हैं। इनसे कान की मैल निकालने आदि का काम लिया जाता है॥

नाडीयन्त्राणि—अनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोजनानि, एकतोमुखान्युभयतोमुखानि च, तानि स्रोतोगतशल्योद्धर-णार्थं, रोगदर्शनार्थम्, आचूषणार्थं क्रियासौकर्यार्थं चेति तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि, यथायोगदीर्घाणि च। तत्र भगन्दरार्शोव्रणबस्त्युत्तरबस्तिमूत्रवृद्धिदकोदरधूमनिरुद्धप्र-कशसन्निरुद्धगुदयन्त्राण्यलाबुशृङ्गयन्त्राणि चोपरिष्टाद् वक्ष्यामः ॥१३॥

नाड़ीयन्त्र—भी अनेक प्रकार के तथा अनेक प्रयोजन के लिये बनते हैं। इनमें कुछ यंत्रों में मुख एक ओर होता है, और कुछों में दोनों ओर होता है। इनका उपयोग-कण्ठ आदि स्रोतों में फँसे शल्य को निकालने के लिये, भगन्दर आदि रोग को देखने के लिये, रक्त आदि चूषण के लिये, अर्श आदि में क्रिया को सुगमता के लिये व्यवहार होता है। इसकी मोटाई स्रोतोद्वार के समान होती है और इनकी लम्बाई आव-श्यकतानुसार होती है।

नाड़ीयंत्र—भगन्दर, अर्श, व्रणयंत्र[1], वस्ति, उत्तरवस्ति, मूत्रवृद्धि, दकोदर, धूमनेत्र निरुद्धप्रकश, सन्निरुद्धगुद, अलाबु यंत्र[2] हैं। इनको विस्तार से आगे कहेंगे[3]।

वि० मन्तव्य—नाड़ी यन्त्र-सुषिर अर्थात् खोखले होते हैं नाली या नलिका के आकार के ॥१३॥

शलाकायन्त्राण्यपि नानाप्रकाराणि, नानाप्रयोजनानि, यथायोगपरिणाहदीर्घाणि च, तेषां गण्डूपदसर्पफणशरपुङ्खबडिशमुखे द्वे द्वे, एषणव्यूहनचालनाहरणार्थमुपदिश्येते, मसूरदलमात्रमुखे किंचिदानताग्रे स्रोतोमतशल्योद्धरणार्थं, षट् कार्पासकृतोष्णीषाणि प्रमार्जनक्रियासु, त्रीणि दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि, क्षारौषधप्रणिधानार्थं त्रीण्यन्यानि जाम्बवदनानि, त्रीण्यङ्कुशवदनानि, षडेवाग्निकर्मस्वभिप्रेतानि, नासार्बुदहरणार्थमेकं कोलास्थिदलमात्रमुखं खल्लतीक्ष्णौष्ठं, अञ्जनार्थमेकं कलायपरिमण्डलमुभयतो मुकुलाग्रं, मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलमिति ॥१४॥

शलाका यंत्र भी नाना प्रकार के होते हैं। इनके प्रयोजन भी नाना प्रकार के हैं, इनकी लम्बाई और मोटाई प्रयोजन के यथायोग्य होती है। इन शलाका यंत्रों में-गण्डूपद, सर्पफण, शरपुंख और बडिशमुख-दो दो, (युगल से ही कार्य होता है) इनका कार्य एषण ढूँढने के लिये (गम्भीरपाक में पूय आदि ढूँढने के लिये), व्यूहन—ऊपर को उठाकर बाहर निकालना, चालन करने के लिये, आहरण—खींचकर बाहर निकालने के लिये, दो शलाका यंत्र—विदलित मसूर के समान, आगे से कुछ मुड़े (एक आठ अंगुल और दूसरा ६ अंगुल), इनका उपयोग स्रोतों में फँसे शल्य को निकालने में है। छै शलाकायें—जिनके सिरे पर रूई लिपटी रहती है, इनका उपयोग प्रमार्जन क्रिया में होता है। तीन शलाका यन्त्र-कड़छी के मुख के समान, नीचेकी ओर मुख किये, इनका उपयोग क्षार औषध लगाने में होता है। अन्य तीन यन्त्र-जामुन के समान मुखवाले, तीन अंकुश के समान मुखवाले होते हैं। ये छै शलाकायन्त्र अग्नि कर्म—जलाने के कार्य में आते हैं। नासा के अर्बुद को निकालने के लिये एक—बेर की आधी गुठली के समान मुखवाली बीच से गहरी और किनारों पर तेज, एक शलाका यन्त्र—मटर के बराबर मोटी और दोनों सिरों पर मुकुलाकार, एक शलाका मूत्र मार्ग के संशोधन के लिये—मालती पुष्प के वृन्त के अग्रभाग के समान मोटी होती है[1]।

वि० मन्तव्य—अञ्जनार्थमेकं ...... मुकुलाग्रम्—यह नेत्र में अञ्जन लगाने की सलाई है पञ्जाब में इसे "सुरमचू" कहते हैं। शलाका ठोस होती हैं, उनके मुख के आकार लम्बाई, मोटाई तथा कार्य भिन्न २ होते हैं।

गण्डूपद—केंचुवा के सदृश गोल, लम्बी तथा लचकीली, यथा—रबड़ की बत्ती जो मूत्रमार्ग आदि में जाती है।

सर्पफण मुखी—जिसका अग्रभाग सर्प के मुख के सदृश नोकीला तथा फणा के सदृश चौड़ा हो, मत्त, फन फैलाए सर्प को देखिये।

शरपुंख मुखी शलाका—जिनके अग्रभाग पर शर-बाण के समान पुंख (फर) हों, ऐसे बाण भी होते हैं जो पुंखोंवाले होते हैं। बाण जब वेग से जाकर शरीर में धँसता है तब ये पुंख भीतर फैल जाते हैं और निकलते समय बड़ा व्रण करके निकलते हैं। अस्तु, यह पुंखोंवाली शलाका शल्य को हिलाने-चलाने में प्रयुक्त होती है।

बडिशमुखी शलाका—वह मछली पकड़ने के कांटा के सदृश होती है और गर्भशल्य के आहरण में काम आती है, अपत्य पथ से भीतर गर्भाशय में डालकर गर्भ के हनु आदि में फँसाकर खींच ली जाती है इसे वाग्भट में "गर्भशंकु" कहा है, यथा—आहार्ये बडिशाकृतिः। नतोऽग्रे शङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः। वा०-सू० अ० २५ ॥२४॥

उपयन्त्राण्यपि—रज्जुवेणिकापट्टचर्मान्तर्वल्कलतावस्त्राष्ठीलाश्ममुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्तनखमुखबालाश्वकटकशाखाष्ठीवनप्रवाहणहर्षायस्कान्तमयानि क्षाराग्निभेषजानि चेति ॥१५॥

उपयन्त्र—रस्सी, वेणिका (तीन लड़ी वेणी), पट्ट (सूत की बनी पट्टी), चर्म (चमड़ा), अन्तर्वल्कल ढाक, गूलर आदि की छाल लता (बेल), वस्त्र (कपड़ा), अष्ठीलाश्म (गोल-

१ व्रणयन्त्र—"नाडीव्रणप्रक्षालनाभ्यञ्जनयन्त्रे षडंगुले बस्तियन्त्राकारे मुखतोऽकर्णिके—मलमुखयोरंगुष्ठकलायप्रवेशस्रोतसी मूले निवद्धमृदुर्मणिः" ॥ वृ० वाग्भट्ट ७॥

२ दो भगन्दर यन्त्र, दो अर्श यन्त्र, व्रणयन्त्र एक, वस्तिनेत्र-चार प्रकार, उत्तर वस्तिनेत्र दो—मूत्र वृद्धि १, दकोदर १, धूम नेत्र ३, निरुद्धप्रकश १, सन्निरुद्धगुद १, अलाबु यन्त्र १, इस प्रकार से बीस हैं।

३ वृद्ध वाग्भट ने नाड़ी यन्त्र अधिक कहे हैं। यथा—'कण्ठशल्यदर्शनार्थं नाड़ीदशाङ्गुलायतां पञ्चाङ्गुलपरिणाहाम्। द्विकर्णस्य तु वारङ्गस्य संग्रहार्थं द्विच्छिद्रमुखाम्। शल्यनिर्घातिनी तु पद्मकर्णिकाकारशीर्षा द्वादशांगुला त्र्यंगुलसुषिरा। तथाऽङ्गुलित्राणकं। योनिव्रणदर्शने यंत्रम्—Vagihalspecilum।

आजकल ब्रेस्ट पम्प (Breast-Pump) एक यन्त्र और है—जो कि स्तनों से दूध निकालने के कार्य में आता है।

१ वाग्भट्ट में कर्णशोधन और गर्भशंकु, ये दो शलाका यन्त्र अधिक हैं। यन्त्रों के लिये वाग्भट्ट एवं लेखक का शल्यतंत्र देखिये।

बड़ा पत्थर), मुद्गर, पाँव का तलुवा- हाथ का तलुवा, अंगुलि, जिह्वा, दांत, नख, मुख, बाल, घोड़े की काठी शाखा, ष्ठीवन—कफ आदि, प्रवाहण-वमन-विरेचन-अश्रु निकालने के लिये, हर्ष तुष्टि के लिये, अयस्कान्त (पाषाण विशेष-आकर्षक, द्रावक, चुम्बक, भ्रामक भेद से), और क्षार, अग्नि, एवं औषधियाँ उपयन्त्र हैं। अष्ठीलाश्म—से अष्ठीलालोहे का घन या अन्य ऐसी वस्तु और अश्म से पत्थर दो वस्तुयें हैं।

वि० मन्तव्य—उपयन्त्र अर्थात् यन्त्रण आदि में उपयोगी उपकरण। चर्म-चमड़ा की अनेक प्रकार की पट्टियाँ, बद्धियाँ यथा अन्त्रवृद्धि में बाँधने की पेटी आदि। अन्तर्वल्कल-वृक्षों की कोमल, लम्बी वे छालें जो बन्धन के योग्य हों। जिह्वा-जीभ-दन्तों में लगे धँसे पदार्थ को हिला २ कर निकाल देती है। दन्त से पकड़कर शल्य निकाला जा सकता है और नखों से भी। मुख से चूसकर दुग्ध, विष तथा रक्त निकाला जाता है। एतदर्थ रबड़ के गेन्द सा आचूषक यन्त्र भी होता है। लाल—केशों की गुही बना उससे कण्ठ बात शल्य को फँसाकर निकालने का विधान है। कूची आदि बनाकर धोने, साफ करने आदि के उपकरण बनाये जाते हैं। अश्वकटक—के लिये देखिये अ० २७ का पश्चाङ्गयां....उद्धरति सू० १४। शाखा का वर्णन भी वहीं देखिये। ष्ठीवन—थूककर या खाँसकर कफ निकाला जाता है। प्रवाहण—काँखकर, बल लगाकर पुरीष एवं मूत्र निकाला जाता है और गर्भ को निकालने में गर्भिणी प्रवाहण करती है, उससे एतदर्थ कहा जाता है कि—प्रवाहस्व सुभगे! हर्ष या हर्षण - इसके द्वारा मन-आबाधकर शोक-शल्य निकाला जाता है। शेष देखिये इसी स्थान का अध्याय २७ और सम्पूर्ण सुश्रुत ॥१५॥

एतानि देहे सर्वस्मिन् देहस्यावयवे तथा।
संधौ कोष्ठे धमन्यां च यथायोगं प्रयोजयेत् ॥१६॥

इन यन्त्रों का उपयोग देह के सम्पूर्ण अवयवों में, संधि में कोष्ठ को धमनी में यथास्थान उचित रीति से उपयोग करना चाहिये ॥१६॥

यन्त्रकर्माणि तु—निर्घातनपूरणबन्धनव्यूहनवर्तनचालनविवर्तनविवरणपीडनमार्गविशोधनविकर्षणाहरणाञ्छनोन्नमनविनमनभञ्जनोन्मथनाचूषणैषणदारणर्जूकरणप्रक्षालनप्रधमनप्रमार्जनानि चतुर्विंशतिः ॥१७॥

यन्त्रों के कर्म—चौबीस प्रकार के हैं। यथा—निर्घातन (इधर-उधर चलाकर निकालना), पूरण (बस्ति-नेत्र आदि को तैल से भरना), बन्धन (रज्जु आदि से बाँधना), व्यूहन (ऊपर को उठाकर काटकर शेष भाग को निकालना), वर्त्तन (गोल करना), चालन (एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले चलना), विवर्त्तन (पराङ्मुख हुई अस्थि आदि का अपवर्त्तन), विवरण (अंगुलि आदि से दबाकर शल्य को बाहर करना), पीड़न (अंगुलि आदि से मलना-दबाना), मार्ग विशोधन (उत्तर बस्ति से मूत्रमार्ग का शोधन), विकर्षण (पकड़कर बाहर निकालना), आहरण (अन्दर स्थित शल्य का बाहर लाना), आञ्छन (आयमन-ऊपर उठाना), उन्नमन (ऊपर करना), विनमन (नीचे करना), भञ्जन (तोड़ना), उन्मथन (मथना-विलोड़ना), आचूषण (चूसना), ऐषण (ढूँढ़ना), दारण (दो करना-फाड़ना), ऋजूकरण (सीधा कराना), प्रक्षालन (धोना), प्रधमन (नासिका आदि में फूत्कार से औषध भरना), प्रमार्जन (वस्त्र आदि से साफ करना), ये चौबीस कार्य यन्त्रों के हैं।

वि० मन्तव्य—उपयन्त्रों के कर्मों—कार्यों पर ध्यान देने से उपयन्त्रों के आकार-प्रकार तथा उनके उपयोग का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। हमारा विश्वास है कि इन से अधिक न यन्त्र हो सकते हैं और न यन्त्र कर्म ही हो सकते हैं। तथापि—सूत्र १८ देखिये ॥१७॥

स्वबुद्ध्या चापि विभजेद्यन्त्रकर्माणि बुद्धिमान्।
असंख्येयविकल्पत्वाच्छल्यानामिति निश्चयः ॥१८॥

उपसंहार—शल्यों के असंख्य भेद होने के कारण बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपनी बुद्धि से ही यन्त्र कर्मों का विभाग कर ले। जिस प्रकार बने उस प्रकार से शल्य बाहर निकालना चाहिये ॥१८॥

तत्र अतिस्थूलम्, असारम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, अग्राहि, विषमग्राहि, वक्रं, शिथिलम्, अत्युन्नतम्, मृदुकीलं, मृदुमुखं, मृदुपाशम् इति द्वादश यन्त्रदोषाः ॥

यन्त्र दोषों को कहते हैं—अतिस्थूल (बहुत मोटा), असार (अशुद्ध लोहादिसे बने), बहुत लम्बा और बहुत छोटा, आग्रही (विकृत मुख), विषमग्राही (एक देश पकड़े और दूसरा न पकड़े), वक्र (टेढ़ा), शिथिल (दबाव न आये), अत्युन्नत (कील आदि उठी हो), मृदुकील (संधि बन्धन ढीला हो), मृदुमुख (शल्य पीड़न के दबाव को न सह सके), मृदुपाश (तनु पाश)—ये बारह यन्त्र के दोष हैं।

वि० मन्तव्य—असारका अर्थ है साररहित, दुर्बल जो कार्य करते समय टूट सकता हो जिसके टूटने का भय हो। यथा—कमजोर रस्सी या पट्टी और संदंश, शलाका आदि भी वैसे जो टूट जायं। मृदुपाश—ढीले रुचक (छल्लेवाला) देखो मुचुण्डी का वर्णन ॥१९॥

एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं यन्त्रमष्टादशाङ्गुलम्।
प्रशस्तं भिषजा ज्ञेयं तद्धि कर्मसु योजयेत् ॥२०॥

इन उपर्युक्त १२ दोषोंसे रहित १८ अंगुल लम्बा यन्त्र वैद्य को प्रशस्त समझना चाहिये। इसी प्रकार के यन्त्र को शल्य-कर्म में बरतना चाहिए ॥२०॥

दृश्यं सिंहमुखाद्यैस्तु गूढं कङ्कमुखादिभिः।
निर्हरेत शनैः शल्यं शास्त्रयुक्तिव्यपेक्षया ॥२१॥

दृश्य शल्यको सिंहमुख आदि यन्त्रों से निकालना चाहिये, और जो शल्य छिपा हो—आँख से दिखाई न दे उसको कंक-मुख आदि से निकालना चाहिए। शस्त्र एवं युक्ति की अपेक्षा से शल्य को धीरे से बाहर करना चाहिए ॥२१॥

नि (वि) वर्तते साध्ववगाहते च शल्यं निगृह्योद्धरते च यस्मात्। यन्त्रेष्वतःकङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधि-(त्रि) कारि चैव ॥२२॥

सब यन्त्रों में कङ्कमुख यन्त्र प्रधान है। क्योंकि—यह कङ्कमुख जल्दी ही बाहर निकल आता है और भली प्रकार से जल्दी ही अन्दर घुस जाता है। शल्य को पकड़कर बाहर खींच लेता है। (विवर्त्तते—पाठ में—अन्दर घूम सकता है)। संधि-धमनी आदि सब स्थानों में इस कङ्कमुख की ही प्रधानता है—यही अधिकारी है। इसलिए सब यन्त्रों में कङ्कमुख ही प्रधान है।

वि० मन्तव्य—शल्य को पकड़कर बाहर निकालने में भले ही प्रधान हो, वैसे तो अपने कार्य के लिये यन्त्र ही नहीं उप-यन्त्र रज्जू आदि भी प्रधान हैं, उपयोगी हैं अति-उपयोगी हैं ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने यन्त्रविधिर्नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथातः शस्त्रावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'शस्त्रावचारणीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था।

वि० मन्तव्य—शस्त्र--छेदन, भेदन, आदि अर्थात् चीरने, फाड़ने, काटने, छीलने आदि कार्यों में प्रयुक्त होते हैं जैसे यंत्र बाँधने आदि कार्यों में। देखिए अ० ५ का सू० ५ ॥१,२॥

विंशतिः शस्त्राणि, तद्यथा--मण्डलाग्रकरपत्र वृद्धिप-त्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधारसूचिकुशपात्राटीमुखश-रारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चककुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्र-बडिशदन्तशङ्क्वेषण्य इति ॥३॥

शास्त्रों की संख्या बीस है—इनका आकार इनके नाम से ही प्रायः स्पष्ट है। मण्डलाग्र (Circular Knife या Roun-dhead Knife), करपत्र, (Saw आरी), वृद्धिपत्र (अञ्चि-ताग्र—Scalpel—प्रयताग्र—Absess knife), नखशस्त्र (Nail—pairs), मुद्रिका (दो अंगुल लम्बा—उस्तरे की बनावट के Finger-knife), कमलपत्र के समान तेज धार वाला उत्पलपत्र (Lancel), अर्धधार (Single Ebged Knife), सूची—सूई कुशा के समान कम चौड़ा परन्तु तीक्ष्ण-धार कुशपत्र, (Bistoury), आरीमुख (आरी—जलवर्धनी नामक पक्षी के समान मुख जैसा), शरारिमुख (दोही चोंच वाला—सफेद स्कन्धोंवाले पक्षी के मुख के समान—कैंची—लोक में), अन्तर्मुख (मध्य में मुखवाला मध्य मुख Curved Bistoury), त्रिकूर्चक (तीन छोटी छोटी छुरियोंवाला), कुठारिका (हथौड़ी-Ave-shaped), व्रीहिमुख (Trocar) आरा (Owl-like-knife), वेतसपत्र (पतली धार का चाकू Narrow-Bladed knife), बडिश (मछली पकड़ने का काँटा—Hooks), दन्तशंकु (दांतखुरदने का चाकू Tooth pilk), एषणी (Sharp-proves)—इस प्रकार से बीस शस्त्र हैं[1]।

वि० मन्तव्य—कुठारिका-कुल्हाड़ी के आकार का परन्तु छोटा वह शस्त्र जिसके द्वारा सिरावेध किया जाता है। देखिए सु० शा० अ० सू० ६ ॥३॥

तत्र मण्डलाग्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च, वृद्धि-पत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधाराणि छेदने भेदने च, सूचीकुशपत्राटी (टा) मुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चकानि विस्रावणे, कुठारिकाव्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने सूची च, बडिशं दन्तशङ्कुश्चाहरणे, एषण्येषणे आनुलोम्ये च, सूच्यः सीवने, इत्यष्टविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥४॥

इनका उपयोग—

इन शस्त्रों में मण्डलाग्र और करपत्र छेदन एवं लेखन कार्यों में; वृद्धिपत्र, नखशस्त्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र, अर्धधार ये छेदन एवं भेदनकार्यों में; सूची, कुशपत्र, आटीमुख, शरारिमुख, अन्तर्मुख और त्रिकूर्चक-विस्रावणकार्यमें; कुठारिका, व्रीहिमुख,

---

१ शस्त्रों का ज्ञान प्रत्यक्ष में भली प्रकार होता है। ज्ञान के लिये कविराज हाराणचन्द्रजी की या डल्हण की टीकासे सहायता ली जा सकती है। वाग्भट्ट ने सर्पवक्त्र, शलाका, कर्त्तरि, सूची-कूर्च, खज एवं कर्णव्यधन ये छै शस्त्र अधिक कहे हैं। इनके तथा अन्य लक्षण अष्टांगसंग्रह में देखिये।

आरा, वेतसपत्र, और सूई (कुशपत्र-उत्पलपत्र), भी व्यधन कार्य में; बडिश और दन्तशंकु-आहरण कार्य में; एषणी एषण और अनुलोमन कार्य में; सूई-सीवन कार्य में; इस प्रकार से आठ प्रकार के कार्यों में इन शस्त्रों का उपयोग होता है। (डल्हण ने अनुलोमन का अर्थ विस्रावण किया है)॥ ४॥

तेषामथ यथायोगं ग्रहणसमासोपायः कर्मसु वक्ष्यते। तत्र वृद्धिपत्रं वृन्तफलसाधारणे भागे गृह्णीयात्, भेदनान्येवं सर्वाणि, वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रं च किंचिदुत्तानेन पाणिना लेखने बहुशोऽवचार्य, वृन्ताग्रे विस्रावणानि, विशेषेण तु बालवृद्धसुकुमारभीरुनारीणां राज्ञां राजपुत्राणां च त्रिकूर्चकेन विस्रावयेत्, तलप्रच्छादितवृन्तमङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां व्रीहिमुखं, कुठारिकां वामहस्तन्यस्तामितरहस्तमध्यमाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठविष्टब्धयाऽभिहन्यात् आराकरपत्रैषण्यो मूले, शेषाणि तु यथायोगं गृह्णीयात्॥ ५॥

इन शस्त्रों को पकड़ने की विधि संक्षेप में कहते हैं—इनमें वृद्धिपत्र को वृन्त और फल के संयोगस्थान में पकड़ना चाहिये। इसी प्रकार सब भेदन शस्त्रों को पकड़ना चाहिये। वृद्धिपत्र और मण्डलाग्र शस्त्र को हाथ को कुछ ऊँचा करके लेखन कार्य में, बहुत बार प्रयोग करना चाहिये। विस्रावण कार्य में आनेवाले शस्त्रों को वृन्त के अगले भाग में पकड़ना चाहिये। बालक, वृद्ध, सुकुमार, भीरु स्त्रियों का, राजा एवं राजपुत्रों का त्रिकूर्चक शस्त्र से रक्त विस्रावण करना चाहिये। व्रीहिमुख के वृन्त को हाथ के तलुवे में ढाँपकर अंगुष्ठ तथा प्रदेशिनी अंगुलियों से पकड़ना चाहिये। वाम हस्त से पकड़कर दक्षिण हाथ की मध्य अंगुली से अंगूठे का सहारा लेकर इसके माथे पर चोट करनी चाहिये। आरा, करपत्र और एषणी को मूल से पकड़ें। शेष शस्त्रों को यथारीति से पकड़ना चाहिये। जैसे उनका कार्य ठीक हो, वैसे पकड़े।

वि० मन्तव्य—वृन्त–शस्त्र की मूठ या वीण्डा का नाम है, जहाँ से पकड़कर शस्त्र चलाया जाता है। फल–शस्त्र के उस भाग का नाम है जिससे छेदन भेदन आदि कर्म किया जाता है। "वृन्तफलसाधारण" भाग वह है जहाँ दोनों का सन्धान जोड़ होता है। त्रिकूर्चक—वह कूची है जिसमें दो से अधिक सूइयाँ एक साथ बंधी रहती हैं, जैसा गोदने या खुनने के लिये प्रयुक्त होता है। वृद्धिपत्र—यहाँ पर वृद्धि शब्द "वृधु-छेदने" धातु (भ्वादि आत्मनेपदी) से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—वृद्धये (छेदनाय) पत्रं (चतुर्थीतत्पुरुष) अर्थात् छेदन के लिये पत्र है। पत्र का अर्थ है पत्र=पत्ती—लोह की तीखी पत्ती। वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेदभेदनपाटने। वा० सू० अ० २६ श्लो० ७। वृद्धिपत्र छुरा या उस्तुरा का या चाकू का नाम है। करपत्र—छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधारं दशाङ्गुलम्। विस्तारे द्व्यंगुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम्॥ अर्थात्–अस्थि काटने के लिये—करपत्र नामक शस्त्र होता है। उसकी धार खरदरी सूक्ष्म २ दन्तों—दन्दों वाली, लम्बाई १० अंगुल, चौड़ाई २ अंगुल। सुन्दर मूठ में बँधी दो कीलों से कसी पत्ती होती है। इसका नाम "आरी" है। मण्डलाग्र—इसका फल तर्जनी अंगुली के नख के आकार का होता है। नखशस्त्र—नख काटने के शस्त्र का नाम है। मुद्रिका—इसे अंगुली पर चढ़ाकर कार्य किया जाता है। इसके अग्रभाग में उस्तुरा अथवा मण्डलाग्र शस्त्र का सा तीखा शस्त्र लगा रहता है। उत्पलपत्रक—कमल की पंखुरी के सदृश आकृतिवाला शस्त्र। अर्द्धधार—इसके फल के आधे अथवा आधे से कुछ अधिक भाग की धार तीखी रहती है। सूची—सूई का नाम है। कुशपत्र—कुश के पत्र के सदृश फलवाला। आटीमुख—आटी या आड़ी नामक पक्षी की चोंच के आकार का शस्त्र। यह पक्षी जल के आसपास रहता है। शरारिमुख—शरारि आटी पक्षी सा कोई पक्षी है। उसकी चोंच सा। अन्तर्मुख—इसका फल अर्द्धचन्द्र (द्वितीया तृतीया का चन्द्र) के सदृश आकृतिवाला और १॥ अंगुल का होता है। इसके अन्तर्भाग में धार होती है। व्रीहिमुख—जौ के सदृश मुखवाला या फलवाला।

आरा—यह वह शस्त्र है जिसके द्वारा नाथ सम्प्रदाय में कान फाड़े जाते हैं। इसका मुख आधा अंगुल चौड़ा होता है और सब घुसा दिया जाता है। वेतसपत्र—वेत के पत्र के सदृश आकारवाला। इसके दोनों ओर वेत के पत्र के समान दन्त या दाँते होते हैं। करपत्र में एक ही ओर होते हैं। बडिश—मछली पकड़ने के काँटे जैसा, द्वितीया के चन्द्र के सदृश टेढ़ा और एक ओर तीखा। दन्तशंकु—दन्त छीलने के योग्य, इसे पञ्जाब में "छिंग" कहते हैं। इससे दन्तशर्करा, दन्तकपालिका उतारी जाती है और दन्त या दाढ़ के खड्ड के सड़े गले या जीर्ण भाग को खुरचा जाता है। एषणी—नासूर के व्रण का पता लगाने में उपयोगी, यह केंचुवा के समान गोल लम्बी एवं लचकीली होती है, परन्तु यह शस्त्र नहीं–यन्त्र कही जा सकती है। भेदन के लिये जो सूई के सदृश तीखे मुखवाली और जिसके मूल में धागा डालने का छिद्र होता है वह भी एषणी कही जाती है। यही शस्त्र गणना में गिनी गई है। अनुलोमन करना ही एषणी यन्त्र का काम है और भेदनोपयोगी सूची का नाम भी एषणी है। बाण का

नाम इषु है, जो शस्त्र होता है और जिस (ईष-गतिहिंसा-दर्शनेषु धातु भ्वादिगणीय) से इषु शब्द निष्पन्न होता है। उसी से एषणी शब्द भी निष्पन्न होता है। इस उपकरण से भेदन रूपी हिंसन और नासूर की गति का दर्शन भी होता है। अतएव अग्रिम ११ वें सूत्र में–तीक्ष्ण काँटे तथा जौ के प्रथम पत्र के सदृश तीखे मुखवाली एषणी कही गई है ॥ ५ ॥

तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ ६ ॥

इन शस्त्रों के आकार प्रायः नाम संकीर्त्तन से ही कह दिये हैं ॥ ६ ॥

तत्र नखशस्त्रैषण्यावष्टाङ्गुले, सूच्यो वक्ष्यन्ते, (प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रदेशप्रमाणा मुद्रिका, दशाङ्गुला शरारिमुखी सा च (या सा) कर्तरीति कथ्यते।), शेषाणि तु षडङ्गुलानि ॥ ७ ॥

इनमें नख शस्त्र तथा एषणी आठ अंगुल के होते हैं। सूइयों का वर्णन–अष्टकर्माध्याय में कहेंगे। मुद्रिका–प्रदेशिनी (तर्जनी) के प्रमाण का होता है। शरारिमुख शस्त्र दश अंगुल लम्बा है, उसे कैंची भी कहते हैं। नख शस्त्र, एषणी और सूई को छोड़कर शेष सब शस्त्र छै अंगुल हैं ॥ ७ ॥

तानि सुग्रहाणि, सुलोहानि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहितमुखाग्राणि, अकरालानि, चेति शस्त्रसम्पत् ॥८॥

शस्त्रसम्पत्—सुग्रहाणि (पकड़ने में सुन्दर), सुलोहानि (उत्तम लोहे के बने), सुधाराणि (तीक्ष्ण धारवाले), सुरूपाणि (देखने में सुन्दर रूपवाले), सुसमाहितमुखाग्राणि (सुन्दर मुखवाले) अकरालानि (दांत रहित–देखने में भयानक नहीं) होने चाहिये। ये शस्त्रों के गुण हैं ॥ ८ ॥

तत्र वक्रं, कुण्ठं, खण्डं खरधारम्, अतिस्थूलम्, अत्यल्पम्, अतिदीर्घम्, अतिह्रस्वम्, इत्यष्टौ शस्त्रदोषाः। अतो विपरीतगुणमाददीत, अन्यत्र करपत्रात्, तद्धि खरधारमस्थिच्छेदनार्थम् ॥ ९ ॥

शस्त्रों के दोष—वक्र (टेढ़ा), कुण्ठ (खुण्डा-मोटी धार), खण्ड (टूटा हुआ) खरधार (कर्कश धारवाला), अतिस्थूल, अतितुच्छ, अति दीर्घ, अति ह्रस्व—ये आठ शस्त्र के दोष हैं। इनसे विपरीत गुणोंवाले शस्त्र को ग्रहण करना चाहिये। परन्तु यह करपत्र के लिये नहीं है। क्योंकि इसकी धार दांतोंवाली होती है, यह अस्थि छेदन के कार्य में होता ह ॥ ९ ॥

तत्र धारा भेदनानां मासूरी, लेखनानामर्धमसूरी, व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी, छेदनानामर्धकैशिकीति ॥ १० ॥

अष्टविध कार्य में धार का निश्चय—

भेदन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार मसूर पत्र की धार के समान मोटी, मण्डलाग्र आदि लेखन शस्त्रों की धार मसूर दल की धार से आधी, कुटारिका सूची कुशपत्र आदि व्यधन कार्य में आनेवाले शस्त्रों की धार केश के समान पतली, वृद्धिपत्र आदि छेदन शस्त्रों की धार केश से आधी पतली होनी चाहिये ॥ १० ॥

बडिशं दन्तशङ्कुश्चानताग्रे। तीक्ष्णकण्टकप्रथमयवपत्रमुख्येषणी (गण्डूपदाकारमुखी च) ॥ ११ ॥

बडिश आगे से कुछ झुका होना चाहिये, दन्तशंकु भी कुछ टेढ़ा होना चाहिये। एषणी तीन प्रकार की है। यथा—१—तीक्ष्णकण्टक, २—प्रथमयवपत्रमुखी (जौ के प्रथम पत्र के समान), ३—गण्डूपदाकारमुखी (गेंडुवे मुख के समान) ॥ ११ ॥

तेषां पायना त्रिविधा क्षारोदकतैलेषु। तत्र क्षारपायितं शरशल्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं मांसच्छेदनभेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिराव्यधनस्नायुच्छेदनेषु ॥१२॥

पायना—शस्त्रों में तीक्ष्ण आदि गुण सौष्ठव उत्पन्न करने के लिये इनको भिन्न २ वस्तुओं में बुझाया जाता है, इसी को पायना कहते हैं। यह पायना तीन प्रकार की है। यथा—क्षार जल और तैल में। इनमें जो शस्त्र क्षार द्वारा भावित हों, उनका उपयोग शर, शल्य-अस्थि के छेदन में; उदक में भावित शस्त्रों का उपयोग—मांस के छेदन भेदन पाटनकार्य में; तैल में भावित शस्त्रों का उपयोग-सिरा के बींधने में और स्नायु छेदने में करना चाहिये[1]। पायना—पानी चढ़ाना। विवृत्तानां शस्त्राणां तत्क्षणाद् द्रवद्रव्येषु पायना।

वि० मन्तव्य—पायना-निर्माण के पश्चात् अथच शाण पर चढ़ाने के पश्चात् शस्त्रों को पान चढ़ाई जाती है इसी का नाम "पायना" है। शस्त्र के फल को तपाकर जल में अथवा आवश्यकतानुसार क्षारोदक तेल में बुझा दिया जाता है इस क्रिया से धार दृढ़ एवं चिरस्थायी हो जाती है। और विषद्रव में बुझाने से विषैली भी हो जाती है। चाकू आदि को शान पर चढ़ाकर जो जल में डुबोया जाता है वह "पायना" ही है ॥ १२ ॥

तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा धारासंस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥ १३ ॥

शस्त्रों को तेज करने के लिए उड़द के समान काली चिकनी पत्थरी का उपयोग करना चाहिए। धार की तीक्ष्णता की रक्षा के लिए सिम्बल का फलक रखना

---

१ पायना के लिये–लेखक का शल्य तन्त्र देखिये।

चाहिये[1]। धारा संस्थापनार्थ—का अर्थ श्रीघाणेकर जी ने स्ट्रोपिंग (Stropping) किया है। इससे धार स्पष्ट और मृदु हो जाती है।

वि० मन्तव्य—धार को तीक्ष्ण करने के लिये-चमड़े का टुकड़ा तथा कपड़े का खण्ड भी उपयुक्त होता है ॥१३॥

भवति चात्र—

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ॥
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥१४॥

कहा भी है—

धार की पहिचान—जिस समय शस्त्र रोम का छेदन करने लगे (बाल को साफ करनेलगे), तब उसे भली प्रकार तेज समझना चाहिये। शोभन आकारवाला पूर्वोक्त विधि से भली प्रकार पकड़ा हो, पूर्वोक्त प्रमाण में बना हो, तब शस्त्र को छेदन आदि कार्य में प्रयोग करना चाहिये। वाग्भट्ट में रोमच्छेदि के स्थान पर रोमवाही—बाल मुंडनेवाला है।

वि० मन्तव्य—धार की उत्तम कोटि की तीक्ष्णता का लक्षण है सरलता से रोमों—बालों का छेदन-काट डालना ॥१४॥

अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिककाचकुरुविन्दजलौकोग्निक्षारनखगोजीशेफालिकाशाकपत्रकरीरबालाङ्गुल्य इति॥

शिशु—स्त्री आदि में अथवा शस्त्र के अभाव में अनुशस्त्रों का उपयोग करना चाहिये। अनुशस्त्र यथा-त्वक्सार-(बाँस की छाल), स्फटिक, काच, कुरुविन्द-(लोहिताश्मरत्न प्रधान), जलौका, अग्नि, क्षार, नख, गोजी (गाजवा), शेफालिका (हरसिंगार), शाकपत्र (सागौन का पत्ता), बाल अंगुलि-ये अनुशस्त्र हैं।

वि० मन्तव्य—अनुशस्त्र वे कहे जाते हैं जो लोह के शस्त्र नहीं होते, परन्तु उनसे शस्त्र का काम लिया जाता है। जैसे—फफोला आदि के भेदन का काम काच की नोक से ले लिया जाता है, लेखन का काम गाजवाँ के पत्र से जो खरदरा होता है ले लिया जाता है आदि[2]। शेष निचले श्लोकों में देखिये ॥

शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्राभावे च योजयेत्।
त्वक्सारादिचतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥१६॥

आहार्यच्छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत्।
विधिः प्रवक्ष्यते पश्चात् क्षारवह्निजलौकसाम् ॥१७॥
ये स्युर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये।
गोजीशेफालिकाशाकपत्रैर्विस्रावयेत्तु तान् ॥१८॥
एष्येष्वेषण्यलाभे तु बालाङ्गुल्यङ्कुरा हिताः।

इन अनुशस्त्रों का विषय—

शिशुओं में, शस्त्र से डरनेवाले पुरुषों में अथवा शस्त्र के अभाव में छेदन-भेदन कार्य में त्वक्सार आदि चार (वंश, स्फटिका, काच, कुरुविन्द) का प्रयोग करना चाहिये। आहरण, छेदन, भेदन जो कार्य नख से शक्य हों उनसे नख का प्रयोग करना चाहिये। क्षार वह्नि और जौक की विधि आगे कहेंगे। मुख रोगों में तथा नेत्र वर्त्म के रोगों में--गोजी, शेफालिका, शाक--इनके पत्रों का उपयोग करना चाहिये। एष्य कार्य में एषणी के अभाव में बाल, अंगुलि-अंकुर हितकारी हैं॥१६-१८॥

शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु।
कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥१९॥

बुद्धिमान् वैद्य—अपने कर्म में निपुण, कर्मपण्डित—कर्म को जाननेवाले लुहार से, शुद्ध मलरहित, तीक्ष्ण लोहे से शस्त्रों को बनवावे ॥१९॥

प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यशः।
तस्मात् परिचयं कुर्याच्छस्त्राणां ग्रहणे सदा ॥२०॥

प्रयोग को जाननेवाले वैद्य को आरोग्य संपादन कार्य में सदा सफलता मिलती है। इसलिये सब से प्रथम शस्त्रों का परिचय (ज्ञान) बार-बार प्राप्त करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—शस्त्रों के ग्रहण (पकड़ने तथा उपयोग)—प्रयोग में परिचय-जानकारी का अभ्यास सदा करते रहना चाहिये ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शस्त्रावचारणीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अथातो योग्यासूत्रीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे योग्यासूत्रीय (सम्यक् कर्माभ्यास रूपी) नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥१,२॥

अधिगतसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत्। स्नेहादिषु छेद्यादिषु च कर्मपथमुपदिशेत्। सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यो भवति ॥३॥

---

१ वाग्भट्ट ने धार की रक्षा के लिये शस्त्र कोषों का वर्णन किया है। यथा--

स्यान्नवांगुलविस्तारः सुघनो द्वादशांगुलः।
क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥
विन्यस्तपाशः सुस्युतः सान्तरोर्णात् शस्त्रकः।
शलाकापिहितास्यश्च शस्त्रकोषः सुसंचयः ॥
वाग्भट्ट०

शस्त्र कोषों का वर्णन अन्यत्र भी है।

१ योग्या को Operative surgery ऑपरेटिव सर्जरी कहते हैं। आजकल यह कार्य मृतशरीर पर सिखाते हैं।

सम्पूर्ण शास्त्र पढ़े हुए शिष्य को भी योग्या (कर्माभ्यास) करवाना चाहिये। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन आदि, तथा छेद्य, भेद्य, वेध्य आदि शस्त्र कार्यों में कर्म करने की विधि बतानी चाहिये। क्योंकि बहुत अच्छी प्रकार शास्त्र पढ़ लेने पर भी, कर्माभ्यास किये बिना कार्यों में अयोग्य होता है ॥

तत्र, पुष्पफलालाबूकालिन्दकत्रपुसै (सो) र्वारुककर्कारुकप्रभृतिषु छेद्यविशेषान् दर्शयेत्, उत्कर्तनापकर्तनानि चोपदिशेत्, दृतिवस्तिप्रसेवकप्रभृतिषूदकपङ्कपूर्णेषु भेद्ययोग्यां, सरोम्णि चर्मण्याततें लेख्यस्य, मृतपशुसिरासूत्पलनालेषु च वेध्यस्य, घुणोपहतकाष्ठवेणुनलनालीशुष्कालाबूमुखेष्वेष्यस्य, पनसबिम्बीबिल्वफलमज्जमृतपशुदन्तेष्वाहार्यस्य, मधूच्छिष्टोपलिप्ते शाल्मलीफलके विस्राव्यस्य, सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचर्मान्तयोश्च सीव्यस्य, पुस्तमयपुरुषाङ्गप्रत्यङ्गविशेषेषु बन्धनयोग्यां, मृदुषु मांसखण्डेष्वग्निक्षारयोग्यां, मृदुचर्ममांसपेशीषूत्पलनालेषु च कर्णसन्धिबन्धयोग्याम्, उदकपूर्णघटपार्श्वस्रोतस्यलाबूमुखादिषु च नेत्रप्रणिधानवस्तिव्रणवस्तिपीडनयोग्यामिति ॥४॥

पुष्पफल (कूष्माण्ड), अलाबु (घियाकद्दू) कालिन्दक (तरबूजा), त्रपुस (खीरा), एर्वारु (ककड़ी), कर्कारु (ककड़ी भेद), आदि वस्तुओं में छेदन के सब भेदों को दिखाना चाहिये। उत्कर्त्तन (ऊपर को काटना), अपकर्त्तन(नीचे की ओर काटना) ये भी कार्य इन्हीं पर दिखाये। दृति (मश्क), वस्ति (मूत्र से भरी) प्रसेवक (चर्म निर्मित भाण्ड), आदि पानी एवं कीचड़ से भरी वस्तुओं में भेदन योग्य कार्यों को, लोमयुक्त चर्म को फैलाकर उस पर लेखन कार्यों को, मृत पशुओं की सिराओं में तथा कमल नाली में वेधन कार्यों को, घुण से खाई लकड़ी आदि में, वेणु, नल, नाली एवं शुष्क अलाबु के मुखों में एषणी कार्यों को; पनस (कटहल), कन्दूरी, बिल्वफल की मज्जा, मृतपशुओं के दांतों में आहरण कार्यों को, सिम्बल के तख्ते को मोम से लिप्त करके इस पर विस्रावण कार्यों को, वस्त्रादि से या मिट्टी से बनी पुरुष प्रतिमाओं के अंग-प्रत्यङ्ग विशेषों में बन्धनयोग्य कार्यों को, कोमल चर्म, मांस-पेशी तथा कमल नालों में कर्णसन्धिबांधने योग्य कार्यों को, पानी से भरे घड़े में पार्श्व में छेद करके और अलाबु मुख आदि में नेत्र प्रवेशन वस्ति पीड़न कार्यों को दिखाना चाहिये[१]।

वि० मन्तव्य—पनसबिम्बी, बिल्वफल की मज्जा अर्थात् बीज। मधूच्छिष्ट (मोम) से उपलिप्त तख्ती पर विस्रावण के स्थान में लेखन पाठ अधिक उपयुक्त है ॥४॥

भवतश्चात्र—

एवमादिषु मेधावी योग्यार्हेषु यथाविधि।
द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥५॥

उपसंहार, कहा भी है—

इस प्रकार से मेधावी शिष्य पुष्प-फलादि द्रव्यों में यथाविधि कर्माभ्यास करनेवाला कार्यों में मोहित नहीं होता ॥५॥

तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्निकर्मसु।
यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥६॥

इसलिये शस्त्र, क्षार, अग्नि आदि कार्यों में कुशलता चाहने की इच्छा से, जिस कार्य की जिस द्रव्य में समानता देखे, उस द्रव्य में उसी कर्माभ्यास को करना चाहिये ॥६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'विशिखानुप्रवेशनीय' अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था। विशिखा—वैद्यक व्यवसाय का कर्म मार्ग यह अर्थ है। है। हाराणचन्द्र जी ने विशिखा का अर्थ रोगी के घर का मार्ग किया है[१] ॥१,२॥

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृतयोग्येन शास्त्रं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानत्केनानुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहायवता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ॥३॥

गुरु के मुख से शास्त्र को पढ़कर, गुरु के समीप तन्त्रार्थ का अभ्यास करके, कर्मों को देखकर, कर्माभ्यास स्वयं करके, शास्त्र को पढ़ा सकनेवाला, राजा की आज्ञा से (सरकार की आज्ञा प्राप्त करके)

---

१ पुस्त का लक्षण—
"मृदा वा दारुणा वाथ वस्त्रेणाप्यथ चर्मणा।
लोहरत्नैः कृतं वापि पुस्तमित्यभिधीयते ॥
पुस्तो दार्व्यादिमय्यास्त्र्याद्याकृतेरुपादानकारणं यद् वस्तु तदुच्यते ॥ अरुणदत्त०

१ जैन-ग्रन्थों में वैशिखा या विशिखा शब्द आया है। इसका अर्थ यह है कि मल्ल लोग कुश्ती से थककर जहाँ खड़े होकर विश्राम लेते हैं, उसे विशिखा कहते हे। इसके लिये उत्तराध्ययन सूत्र में उज्जैन के अट्टन मल्ल का उपाख्यान दिया है, वह देखना चाहिये।

नख और बाल कटाकर, पवित्र होकर (स्नान करके), सफेद वस्त्र पहिनकर, छत्र लेकर, दण्ड धारण करके, जूता पहिनकर, सुन्दर-सभ्य वेष के साथ, शान्त मन से, मंगल वाणी-व्यवहार से, विना कपटाचरण के, प्राणियों का बन्धु होकर, सहायक के साथ वैद्य को विशिखा-कर्म-मार्ग में (घर में) प्रविष्ट होना चाहिये।

वि० मन्तव्य—शास्त्राध्ययन के अनन्तर-'विशिखा' में प्रवेश किया जाता है। औषधालय खोलकर बैठा जाता है। विशिखा-विपणि (जहाँ लेन देन आदि व्यवहार होता हो), रथ्या (रथ आदि सवारियाँ चलती हों–सुलभ हों), प्रतोली (तोलने-बेचने-खरीदने नापने आदि का कार्य होता हो), पण्य-वीथिका (पैसा-धन के लिये हित-लाभदायक वीथी) बाजार का नाम है और विशिखा का अर्थ है जहाँ विशेषरूप से शयन किया जाय। तात्पर्यार्थ जमकर बैठ जाया जाय। वैद्य को प्रारम्भ में ही लाभ नहीं होने लगता है। वैद्य पुराना ही मान्य होता है। इस विशिखा में अनुकूल-सरल-साधु होकर प्रवेश करना चाहिये और वहाँ इस सूत्र के उपदेशानुसार बोलना, बैठना, चलना तथा रहना चाहिये॥३॥

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत् पृच्छेच्च त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके तत्तु न सम्यक्, षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति ।। ४ ॥

इसके अनन्तर दूत, निमित्त-सुगन्धित वायु आदि, शकुन (पक्षि विशेष, के प्रशस्त वाक्य आदि), मंगल (भरे हुए घड़े, स्वस्तिक आदि), इनकी अनुकूलता (प्रशस्त होने) से, रोगी के घर में पहुँचकर, बैठकर, रोगी को भली प्रकार देखे, स्पर्श करे और पूछे। कई आचार्यों का मत है कि इन तीन ही विज्ञानोपाय (दर्शन, स्पर्श और प्रश्न) से प्रायः करके सब रोग जानने चाहिये। यह ठीक नहीं है। क्योंकि रोगों को जानने की विधि छै प्रकार की है। यथा श्रोत्र, आँख, त्वचा, रसना और नासिका ये पाँच तथा प्रश्न ये छै हैं। चरक ने जिह्वा को ज्ञान का साधन नहीं माना[1] है।

वि० मन्तव्य—जब रोगी देखने जाना हो तो तिथि आदि का विचार करके जाना चाहिये। 'तत्तु न सम्यक्' का तात्पर्य है कि वह समीचीन अर्थात् बहुत ठीक नहीं है (ठीक तो है परन्तु बहुत ठीक नहीं) ॥ ४ ॥

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोमेषु व्रणस्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते—'तत्र सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छति' (सू. अ. २६) इत्येवमादयः, स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः। रसनेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्कसमुत्पत्तिं वेदनासमुच्छ्रयं बलमन्तरग्निं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्तिमप्रवृत्तिं कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्। आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात् ॥ ५ ॥

इनमें श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य विषयों का वर्णन 'व्रणस्राव विज्ञानीय' आदि रोगों में करेंगे। यथा—"सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो गच्छति–" इत्यादि। स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य शीत, उष्ण, श्लक्ष्ण, कर्कश, मृदु, कठिनत्व आदि स्पर्श विशेषों का वर्णन, ज्वर शोफ आदि में करेंगे। चक्षु द्वारा जानने योग्य विषय–शरीर की स्थूलता, कृशता, आयु के लक्षण, बल, वर्ण विकार आदि हैं। रसनेन्द्रिय से जानने योग्य विषय–प्रमेह आदि में मधुर रस आदि हैं (पिपीलिका के उपसर्पण से मधुर रस का ज्ञान होता है)। घ्राणेन्द्रिय से जानने योग्य विषय–अरिष्टलिंग आदि में, अव्रण तथा व्रणों में जो गन्ध विशेष है ये नासिका द्वारा जाने जाते हैं। प्रश्न द्वारा देश, काल, जाति, सात्म्य (चेष्टा जन्य, आहार जन्य), रोगोत्पत्ति वात आदि वेदनाओं की उन्नति, बल, जाठराग्नि, वातमूत्र मल की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति, कितने समय से यह रोग है—इत्यादि बातों को प्रश्न द्वारा जानना चाहिये। वैद्य यदि रोगी श्रोत्रादि किसी इन्द्रिय से हीन हो तो जानने योग्य बातों को रोगी के पास में स्थित पुरुष से पूछकर जाने[1]। (उपर्युक्त रोग विज्ञान के उपाय यदि स्वयं प्रत्यक्ष करने योग्य हों तो उन उपायों के (इन्द्रियों के) इन अधिष्ठानों द्वारा इन्द्रिय विज्ञेय विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये–यह अर्थ श्री घाणेकर जी ने किया है)॥

---

१ रसं तु खलु आतुरशरीरगतम् इन्द्रियवैषयिकमपि अनुमानादवगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यक्षग्रहणमुपपद्यते। तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैव आतुरमुखरसं विद्यात्। यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम्। मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् ॥ चरक वि० अ० ४ ॥

१ आत्मसदृशेषु—इस पाठ में डल्हणाचार्य ने अर्थ और किया है। उसका कहना है कि रोग ज्ञान के जो छै उपाय बताये हैं, उनमें से वातादि दोषों का स्वरूप जानने के लिये जो उपाय उपयोगी हों उनकी सहायता से रोगों का ज्ञान करना चाहिये। कविराज हाराणचन्द्र जी ने 'आत्मा सदृशेषु'-यह पाठ रक्खा है। यह संगत लगता है। आत्मसदृशेषु--पाठ से दोषसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु--'षड्विधेषु--श्रोत्रत्वक्चक्षुरसन[illegible]

एवमभिसमीदय साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्नैवोपक्रमेत, परिसंवत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार से रोगों की परीक्षा भली प्रकार से करके साध्य रोगों की चिकित्सा करे, याप्य रोगों को बढ़ने से रोके और असाध्य रोगों की चिकित्सा न करे। एक साल पुराने रोगों को प्रायः करके छोड़देना चाहिये-क्योंकि ये प्रायः असाध्य होते हैं॥

भवति चात्र—
मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम् ॥ ७ ॥

कहा भी है—

मिथ्यादृष्टा (ठीक प्रकार से न जाने हुए), दुराख्याता (रोगी द्वारा ठीक प्रकार से वर्णन न किये), दुष्परिमृष्टा (ठीक प्रकार से न पूछे या न विचारे हुए), रोग भिषक् को मोहित कर देते हैं-धोखा दे देते हैं॥ ७ ॥

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति। तद्यथा—श्रोत्रियनृपतिस्त्रीबालवृद्धभीरुराजसेवककितवदुर्बलवैद्यविदग्धव्याधिगोपकदारिद्रकृपणक्रोधनानामनात्मवतामनाथानां च, एवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मार्थकामयशांसि प्राप्नोति ॥ ८ ॥

निम्न व्यक्तियों में साध्य रोग भी प्रायः करके (सर्वत्र नहीं) अति कष्टसाध्य होते हैं। यथा--श्रोत्रिय (नित्य वेदाध्यायी, स्नान पाठ करने से), राजा (स्वतन्त्र प्रवृत्ति से), स्त्री (सुकुमारता या लज्जावश), बालक-वृद्ध, भीरु (कोमल-डरपोक होने से) राजसेवक (राजा के अधीन होने से), कितव (जुवारी-कोमल-प्रवृत्ति), दुर्बल, वैद्याभिमानी (वैद्य का तिरस्कार करनेवाला), व्याधि को छिपानेवाला, दरिद्र, कपटी, क्रोधी, अपथ्यसेवी, अजितेन्द्रिय, और अनाथ इन पुरुषों के साध्य रोग भी कष्टसाध्य होते हैं। इस प्रकार विचारकर चिकित्सा में प्रवृत्त होने से धर्म अर्थ काम और यश वैद्य को मिलता है। चरक में कहा है—

सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकाः,
तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः॥
द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निक-
क्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात्
परानुरोधात् बहुचिन्तनाद् भयम्॥

इत्यादि चरक सि० अ० १२।

वि० मन्तव्य—वैद्यविदग्ध—जो अपने को वैद्य समझता हो और अतः-चिकित्सा व्यवस्था में व्यर्थ ननु नच करता हो॥

भवति चात्र—
स्त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासं च वर्जयेत्।
दत्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्भिषग्वरैः ॥ ९ ॥

कहा भी है—

स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठना, एक साथ रहना और स्त्रियों के साथ परिहास, छोड़ देना चाहिये। अन्न आदि से भिन्न स्त्रियों से दी हुई कोई भी वस्तु हो तो ग्रहण नहीं करनी चाहिये[1]। (यह नियम वहाँ के लिये है जहाँ पर चिकित्साव्यवसाय वैद्य करता हो-सर्वत्र नहीं)।

वि० मन्तव्य—यदि स्त्री स्वतन्त्र हो अथवा अपने संरक्षक की सम्मति से अन्न के अतिरिक्त धन आदि कोई द्रव्य देवे तो ले लेना चाहिये। स्त्री ही नहीं-कोई भी व्यक्ति जो देन-लेन में स्वतन्त्र न हो उससे कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिये, अन्यथा बात का बतङ्गड हो सकता है। ९ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो नाम दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

अथातः क्षारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २ ॥

इसके आगे क्षारपाक विधि की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥

शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः, छेद्यभेद्यलेख्यकरणात्त्रिदोषघ्नत्वाद्विशेषक्रियावचारणाच्च ॥ ३ ॥

मण्डलाग्र आदि शस्त्रों में, त्वक्सार आदि अनुशस्त्रों में क्षार ही सब से मुख्य है, (अग्नि एवं जौंक से भी अधिक है) क्योंकि—क्षार से छेदन, भेदन तथा लेखन कार्य हो जाता है। नाना प्रकार की औषधियों से बनने के कारण त्रिदोष नाशक है। विशेष क्रिया करने से-पीने में भी बरता जाने से, यह क्षार मुख्य है॥ ३ ॥

तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः ॥ ४ ॥

क्षरणात्—दुष्ट मांस आदि के काटने से, क्षणनात् त्वचामांस आदि के हिंसन करने से इसे 'क्षार' कहते हैं। चरक ने "भित्वा भित्वाशयान् क्षारः, क्षरत्वात् क्षारयत्यधः" अर्थात्-झरना अर्थ किया है॥ ४ ॥

---

१ चरक में 'न कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषमादातव्यम्। अननुज्ञातञ्च भर्त्राऽथवाऽध्यक्षेण। आमिषं-भोग्यवस्तु।' अन्न-द्रव्य-वृत्ति-जीवनका कारण, होने से ग्राह्य है।

नानौषधिसमवायात्त्रिदोषघ्नः, शुक्लत्वात् सौम्यः, तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा, आग्नेयौषधिगुणभूयिष्ठत्वात्। कटुक उष्णस्तीक्ष्णः पाचनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः ॥४॥

वात पित्त-कफ हर औषधियों से बनने के कारण त्रिदोष-नाशक है। शुक्ल सफेद होने से सौम्य है, क्षार के सौम्य होने पर भी इसमें दहन, पचन (पाक), दारण, आदि कार्यों की शक्ति अप्रतिहत रहती है, क्योंकि इस क्षार में अग्नि गुण की प्रधानता रहती है, इसलिये क्षार कटु रस, उष्ण वीर्य, तीक्ष्ण गुण, व्रण शोथ पाचक, गुल्म आदि का विलायक, दुष्टव्रणादि का शोधक, शुद्धव्रण का रोपक, व्रण क्लेद का शोषक, अति रक्तस्राव का स्तम्भक, कठिन उन्नत मांस का लेखन, कृमि, आम, कफ-कुष्ठ-विष एवं मेद का नाशक, अति मात्रा में सेवन करने से पुंस्त्व नाशक है[1]। (रक्तपित्त में खासकर—गले के रक्तस्राव में, चरक ने '[2]क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य' में शीतल वस्तुओं का क्षार देने को कहा है।

वि०—यदि क्षार को जल आदि के संयोग से मृदु कर लिया जाता है तो वह सौम्य (सोमगुण युक्त) या आह्लादक हो जाता है, यथा—चूना आदि किसी भी क्षार को जल में घोलकर वृश्चिक के दंश पर सेचन करने से विषवेदना-दाह की शान्ति हो जाती है, पीने से पित्तशूल-यकृत्शूल शान्त हो जाता है, पित्त ज्वर में प्लोत रखने से दाह का शमन होता है आदि २। और यदि तीक्ष्ण रहता है तो दाह पाक आदि करता ही है—यह सर्वविदित है। लेप रूप में व्रणशोथ को पकाता है, पक्वव्रण का दारण करता है, चूर्णों आदि में खाने से पाचनआहार का पाचक है, मृदुक्षार व्रण का रोपण करता है, तीक्ष्ण क्षार पूय अथच मांस वृद्धि का लेखन करता है, अधिक मात्रा में खाने से—वमन विरेचन रूपसे शोधन करता है और अल्पमात्रा में खानेसे वमन विरेचन आदि का स्तम्भन भी करता है। विलयन—चना उरद आदि को गलाता है। मीठा सोड़ा मृदुक्षार ही है। शोषण—जिन व्रणों में से पन्छा बहता है उनका मृदुक्षार द्रव द्वारा सेचन करने से अथच मृदुक्षार बुरकने से पन्छा सूख जाता है। कृमिनाशन—साबुन सोड़ा क्षार ही तो है। वह आम को पचाता है, कफ को ढीला करता है, लेपन से दद्रु आदि कुष्ठों को नष्ट करता है, सर्पदंश पर लगाने से विषनाशक है। नौसादर दंशपर लगाया जाता है। मेदोनाशन—पुंस्त्वनाशन—अधिक सेवन करनेसे कृशता तथा नपुंसकता को उत्पन्न करता है। चूना; कली पत्थर का क्षार है, कास्टिक सोड़ा लवण का क्षार है, सज्जी आदि रेह का क्षार है ॥ ५ ॥

स द्विविधः—प्रतिसारणीयः पानीयश्च ॥ ६ ॥

यह क्षार दो प्रकार है। प्रतिसारणीय (प्रतिसारण के योग्य) और पानीय (पीने के योग्य) है।

वि० मन्तव्य—प्रतिसारणीय—लेपन, मलना, लगाना या रगड़ना, घिसना आदि बाह्यप्रयोग का नाम प्रतिसारण है, अञ्जन—दन्त मञ्जन आदि बाह्यप्रयोग ही है। प्रतिसारणके योग्य या उसमें उपयोगी क्षार का नाम "प्रतिसारणीय" है। और चूना का पानी जो यकृत् विकार में तथा मन्दाग्नि में पिया जाता है वह "पानीयक्षार" ही है। किसी क्षार को द्रव में घोल पानीय बनाया जा सकता है—जैसा सोड़ा वाटर ॥६॥

तत्र प्रतिसारणीयः कुष्ठकिटिभदद्रुमण्डलकिलासभगन्दरार्बुदार्शोदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलतिलकालकन्यच्छव्यङ्गमशकबाह्यविद्रधिकृमिविषादिषूपदिश्यते सप्तसु च मुखरोगेषूपजिह्वाधिजिह्वाविजिह्वोपकुशदन्तवैदर्भेषु तिसृषु च रोहिणीषु, एतेष्वेवानुशस्त्रप्रणिधानमुक्तम् ॥ ७ ॥

इनमें प्रतिसारणीय क्षार-कुष्ठ, किटिभ, दद्रु, किलास, मण्डल, भगन्दर, अर्बुद, दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, मशक, बाह्य विद्रधि, कृमि, विष-जंतु मणि आदि में प्रयोग किया जाता है। उपजिह्वा आदि तीन रोहिणी आदि चार—इन सात मुख रोगों में, उपजिह्वा, अधिजिह्वा उपकुश दन्त विदर्भ, रक्तजन्य सन्निपात एवं असाध्य रोहिणी रोग में—क्षार का उपयोग होता है।

हाराणचन्द्र जी का मत है कि प्रथम शस्त्रानुशस्त्र से काम करके पीछे क्षार का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७ ॥

पानीयस्तु गरगुल्मोदराग्निसङ्गाजीर्णारोचकानाहशर्कराश्मर्यभ्यन्तरविद्रधिकृमिविषार्शःसूपयुज्यते ॥ ८ ॥

पानीयक्षार-कृत्रिम विष दूषित विष, गुल्म, उदर, जिन रोगों में अग्नि मन्द हो जाती है; (यथा विसूचिका, अलसक, विलम्बिका आदि) अजीर्ण, अरुचि, आनाह, शर्करा, अश्मरी, अभ्यन्तर विद्रधि, कृमि, विष, अर्श में उपयोग होता है ॥८॥

अहितस्तु रक्तपित्तज्वरितपित्तप्रकृतिबालवृद्धदुर्बलभ्रमदमूर्च्छातिमिरपरीतेभ्योऽन्येभ्यश्चैवंविधेभ्यः ॥ ९ ॥

जिन रोगोंमें क्षार निषिद्ध है—रक्तपित्त, ज्वर, पित्तप्रकृति बाल, वृद्ध, दुर्बल, भ्रम, मद, मूर्च्छा, तिमिर—इन रोगों से आक्रान्त तथा अन्य इसी प्रकार के रोगों से आक्रान्त व्यक्तियों में क्षार का उपयोग नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

तं चेतरक्षारवद् दग्ध्वा परिस्रावयेत्, तस्य विस्तरोऽन्यत्र ॥ १० ॥

---

१ देखिये—चरक—विमान अ० १ में—क्षारं नात्यर्थमुपयुञ्जीत। २—क्षारः पुंस्त्वघ्नानां श्रेष्ठः, चरक सू०।

इस पानीय क्षार को प्रतिसारणीय क्षार की भांति जलाकर तय्यार कर लेना चाहिये। इसका विस्तार अन्यत्र गुल्म अध्याय में है। पानीय क्षार की मात्रा–उत्तमा मात्रा–एक पल, मध्यमा तीन कर्ष, अधमा—आधा पल।

वि० मन्तव्य—पलाश, अपामार्ग आदि क्षारीय द्रव्यों को जलाकर जैसे प्रतिसारणीय—सूखा क्षार बनाया जाता है वैसे ही पानीय क्षार भी बनाया जाता है, परन्तु उसे जल में घोलकर पीने योग्य बना लिया जाता है। इसके निर्माण तथा उपयोग का विस्तार से वर्णन—गुल्म आदि रोगों की चिकित्सा में देखिये ॥ १० ॥

अथेतरस्त्रिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च। तं चिकीर्षुः शरदि गिरिसानुजं शुचिरुपोष्य प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं महान्तमसितमुष्कमधिवास्यापरेद्युः पाटयित्वा खण्डशः प्रकल्प्यावपाट्य निवाते देशे निचितिं कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरारोपयेत्। अथोपशान्तेऽग्नौ तद्भस्म पृथग्गृह्णीयाद्भस्मशर्कराश्च। अथानेनैव विधानेन कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रकबिभीतकारग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारकसप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाश्चतस्रश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा दहेत्। ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्यमूत्रैर्वा यथोक्तैरेकविंशतिकृत्वः परिस्राव्य, महति कटाहे शनैर्दर्व्याऽवघट्टयन् विपचेत्। स यदा भवत्यच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च, तमादाय महति वस्त्रे परिस्राव्येतरं विभज्य पुनरग्नावधिश्रयेत्। तत एव क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं वाऽपनयेत्। ततः कटशर्करामस्मशर्कराक्षीरपाकशंखनाभीरग्निवर्णाः कृत्वाऽऽयसे पात्रे तस्मिन्नेव क्षारोदके निषिच्य पिष्ट्वा तेनैव द्विद्रोणेऽष्टपलसंमितं शंखनाभ्यादीनां प्रमाणं प्रतिवाप्य, सततमप्रमत्तश्चैनमवघट्टयन् विपचेत्। स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तथा प्रयतेत। अथैनमागतपाकमवतार्यानुगुप्तमायसे कुम्भे संवृतमुखे निदध्यादेष मध्यमः ॥ ११ ॥

प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार का है। मृदु, मध्य और तीक्ष्ण। इस क्षार को बनाने की इच्छा से शरद् ऋतु में-पवित्र-एवं उपवास करके पर्वत के समीप-प्रशस्त दिन में उत्तम देश में उत्पन्न, अग्नि आदि से न जले, मध्यम आयुवाले, बहुत बड़े काले फूल के मुष्क (घण्टा पारुलि) वृक्ष के पास जाकर मन्त्र के समान बलि कर्म करे। (भूतों को दूर करने के लिये वृक्ष को बलि कर्म देना चाहिये) [1] इसके दूसरे दिन निम्नमंत्र से—हे अग्नि के समान महावीर्य! तेरी शक्ति नष्ट न हो। कल्याण स्वरूप! यहाँ रहो—मेरे कार्य को करोगे। मेरा कार्य करने के पीछे स्वर्गलोक में जाओगे। श्वेत एवं लाल फूलों से हवन करे—आहुति देनी चाहिये। इस वृक्ष को काटकर—टुकड़े करके, इन टुकड़ों को और छोटा करके, वायु रहित प्रदेश में एकत्रित करके चूने के पत्थर डालकर तिल नालों से जलाये। अग्नि शान्त होने पर तिल नालों की भस्म और भस्म शर्करा पृथक् पृथक् एकत्रित कर लेनी चाहिये [1]। इसी मुष्क की विधि से कुटज (कूड़ा), पलाश (ढाक), अश्वकर्ण (शाल भेद), फरहद, बिभीतक, आरग्वध (अमलतास), तिल्वक, अर्क (आक), स्नुही (थोर), अपामार्ग (चिरचिटा), पाटला, नक्तमाल (करञ्ज), वृष (वासा), कदली, चित्रक, पूतीक (नाटा करञ्ज), इन्द्र वृक्ष (कुटज भेद), आस्फोत (शारिवा), अश्वमार (कनेर), सप्तपर्ण (सतवन), अग्निमन्थ (अरणी) गुञ्जा, कोषातकी—चार प्रकार की (बृहत्फल, श्वेतपुष्प, पीतपुष्प, अल्पफल)—इन वृक्षों को मूल-पत्र, फल-शाखा समेत जलाना चाहिये। (वाग्भट्ट में काकजंघा और यवशूकनाल अधिक है)।

क्षार दहन करने के पश्चात्–दो भाग मुष्क भस्म, एक भाग कुटजादि भस्म (अथवा दोनों परस्पर सम भाग)—मिलित एक द्रोण भस्म लेकर छः द्रोण पानी में मिला देना चाहिये। अथवा 'दुन्दुभि स्वनीय कल्प' में कही विधि से मूत्रों द्वारा २१ बार छान कर—बड़े भारी कड़ाहे में कछड़ी से धीरे धीरे हिलाते हुए पकाना चाहिये। जिस समय यह पकता हुआ क्षार निर्मल, उग्र गन्धवाला, चिपचिपा हो जाय—तब बड़े वस्त्र में इसको छानकर इसके दो भाग कर लेने चाहिये। एक क्षारोदक (नितरा पानी) दूसरा भस्म किट्ट भूत क्षार (नीचे का भाग)। इस क्षारोदक को फिर आग पर रख देना चाहिये—और इस क्षारोदक से एक कुड़व या डेढ़ कुड़व निकाल लेना चाहिये। इसके आगे—कट शर्करा (गांगेष्ठी अभाव में खटिका—खड़िया मिट्टी), भस्म शर्करा (पहिले कही), क्षीरपाक (जलशुक्ति), शंखनाभि (शंखग्रन्थि), इनको लाल अंगारे के समान बनाकर लोहे के पात्र में रक्खे, क्षारोदक में मिलाकर (कट शर्करा) आदि की मात्रा प्रत्येक आठ पल; (कई आचार्य—दो-दो पल प्रत्येक मानते हैं) निर्वापण के लिए बचे क्षारोदक के साथ शंखनाभि आदि को पीसकर (क्षार में गुणोत्पादन के लिए मिलाकर) निरन्तर बिना आलस्य के छार को कछड़ी से हिलाते हुए पाक करना चाहिए। यह क्षार न बहुत घना (ठोस) और न बहुत पतला रहे ऐसा यत्न करना चाहिए। जिस समय यह क्षार पाक हो चुके (पाक के समीप पहुँच जाये) तब इसको

---

१ भोज ने भी कहा है—
निवसन्तीह भूतानि यान्यस्मिन् कानिचित् द्रुमे।
अपक्रामन्त्व श्छेद्यः परार्थे श्वो ह्ययं द्रुमः ॥

१ मुष्क वृक्ष-श्वेतपुष्पः कालपुष्पो रक्तपुष्पस्तथैव च। पीतपुष्पोवरस्तेषु कालपुष्पः प्रकीर्तितः।

आग पर उतारकर लोहे के घड़े में डालकर—मुख बन्द करके खूब छिपाकर रख देना चाहिये[1]। यह मध्यम क्षार है।

वि० मन्तव्य—यदि पाक के पश्चात् कड़ी धूप में सुखा दिया जाय तो सूखा "क्षार" बन जाता है, जैसा—जौखार, नौसादर एवं सज्जी खार आदि बाजार में मिलते हैं। मुष्कक वृक्ष को मोखा भी कहते हैं। गिरिसानुज—पर्वत की चोटी पर उत्पन्न। संक्षेपतः—मोखा आदि किसी एक अथवा कुटज पलाश आदि अनेक क्षारीय काष्ठों या अपामार्ग आदि के पञ्चाङ्ग को जलाकर भस्म बना लें, भस्म को ६–८ गुने जल में भिगो दें या घोल दें—८-१२ प्रहर में भस्म का क्षार घुल जाता है (भस्म नीचे रह जाती है जो फेंक दी जाती है इस में कुछ नहीं रहता) और नितारकर जल को पृथक् कर लिया जाता है। क्षार मिट्टी के पात्र को खार देता है, अतः लोहपात्र लगे अन्यथा क्षार पसीज जाता है, भाण्ड में मोर्चा लग जाता है, वर्ण एवं रस विकृत हो जाते हैं। इससे भी उत्तम काच भाण्ड (बोतल) होता है ॥११॥

एष चैवाप्रतीवापः पक्वः संव्यूहिमो मृदुः ॥१२॥

इसी मध्यम क्षार में यदि प्रतिवाप्य द्रव्यों का प्रक्षेप न करके पाक कर लिया जाये, तो यही मृदुक्षार बन जाता है। (प्रतिवाप्यद्रव्य—शंखनाभि आदि है) ॥१२॥

प्रतिवापे यथालाभं दन्तीद्रवन्तीचित्रकलाङ्गलीपूतीकप्रवालतालपत्रीविडसुवर्चिकाकनकक्षीरीहिंङ्गुवचातिविषाः समाश्लक्ष्णचूर्णाः शुक्तिप्रमाणाः प्रतीवापः। स एव सप्रतीवापः पक्वः पाक्यस्तीक्ष्णः ॥१३॥

तीक्ष्णक्षार—कट शर्करा आदि प्रक्षेप दिये (मध्यम) क्षार में यथायोग्य दन्ती (जमाल-गोटा), द्रवन्ती (मोगलई एरण्ड), चित्रक, लांगली (कलि हारिका), पूतीक पल्लव (नाटा करञ्ज के पत्ते), तालपत्री (मूसली), विडनमक, हुलहुल, कनकक्षीरी (स्वर्ण पुष्पी चोक), हींग, वच, अतीस ये सब शुक्ति प्रमाण में लेकर—बारीक चूर्ण करके मिला देना चाहिये। इन प्रतिवाप्य द्रव्यों के साथ पकाया हुआ क्षारपाक्य नामक तीक्ष्ण, होता है। प्रतिवाप का लक्षण—'द्रवद्रव्ये द्रव्यान्तरं श्लक्ष्णपिष्टं दीयते स प्रतिवाप उच्यते'[1] ॥१३॥

तेषां यथाऽऽव्याधिबलमुपयोगः ॥१४॥

इन मृदु मध्य-तीक्ष्ण-क्षारों का व्याधि के अनुसार उपयोग करना चाहिये ॥१४॥

क्षीणबले तु क्षारोदकमावपेद्बलकरणार्थम् ॥१५॥

यदि काल के कारण अथवा हीनौषधि के कारण क्षार मृदु हो जाये, तब क्षार में पूर्व विधि से बनाया क्षारोदक मिलाकर फिर पाक करना चाहिये, जिससे कि तीक्ष्णता-बल उत्पन्न हो जाये ॥१५॥

भवतश्चात्र—

नैवातितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लक्ष्णोऽथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः ॥१६॥

कहा भी है—

क्षार के गुण दोष—क्षार का अति तीक्ष्ण (१०० तक गिनने से पूर्व यदि क्षार एरण्ड नाल को जला देता है—तो अति तीक्ष्ण) न होना, न मृदु होना, शुक्ल—सफेद, श्लक्ष्ण-(कर्कश न होना), पिच्छिल, अविष्यन्दी (न फैलनेवाला), शिवः (सौम्य), शीघ्र (शीघ्रकारी)—ये क्षार के आठ गुण हैं।

वि० मन्तव्य—अविष्यन्दी—पसीजा हुआ न हो ॥१६॥

अतिमार्दवशैत्यौष्ण्यतैक्ष्ण्यपैच्छिल्यसर्पिताः।
सान्द्रताऽपक्वता हीनद्रव्यता दोष उच्यते ॥१७॥

क्षार के दोष—अति कोमल, बहुत ठण्डा, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, अति पिच्छिल, बहुत फैलनेवाला, बहुत घना, कच्चा पका हुआ (अपक्व), हीन द्रव्यों से बना ये क्षार के दोष हैं। वाग्भट्ट ने अतितनु यह एक दोष क्षार का अधिक दिया है ॥१७॥

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवातातपे देशेऽसंबाधेऽग्रोपहरणीयोक्तेन विधानेनोपसंभृतसंभारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्यावघृष्यावलिख्य प्रच्छयित्वा, शलाकया क्षारं प्रतिसारयेत्, दत्त्वा वाक्शतमात्रमुपेक्षेत ॥

क्षार प्रतिसारण विधि—

क्षार द्वारा साध्य रोग से पीड़ित मनुष्य को वायु रहित, सूर्य के प्रकाश में, खुले स्थान में बिठाना चाहिये। अग्रोपहरणीय अध्याय में कहे प्रशस्त तिथि करण नक्षत्र मुहूर्त्त आदि की विधि से क्षारकर्म के लिये सब समान तैयार करके (यन्त्र-शस्त्र क्षार-अग्नि आदि पास में रखकर) इस रोगी के रुग्ण

---

१ क्षार में गुणाधिक्य के लिये—दक्ष शकृत्-आदि भी डालते हैं। यथा—

'श्लक्ष्णं शकृद्दक्षशिखिगृध्रकंककपोतजम्।
चतुष्पातपक्षि पिताल मनोह्वा लवणानि च ॥

(२) लोहे के पात्र में रखने से गुणाधिक्य है।

(३) मुष्काददह्यमानात्तु रसः प्रच्यवते यदा।
भस्मना सह संयुक्तं काठिन्यमधिगच्छति ॥

१ संव्यूहं हिमस्तथा पाक्यो द्विविधः क्षार इष्यते।
पाक्यस्तु सप्रतिवापः तीक्ष्णोऽन्यस्तु भवेत् पुनः ॥
सुधादिवर्गं पिष्ट्वा तु सिंचेत् क्षारोदकैः शनैः।
तेनैव तं पुनः पिष्ट्वा त्वयः पात्रे निधापयेत् ॥
एष संव्यूह हिमक्षारो मृदुः।

स्थान को देखकर, पित्त दुष्ट स्थान का घर्षण करके, वात दुष्ट स्थान का लेखन करके, कफ दुष्ट स्थान पर पाछने—लगाकर शलाका द्वारा क्षार लगाना चाहिये। क्षार लगाकर सौ अक्षर के बोलने के समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इतने समय में जो क्षार जला देता है, वह क्षार उत्तम है।

वि० मन्तव्य—वाक् शत या १०० मात्रा (१ मिण्ट)॥१८॥

यस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम्।
तत्राम्लवर्गः शमनः सर्पिर्मधुकसंयुतः॥१९॥
अथ चेत् स्थिरमूलत्वात् क्षारदग्धं न शीर्यते।
इदमालेपनं तत्र सममग्रमवचारयेत्॥२०॥

रुग्ण स्थान में जलने से यदि कृष्णिमा उत्पन्न हो जाये तो भली प्रकार से दग्ध समझना चाहिये।

सम्यग् दग्ध होने के पीछे—सौवीरक, तुषोदक, धान्याम्ल आदि अम्लवर्ग को घी एवं मुलहठी से मिलाकर लगाना चाहिये। यह पीड़ा शामक है। यदि जड़ के दृढ़ होने से क्षार से जला हुआ भाग विशीर्ण नहीं होता, तो आगे कहे सम्पूर्ण लेप को लगाना चाहिये।

वि० मन्तव्य—क्षार के प्रभाव को अम्ल रस मन्द तथा शान्त कर देता है, फलतः क्षार से उत्पन्न दाह आदि वेदना शान्त हो जाती है और सूर्य की तीक्ष्ण किरणें भी क्षारीय होती हैं, अतएव 'लू', या 'उष्णोपघात' (शा० सं० प्र० खं अ० ७) में आम का पन्ना या इमली आलू बुखारा का पन्ना (घोल-पानक) पीने से लाभ होता है और चूना से मुखपाक (निनामा-सर्वसर नामक मुख रोग) हो जाने पर काञ्जी के कुरले करने से लाभ होता है। माधुर्य का तात्पर्य है मृदु या मन्द हो जाना। क्षारदग्ध पर अम्लरस को मृदु बनाकर लगाना चाहिये, यथा काञ्जी। तीव्र अम्ल हानिकारक होता है। गन्धकाम्ल आदि अम्ल दाहक होते हैं। क्षार के समान अम्ल भी दाहक होता है परन्तु मृदु कर लेने पर दोनों ही दाह शामक हो जाते हैं।

अम्लकाञ्जिकबीजानि तिलान् मधुकमेव च।
प्रपेष्य समभागानि तेनैनमनुलेपयेत्॥२१॥
तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः।

लेप—अम्ल काञ्जि के नीचे स्थित द्रव्य (किण्व), तिल, मुलहठी, इनको समान भाग में पीसकर क्षारदग्ध स्थान पर लेप करना चाहिये। क्षारदग्ध भाग के विशीर्ण होने के पश्चात् उत्पन्न व्रण में व्रण को भरने के लिये मुलहठी के साथ तिल कल्क को घी में मिलाकर लगाने से क्षार जन्य व्रण भर जाता है। (संग्रह में—मालती वृषांकोलनिम्बास्फोतपटोलीकरवीरपत्र-क्वाथेन व्रणप्रक्षालनम्। एषामेव च कल्कक्वाथे सिद्धं सर्पिस्तैलं वा रोपणम्)॥२१॥

रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन वीर्योष्णेन च योजितः॥२२॥
आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति।
एवं चेन्मन्यसे वत्स! प्रोच्यमानं निबोध मे॥२३॥
अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत्।
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा।
अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसे॥२४॥
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति।
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निमद्भिरिवाप्लुतः॥२५॥

हे वत्स! यदि तुम यह समझो कि तीक्ष्ण गुण युक्त, उष्ण वीर्य, आग्नेय गुणी अम्लरस से मिलकर अग्नि के समान गुणी क्षार किस प्रकार शान्त होता है—तो इसको सुनो—क्षार में अम्ल को छोड़कर और सब रस होते हैं। क्षार में कटु रस की प्रधानता रहती है और लवण रस अनुरस हैं। (कइयों का विचार है कि लवण रस प्रधान रहता है और कटुरस अनुरस होता है, क्योंकि अम्ल खाने पर, लवण रस ही खाते हैं)। तीक्ष्णलवणरस अम्लरस के साथ मिलकर बहुत अधिक मधुर हो जाता है। अपनी तीक्ष्णता को छोड़ देता है। माधुर्य के कारण शान्त हो जाता है, जिस प्रकार की आग पानी से शान्त हो जाती है। (चरक में कहा है—'क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः')। [1]चरक चि० अ० २४॥२२-२५॥

तत्र सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमनास्रावश्च।
हीनदग्धे तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च।
अतिदग्धे दाहपाकरागस्रावाङ्गमर्दक्लमपिपासामूर्च्छाः स्युर्मरणं वा॥२६॥

सम्यक् प्रकार से जलने पर—अङ्गों में लघुता आ जाती है, रोग की शान्ति और किसी प्रकार का स्राव नहीं होता।

हीन दग्ध—(कम जलने पर) होने पर—तोद (पीड़ा), कण्डू एवं जड़ता तथा रोग की वृद्धि होती है।

अति दग्ध होने पर—दाह (जलन), पाक (पकना), राग (लालिमा), स्राव, अङ्गमर्द (अङ्गों का टूटना), क्लम (ग्लानि), पिपासा, मूर्च्छा अथवा मृत्यु होती है॥२६॥

क्षारदग्धव्रणं तु यथादोषं यथाव्याधि चोपक्रमेत्॥२७॥

क्षार से जले व्रण की—दोषानुसार—तथा रोग की अपेक्षा से चिकित्सा करनी चाहिये॥२७॥

अथ नैते क्षारकृत्याः--तद्यथा--दुर्बलबालस्थविरभीरुसर्वाङ्गशूनोदरिरक्तपित्तगर्भिण्यृतुमतीप्रवृद्धज्वरिप्रमेहिरूक्ष-

---

१ अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः।
यात्याशु स्वादुतां तस्मान्निर्वापयेत्तराम्॥

(२) यतश्चोष्णतमः क्षारः शैत्यं चाऽम्लरसेऽधिकम्।
तस्मात् सेकप्रदेहाभ्यामम्लं क्षारं निवर्त्तयेत्॥वाग्भट॥

क्षतक्षीणतृष्णामूर्च्छोपद्रुतक्लीबापवृत्तोद्वृत्तफलयोनयः ॥

निम्न पुरुषों में क्षार कर्म नहीं करना चाहिये—यथा—दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, जिसके सब अङ्गों पर सूजन आ गई हो, उदर रोगी, रक्तपित्त रोगी, गर्भिणी, ऋतुमती, तीव्र ज्वर रोगी, प्रमेही, उरःक्षत रोगी, क्षीण, तृष्णा रोगी, मूर्च्छा रोगी, क्लीब, क्षीण शुक्र, स्थान से योनि के ऊपर चढ़ जाने पर या स्थान से योनि के भ्रंश हो जाने पर, स्थान से अण्ड के ऊपर चढ़ जाने पर, तथा स्थान से अण्ड के भ्रंश हो जाने पर क्षारकर्म नहीं करना चाहिये। (इनमें कुछ रोगी प्रतिसारणीय क्षार के, कुछ पानीय क्षार के लिये निषिद्ध हैं। सर्वाङ्गशूनोदरी को कोई पृथक् पृथक् मानकर, जिसका सारा शरीर सूज गया, एवं जलोदरी में क्षार कर्म न करे—ऐसा अर्थ करते हैं)।

वि० मन्तव्य—यहाँ योनि—गर्भाशय या धरा का नाम है ॥२८॥

तथा मर्मसिरास्नायुसन्धितरुणास्थिसेवनीधमनीगलनाभिनखान्तःशेफःस्रोतःस्वल्पमांसेषु च देशेष्वक्ष्णोश्च न दद्यादन्यत्र वर्त्मरोगात् ॥२९॥

प्रदेश विशेष से निषेध—मर्म, शिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि, सेवनी, धमनी, गल, नाभि, नख, शिश्न के अन्दर स्रोतों में, जिन स्थानों में मांस कम हो, और वर्त्म रोग को छोड़कर आँखों में भी क्षार कर्म नहीं करना चाहिये ॥२९॥

तत्र क्षारसाध्येष्वपि व्याधिषु शूनगात्रमस्थिशूलिनमन्नद्वेषिणं हृदयसन्धिपीडोपद्रुतं च क्षारो न साधयति ।३०।

क्षार कर्म द्वारा साध्य रोगों में भी—निम्न अवस्थाओं में क्षार कर्म सफल नहीं होता। जिनका शरीर सूज गया हो, अस्थि शूल युक्त, अन्नद्वेषी, हृदयरोगी, सन्धिरोगी में क्षार कर्म सफल नहीं होता। (दुर्बल, बालक और वृद्ध आदि प्रतिसारणीय क्षार के लिये अयोग्य हैं)।

वि० मन्तव्य—तीक्ष्ण या तीव्रक्षार—सचमुच विष के समान विषादजनक या मारक, अग्नि के समान दाहक—जलन उत्पन्न करनेवाला, शस्त्र के समान छेदन-भेदन करनेवाला और बिजली के समान सद्योमारक होता है। कास्टिक सोड़ा, लवणाम्ल (लवण का तेजाब), तथा अन्यान्य क्षार कितने भयानक हैं यह सर्वसाधारण भी जानते हैं। इनका प्रयोग लगाने तथा खाने में बहुत सोच-समझकर करना चाहिये ॥३०॥

भवति चात्र—

विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः
क्षारो भवत्यल्पमतिप्रयुक्तः ।
स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो
रोगान्निहन्यादचिरेण घोरान् ॥३१॥

कहा भी है—

अल्प मतिवाले मनुष्य से प्रयुक्त कियाहुआ क्षार—विष, अग्नि, शस्त्र, बिजली के समान मारक होता है। वही क्षार बुद्धिमान् मनुष्य से प्रयुक्त किया जल्दी से तीव्र रोगों को शान्त कर देता है, जिस प्रकार विष—मनुष्य को शीघ्र मार देता है, उसी प्रकार से क्षार भी ठीक प्रकार से प्रयोग न किया हुआ—मनुष्य को मार देता है[1] ॥३१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

अथातोऽग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे अग्नि कर्म की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—अग्नि द्वारा दागना, रुग्ण स्थान को जलाना आदि "अग्निकर्म" कहाता है ॥१,२॥

क्षारादग्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भावाद्भेषजशस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च ॥३॥

क्षार (गुरु) से अग्नि कर्मों में श्रेष्ठ (गुरुतर) है। अग्नि से जले हुए रोगों के फिर उत्पन्न न होने के कारण, भेषज-शस्त्र एवं क्षार द्वारा असाध्य रोगों के इसके द्वारा साध्य होने से अग्नि श्रेष्ठ है। (अंग्रेजी में दाह को 'एक्च्युल कौटरी' कहते हैं। इसके सिवाय विद्युत् तथा आग से दहन कर्म होता है) ॥३॥

अथेमानि दहनोपकरणानि भवन्ति—तद्यथा—पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्ठेतरलौहाः क्षौद्रगुडस्नेहाश्च। तत्र, पिप्पल्यजाशकृद्गोदन्तशरशलाकास्त्वग्गतानां, जाम्बवोष्ठेतरलौहा मांसगतानां, क्षौद्रगुडस्नेहाः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम् ॥४॥

---

१ तन्त्रान्तर में क्षारविधि—
प्रशस्तेऽहनि नक्षत्रे कृतं मंगलपूर्वकम् ।
कालमुष्ककमादाय दग्ध्वा भस्म सभावयेत् ॥
आढकं त्वेकमादाय जलद्रोणे पचेद् भिषक् ।
चतुर्भागावशिष्टं तु वस्त्रपूतेन वारिणा ॥
शंखचूर्णस्य कुडवं प्रक्षिप्य विपचेत् पुनः ।
शनैर्मृद्वग्निना पाच्यं यावत् सान्द्रं तनुर्भवेत् ॥
सर्जिकायावशूकाभ्यां शुण्ठीमरिचपिप्पलीः ।
वचामतिविषां चैव हिंगुचित्रकयोस्तथा ॥
एषां चूर्णं विनिक्षिप्य पृथक्त्वेनाष्टमाषकम् ।
दर्व्या संघट्टितं चापि स्थापयेदायसे घटे ।
एष वह्निसमः क्षारः कीर्तितः काश्यपादिभिः ॥
भानुमती ।

दहन कार्य के निम्न साधन हैं। यथा—पिप्पली, अजा शकृत् (बकरी की मींगनी), गाय का दन्त, शर, शलाका, जाम्बवौष्ठ, इतरलौह (लोहा ताँबा-चाँदी आदि), शहद, गुड़ और स्नेह (तैलादि)। इनमें पिप्पली, अजाशकृत्, गोदन्त, शर, शलाका से त्वचा के रोगों में, जाम्बवौष्ठ, इतरलोह से मांस के रोगों में, मधु, गुड़ और स्नेह से सिरा, स्नायु, सन्धिगत रोगों में अग्निकर्म करना चाहिये ॥४॥

तत्राग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्यां, तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मसाध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा ॥५॥

शरद् (पित्तप्रकोप के कारण), और ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य सब ऋतुओं में अग्निकर्म करना चाहिये। इन ऋतुओं में भी यदि आवश्यकता पड़े तो, विपरीत उपचार (शीताच्छादन, भोजन आदि) करके, अग्निकर्मसाध्य रोगों में अग्निकर्म करना चाहिये। यथा—चरक में—"आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगसंस्कारप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा प्रयोजयेत्" ॥५॥

सर्वव्याधिष्वृतुषु च पिच्छिलमन्नं भुक्तवतः मूढगर्भाश्मरीभगन्दरोदरार्शोमुखरोगेष्वभुक्तवतः कर्म कुर्वीत॥६॥

सब रोगों में और सब ऋतुओं में पिच्छिल (बलकारक) गुणवाला अन्न खिलाकर अग्निकर्म करना चाहिये। मूढ़गर्भ, अश्मरी, भगन्दर, अर्श, मुखरोगों में बिना भोजन कराये कर्म करना चाहिये ॥६॥

तत्र द्विविधमग्निकर्माहुरेके-त्वग्दग्धं मांसदग्धं च, इह तु सिरास्नायुसन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः ॥७॥

कई आचार्यों का मत है कि—अग्निकर्म दो प्रकार का है। यथा—त्वग्दग्ध और मांसदग्ध। इस शास्त्र में सिरास्नायु, सन्धि, अस्थि आदि में आवश्यकतानुसार अग्निकर्म करना चाहिये, इसमें अग्निकर्म का निषेध नहीं है[१] ॥७॥

तत्र, शब्दप्रादुर्भावो दुर्गन्धता त्वक्संकोचश्च त्वग्दग्धे, कपोतवर्णताऽल्पश्वयथुवेदना शुष्कसंकुचितव्रणता च मांसदग्धे, कृष्णोन्नतव्रणता स्रावसन्निरोधश्च सिरास्नायुदग्धे रूक्षारुणता कर्कशस्थिरव्रणता च सन्ध्यस्थिदग्धे ॥८॥

त्वचा के जलने पर—शब्दोत्पत्ति, दुर्गन्धता और त्वचा का संकोच होता है। मांस के जलने पर—कबूतर का जैसा नीला रङ्ग, थोड़ी सूजन, वेदना; व्रण शुष्क और संकुचित होता है। सिरा एवं स्नायु के जलने पर—काला रङ्ग, व्रण का ऊपर उठ जाना, और स्राव का निरोध हो जाता है। सन्धि-अस्थि के जलने पर—रूक्षता, लालिमा, कर्कशता और व्रण में कठिनता आ जाती है ॥८॥

तत्र शिरोरोगाधिमन्थयोर्भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्, वर्त्मरोगेष्वार्द्रालक्तकप्रतिच्छन्नां दृष्टिं कृत्वा वर्त्मरोमकूपान् ॥९॥

शिर के रोगों में तथा अधिमन्थ (अक्षिरोग) में— भ्रू, ललाट, शङ्ख प्रदेश में दाह कर्म करना चाहिये। वर्त्म रोगों में दृष्टि को गीले वस्त्र से ढाँपकर पलकों के बालों को जड़ों में जलाना चाहिये ॥९॥

त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिस्थितेऽत्युग्ररुजि वायावुच्छ्रितकठिनसुप्तमांसे व्रणे ग्रन्थ्यर्शोर्बुदभगन्दरापचीश्लीपदचर्मकीलतिलकालकान्त्रवृद्धिसन्धिसिराच्छेदनादिषु नाडीशोणितातिप्रवृत्तिषु चाग्निकर्म कुर्यात् ॥१०॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायुसन्धि-अस्थि में स्थित वायु की तीव्र वेदना में, व्रण में मांस उठ जाये, चेतना रहित मांसयुक्त व्रण में, ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर, अपची, श्लीपद, चर्मकील, तिलकालक, अन्त्रवृद्धि, सन्धि रोग, सिरा, छेदन आदि कार्यों में, नाड़ीव्रण, रक्त के अतिस्राव होने पर—अग्निकर्म करना चाहिये ॥१०॥

तत्र वलय-बिन्दु-विलेखा-प्रतिसारणानीति दहनविशेषाः ॥११॥

रोग के आश्रय भेद से अग्निकर्म चार प्रकार का है। यथा—वलय (गोल चिह्न), बिन्दु, विलेखा (तिरछी, ऋजु, टेढ़ी—नाना प्रकार की रेखायें) प्रतिसारण—(गरम लोहे की शलाकाओं से अवघर्षण), ये दहनकर्म के भेद हैं। इसके अतिरिक्त संग्रह में—अर्धचन्द्र, स्वस्तिक और अष्टापद तीन अधिक दिये हैं ॥११॥

भवति चात्र—

रोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यङ्-
नरस्य मर्माणि बलाबलं च।
व्याधिं तथर्तुं च समीक्ष्य सम्यक्
ततो व्यवस्येद्भिषगग्निकर्म ॥१२॥

कहा भी है—

रोगोत्पत्ति के स्थान को भली प्रकार देखकर, मनुष्य के मर्मों का बल और अबल का विचार करके, ऋतु, आदि को देखकर वैद्य अग्निकर्म में प्रवृत्ति या निवृत्ति का निश्चय करे[१] ॥१२॥

---

१ कई आचार्यों से अभिप्राय—काश्यप से है। यथा—
"न सिरास्नायुसन्ध्यस्थिमर्मस्वपि कथंचन।
देशस्योत्कर्त्तनं कार्यं दाहो वा भिषजाऽग्निना॥"
परन्तु रक्तातिस्राव की अवस्था में इनके अन्दर भी अग्निकर्म करना चाहिये। यथा 'सिरास्नायुसन्ध्यस्थिच्छेदशोणितातिप्रवृत्तिषु सिरादिदाहः'। संग्रहः।

१ संग्रह में दाहविधि—अथ दाहार्हमातुरं कृतस्वस्त्ययनमपहृतसर्वोपकरणं प्राक्शिरःसंविष्टमाप्ताव-

तत्र सम्यग्दग्धे मधुसर्पिभ्यार्मभ्यङ्गः ॥ १३ ॥

भली प्रकार से जलने पर—वेदना की शान्ति के लिये घी और शहद से मालिश करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—अभ्यङ्ग का अर्थ-अभितः-सब ओर-अञ्जन-आञ्जना लगाना है ॥ १३ ॥

अथेमानग्निना परिहरेत्—पित्तप्रकृतिमन्तःशोणितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशल्यं दुर्बलं बालं वृद्धं भीरुमनेकव्रणपीडितमस्वेद्यांश्चेति ॥ १४ ॥

निम्न पुरुषों में अग्निकर्म नहीं करना चाहिये—पित्त-प्रकृति, अन्तःशोणित (भिन्न-कोष्ठ), जिसका शल्य न निकला हो, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, अनेक व्रणों से पीड़ित, स्वेदन कार्य के अयोग्य व्यक्तियों में अग्निकर्म नहीं करना चाहिये। अन्तः-शोणित रक्त-पित्त रोगी, भिन्न कोष्ठ-अतिसार रोगी है। इसके सिवाय चरक नेत्र-एवं कुष्ठव्रण में अग्निकर्म का निषेध किया है।

वि० मन्तव्य—अस्वेद्यों को चि० स्था० अ० १२ में देखिये ॥ १४ ॥

अत ऊर्ध्वमितरथा दग्धलक्षणं वक्ष्यामः। तत्र, स्निग्धं रूक्षं वाऽऽ (चा) श्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति, अग्निसंतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वात्त्वगादीननुप्रविश्याशु दहति, तस्मात् स्नेहदग्धेऽधिका रुजो भवन्ति॥१५॥

इसके आगे अन्य प्रकार से जले हुए व्यक्तियों के लक्षण कहते हैं। स्निग्ध द्रव्य (घी आदि) या रूक्ष द्रव्य (लोहा आदि) का आश्रय लेकर अग्नि जलाती है। आग से गरम स्नेह सूक्ष्म सिराओं का अनुसरण करके त्वचा आदि में घुसकर शीघ्र जलाता है। इसलिये स्नेह से जलने पर अधिक पीड़ा होती है ॥ १५ ॥

तत्र प्लुष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं चेति चतुर्विधमग्निदग्धम्। तत्र यद्विवर्णं प्लुष्यतेऽतिमात्रं तत् प्लुष्टं; यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्राश्चोषदाहरागपाकवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तद् दुर्दग्धं, सम्यग्दग्धमनवगाढं तालवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं च, अतिदग्धे मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति, व्रणश्चास्य चिरेण रोहति, रूढश्च विवर्णो भवति। तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्धलक्षणमात्मकर्मप्रसाधकं भवति ॥ १६ ॥

आग से जला चार प्रकार का होता है। यथा—प्लुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध, और अतिदग्ध। इसमें प्लुष्ट-स्वाभाविक रङ्ग से विकृत रङ्ग हो जाये और झुलस जाये वह प्लुष्ट है। जिस दाह में छाले उठ आते हैं, चोष (वेदना), जलन, लालिमा, पाक और पीड़ा बहुत हो तथा वेदना देर में शान्त होती हो; उसे दुर्दग्ध कहते हैं। भली प्रकार से जला-अतिदग्ध लक्षणों से रहित, पके हुए ताल फल के समान रङ्गवाला, भली प्रकार स्थिर (न बहुत ऊँचा न नीचा), पूर्व लक्षणों से युक्त (त्वचा-मांस सिरा के दाह लक्षणों से युक्त) होता है। अतिदग्ध की अवस्था में, मांस का लटकना, शरीर का विघटन, सिरा-स्नायु सन्धि-अस्थि का नष्ट होना, तीव्र ज्वर, दाह, पिपासा, मूर्च्छा आदि उपद्रव होते हैं। इस प्रकार व्रण बहुत देर में भरता है, भर जाने पर भी, विवर्णता हो जाती है। यह चार प्रकार के अग्निदग्ध के लक्षण-वैद्य को अपने चिकित्साकर्म की सफलता देनेवाले हैं।

वि० मन्तव्य—रूढश्च विवर्णो भवति-किसी किसी को श्वित्र—श्वेत दाग हो जाता है ॥ १६ ॥

भवन्ति चात्र—

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीयते ॥१७॥
तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते ॥१८॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च बाधते।

कहा भी है—

अग्नि से विदग्ध हुआ रक्त बहुत अधिक कुपित हो जाता है। इस कुपित रक्त से मनुष्य का पित्त भी कुपित हो जाता है—क्योंकि दोनों के गुण-धर्म समान हैं। दोनों रक्त-एवं पित्त समान वीर्य (उष्ण), समान रस (कटु) समान हेतु तथा अधिकारवाले (सदृश एवाधारो वह्नेः पित्तस्यापि) हैं। इस कारण से जले मनुष्य में तीव्र वेदना होती है। और स्वभाव से विदाह हो जाता है। भयानक छाले उत्पन्न हो जाते हैं, तथा ज्वर एवं तृष्णा उत्पन्न होती है ॥१७-१८॥

दग्धस्योपशमार्थाय चिकित्सा संप्रवक्ष्यते ॥१९॥
प्लुष्टस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं तथौषधम्।
शरीरे स्विन्नभूयिष्ठे स्विन्नं भवति शोणितम् ॥२०॥
प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम्।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं नतु शीतं कथंचन ॥२१॥

चिकित्सा कर्म—जले की शान्ति के लिये चिकित्सा कर्म कहते हैं। प्लुष्ट दाह में अग्निकर्म (जले हुए पर जलाना) एवं उष्ण औषध लगानी चाहिये। शरीर के अत्यन्त स्विन्न होने पर रक्त भी स्विन्न हो जाता है। यदि इस समय शीतोपचार किया जायेगा तो, पानी स्वभाव से शीतल है, वह रक्त को और भी अधिक घट्टा (गाढ़ा) कर देगा। इसलिये उष्ण उपचार सुख देता है, शीतक्रिया सुख नहीं देती। अतः बाह्य उष्ण चिकित्सा करें।

लम्बितं कृत्वा वैद्यो निर्धूमबृहत्स्थिरदीप्तखदिरबदराद्यंगारैः अयोघटनप्रकारेण भस्मानिलाध्माते: व्यजनेनं चोर्ध्वनिर्गच्छ ज्वाला……जाम्बौष्ठाग्निभिः व्याधिप्रदेशवशात् वलयार्धचन्द्रस्वस्तिक……आतुरमाश्वासयन् दहेत्सम्यक् दाहलिंगोत्पत्तेः।

वि० मन्तव्य—प्लुष्ट का अग्नि द्वारा प्रतपन-तपाना अर्थ है जलाना नहीं ॥ १९-२१ ॥

शीतामुष्णां च दुर्दग्धे क्रियां कुर्याद्भिषक् पुनः ।
घृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवास्य कारयेत् ॥ २२ ॥

दुर्दग्ध अवस्था में वैद्य को शीतल एवं उष्ण क्रिया करनी चाहिये । मूल भाग के जलने पर स्विन्नरक्त के निर्वापण के लिये शीतल क्रिया करनी चाहिए । यदि बहुत अधिक भाग न जला हो तो स्विन्न रक्त को पिघलाने के लिए उष्ण क्रिया करनी चाहिए । (अतिशय दाह में शीत क्रिया, बहुत न जलने पर उष्ण क्रिया करनी चाहिए) । घी का आलेपन आदि एवं क्वाथ आदि से सेचन ठण्डी अवस्था में करना चाहिए ॥ २२ ॥

सम्यग्दग्धे तुगाक्षीरीप्लक्षचन्दनगैरिकैः ।
सामृतः सर्पिषा स्निग्धैरालेपं कारयेद्भिषक् ॥ २३ ॥
ग्राम्यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मांसैः प्रलेपयेत् ।
पित्तविद्रधिवच्चैनं संततोष्माणमाचरेत् ॥ २४ ॥

सम्यक् दग्ध अवस्था में—वंशलोचन, पिलखन, चन्दन लाल, गेरू, गिलोय, इनको घी में मिलाकर आलेप करना चाहिए । वात शान्ति के लिए—अश्व आदि आनूप पशुओं के मांस को पीसकर लेप करना चाहिए । सम्यक् दग्ध अवस्था में निरन्तर दाह होने पर पित्तविद्रधि के समान चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २३,२४ ॥

अतिदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलाम् ।
क्रियां कुर्याद्भिषक् पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥ २५ ॥
तिन्दुकीत्वक्कपालैर्वा घृतमिश्रैः प्रलेपयेत् ।
व्रणं गुडूचीपत्रैर्वा छादयेदयवौदकैः ॥ २६ ॥
क्रियां च निखिलां कुर्याद्भिषक् पित्तविसर्पवत् ।

अति दग्ध की अवस्था में लटके हुए मांस को निकालकर शीतल क्रिया करनी चाहिए । पीछे से धान्य के चावलों के कणों को या—तिन्दुकी की छाल एवं मिट्टी के खपरे को घी में मिलाकर प्रलेप करना चाहिए । पीछे से गिलोय के पत्रों से या कमल आदि पानी में उत्पन्न वृक्षों के पत्तों से व्रणों को ढाँप देना चाहिए । वैद्य को चाहिए कि पित्त विसर्प के समान सम्पूर्ण क्रिया करे । पित्त-रक्त से आक्रान्त व्रण-गिलोय पत्र आदि के ढांपने से गरमी को छोड़कर शीघ्र भरता है । ('तिन्दुकीत्वक्कपालैः' के स्थान पर 'तिन्दुकीत्वक्कषायैः' यह पाठ भी है) ॥ २५,२६ ॥

मधूच्छिष्टं समधुकं रोध्रं सर्जरसं तथा ॥ २७ ॥
मञ्जिष्ठां चन्दनं मूर्वां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ।
सर्वेषामग्निदग्धानामेतद्रोपणमुत्तमम् ॥ २८ ॥
स्नेहदग्धे क्रियां रूक्षां विशेषेणावचारयेत् ।

मधूच्छिष्ट (मोम), मुलहट्ठी, पठानी लोध, राल, मजीठ, लालचन्दन, मूर्वा, इनको पीसकर घी सिद्ध करना चाहिए । यह सब प्रकार के जले हुए व्रणों में हितकारी है ।

तैलादि स्नेह से जलने पर रूक्ष क्रिया को विशेष रूपसे करना चाहिए रूक्ष दग्ध अवस्था में स्नेहन क्रिया करनी चाहिए ॥ २७,२८ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् ॥ २९ ॥
श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते ।
चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥ ३० ॥
सधूमकं निःश्वसिति घ्रेयमन्यन्न वेत्ति च ।
तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ॥ ३१ ॥
तृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति ।
धूमोपहत इत्येषः, शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥ ३२ ॥

इसके आगे धूम से पीड़ित व्यक्तियों के लक्षण कहते हैं । रोगी कठिनाई से श्वास लेता है, छींकें आती हैं । बहुत आध्मान होता है, खांसता है, आंखों में जलन होती है, आंखें लाल होती हैं । श्वास में धूम की गन्ध आती है किसी दूसरी गन्ध को नहीं पहचानता । सब प्रकार के रसों को नहीं पहिचानता । रोगी की सुनने की शक्ति नष्ट हो जाती है । तृष्णा, दाह, ज्वर होता है, मूर्च्छा होती है, ये धूम से पीड़ित व्यक्ति के लक्षण होते हैं । इसकी चिकित्सा सुनिए ।

वि० मन्तव्य—अधिक धूमपान से, अधिक समय धूम में रहने से उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और सीदति-अवसाद-शिथिलता हो जाती है, और मृत्यु हो जाती है । अनेक बार सुना है कि—किवाड़ बन्द करके, कोयले सुलगाकर कुछ व्यक्ति सो गए और सोये ही रह गये । इस प्रकार धूम के प्रभाव से नर की अपेक्षा नारी की मृत्यु शीघ्र होती है । पशु और भी शीघ्र मरते देखे गए हैं ॥ २९–३२ ॥

सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा ।
मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥ ३३ ॥
वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद् धूमगन्धश्च नश्यति ।
विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥ ३४ ॥
दाहमूर्च्छातृडाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः ।
मधुरैर्लवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥ ३५ ॥
सम्यग्गृह्णातीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति ।
शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शास्त्रवित् ॥ ३६ ॥
दृष्टिर्विशुध्यते चास्य शिरोग्रीवं च देहिनः ।
अविदाहि लघु स्निग्धमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥ ३७ ॥

वमन के लिए—घी, गन्ने का रस, किसमिसों का पानी, शक्कर का पानी, मधुर अम्ल (खट्टा-मीठा) रस देना चाहिए । वमन होने से कोष्ठ की शुद्धि हो जाती है और धूम की गन्ध नष्ट होती है । अङ्गों की ग्लानि,

वमन, ज्वर इस प्रकार से शान्त हो जाते हैं। दाह-मूर्छा, प्यास, आध्मान, तीव्र-श्वास एवं कास–मधुर, अम्ल, लवण और कटु रसवाले गरारों (कवलों) से शान्त हो जाते हैं। इन्द्रियों के विषयों को भली प्रकार से ग्रहण करता है और मन भी प्रसन्न हो जाता है। शास्त्र को जाननेवाला वैद्य मात्रा में इस रोगी को शिरोविरेचन देवें। इससे रोगी की दृष्टि साफ हो जाती है। अविदाही, लघु, स्निग्ध भोजन इसको देना चाहिये[1]॥

उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा।
शीतवर्षानिलैर्दग्धे स्निग्धमुष्णं च शस्यते ॥३८॥
तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिर्नास्ति कथंचन।
इन्द्रवज्राग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत् ॥
स्नेहाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रदेहैश्च तथा भिषक् ॥३९॥

उष्ण वात (लू लगने पर), धूप (sunstroke) से जलने पर शीतल क्रिया करनी चाहिये। शीत (वर्फ हिम से), वर्षा (झंझावात) मिश्रित वायु से दग्ध होने पर उष्ण एवं स्निग्ध क्रिया करनी चाहिये। अतितेजस (वज्राग्नि) से जलने पर मनुष्य नहीं बचता। इन्द्राग्नि (बिजली) से जलने पर यदि मनुष्य जीवित हो तो–स्नेह, अभ्यङ्ग परिषेक, प्रदेहों से चिकित्सा करनी चाहिये[2]।

वि० मन्तव्य—हिमालय पर कभी-कभी ऐसा शीत (बर्फ) तथा वर्षा पड़ती है और वायु चलती है जिससे प्राणी-वृक्ष पौधे झुलस जाते हैं, कभी-कभी—हिमालय की तराई में ऐसा होता है ॥३८,३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽग्निकर्मविधिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अथातो जलौकावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'जलौकावचारणीय' अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः ॥३॥

जौंक का विषय—नृप, धनी, वृद्ध, भीरु, दुर्बल, स्त्री, कोमल प्रकृतिवाले पुरुषों के उपकार के लिये रक्तावसेचन कार्य में जौंक का उपयोग अत्यन्त कोमल उपाय है। प्रच्छन एवं सिरा व्यधन कष्टदायी है ॥३॥

तत्र वातपित्तकफदुष्टशोणितं यथासंख्यं शृङ्गजलौकालाबुभिरवसेचयेद्विशेषतस्तु विस्राव्यं सर्वाणि सर्वैर्वा ॥

इनमें वात से दूषित रक्त को सींगी से, पित्त से दूषित रक्त को जौंक से, और कफ से दूषित रक्त को अलाबु से निकालना चाहिये। अथवा—विस्राव्य रक्त को इन तीनों से ही निकालना चाहिये। क्योंकि ये उपकरण स्निग्ध, शीत एवं रूक्ष हैं[1] ॥४॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—
उष्णं समधुरं स्निग्धं गवां शृंगं प्रकीर्तितम्।
तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥५॥
शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा।
तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने ॥६॥
अलाबु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णं च परिकीर्तितम्।
तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥७॥

कहा भी है—

गाय का सींग—उष्णवीर्य, मधुर, स्निग्ध गुणवाला है। इसलिये वातदूषित रक्त को निकालने के लिये श्रेष्ठ है। जौंक-शीत घर में अर्थात् जल में रहती हैं, मधुर हैं और पानी से उत्पन्न होती हैं। इसलिये पित्तदूषित रक्त को निकालने के लिये उत्तम हैं। अलाबु (तुम्बी) कटुरस, रूक्ष एवं तीक्ष्ण है। इसलिये कफदूषित रक्त को निकालने में प्रशस्त है। चरक में कहा है—

भिषग् वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्।
पित्तान्वितं जलौकाभिः कफान्वितमलाबुभिः।
चरक चि० अ० २१ ॥५७॥

तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृङ्गेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्, सान्तर्दीपयाऽलाब्वा ॥८॥

स्थान पर पच्छ लगाकर पतले वस्त्र से ढाँपकर सींग द्वारा रक्त का आचूषण करना चाहिये। अथवा अलाबु में तिनके

---

१ धूमोपहत, शीताभिहत, अशनिहत की चिकित्सा के लिये देखिये--व्यवहारायुर्वेद, न्यायवैद्यक या Medical Jurisprudence.

२ जलने पर आजकल कैरन औयल (चूने के पानी और तैल को मथकर तुरन्त बनाया) या टैनिक एसिड की मलहम बरतनी चाहिये। शतधौत घृत या पानी में धोया घी भी वही लाभ करता है। इसके लगाने से उष्णिमा बाहर आती है, इससे शान्ति मिलती है। इसी से कहा है—

स्त्याने रक्ते हिमेनौष्ण्यानिष्क्रमेऽनुगतो बहिः।
वेदना वर्धते तेन रुधिरं च विदह्यते ॥
उष्णं निष्क्रामयन् कुर्यात् ऊष्माणं मन्दतां रजः।
तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथंचन ॥

१ वाग्भट्ट में निम्न विधि बताई है—
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः।
हरेत् शृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्व्यापि शिराव्यधैः ॥१॥
प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः।
त्वक्स्थेऽलाबुघटिशृङ्गं शिरैव व्यापकेऽसृजि ॥२॥

मद्य या बत्ती जलाकर (इसकी वायु निकालकर) फिर स्थान पर लगाना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य—गौ के सींग की टोपी जो ४-६ अंगुल लम्बी होती है लेकर स्वच्छ कर ली जाती है, उसके अग्रभाग में सरसों या राई का सा छिद्र कर लिया जाता है, मूल को घिसकर सम कर लिया जाता है, वह खोखली होती है। इसको 'सिंगी' कहते हैं और पञ्जाब में 'फौकी' कहते हैं। यह मांसल स्थान पर लगाई जाती है और लगती भी वहीं है, अन्यत्र न लगाई जाती है और न लगती ही है। सिंगी लगाने का व्यवसाय पञ्जाब में केवल चमार जाति (जो झाड़ू लगाना आदि काम करती है) की स्त्रियाँ ही करती हैं (अन्य देशों के विषय में हमें कुछ जानकारी नहीं है)। इस सिंगी का उपयोग दो प्रकार का है—१—कच्चा और २—पक्का।

१—कच्चा वह है—जिसमें पच्छ न लगाकर केवल वायु का आचरण किया जाता है।

२—पक्का वह है—जिसमें-पच्छ लगाकर वायु तथा वात दूषित रक्त का आचूषण किया जाता है।

विधि—जिस स्थान पर सिंगी लगानी होती है उस स्थान पर सिंगी धरकर, हाथ से पकड़कर-दबाकर मुख से वायु का आचूषण किया जाता है—जोर से चूसकर सिंगी के छेद पर दबाकर अंगुली रख ली जाती है अथवा मोमी कागज का टुकड़ा चिपका दिया जाता है अथवा मकड़ी का श्वेत जाला जो छिद्ररहित होता है चिपका दिया जाता है, जिससे उसमें वायु का प्रवेश न हो।

३० मिनट से १ घण्टा (घड़ी दो घड़ी) प्रतीक्षा की जाती है, तत्पश्चात्—छिद्र का अवरोध हटा दिया जाता है, तब सिंगी सरलता से अलग हो जाती है। जहाँ सिंगी लगाई गई वह स्थान उभरा—ऊँचा हो जाता है। उसे मसल २ कर पूर्ववत् कर दिया जाता है और पक्की सिंगी के स्थान पर हल्दी का चन्दन लगा दिया जाता है।

अलाबू-तुम्बी की भी यही कथा है, परन्तु उसमें छिद्र नहीं किया जाता तथा आचूषण भी नहीं किया जाता।

लगाने की विधि—जहाँ लगानी हो वहाँ आर्द्र मिट्टी का या सने आटे का दिया रख उसमें कपूर अथवा स्नेह वर्त्ति जलाओ और उसकी लौ पर तुम्बी को औंधी (अधोमुख) करके तपाओ तप जाने पर वहीं धरकर दबा दो, दबाते ही दीपक बुझ जाता है और तुम्बी में आकर्षण प्रतीत होने लगता है। घड़ी दो घड़ी प्रतीक्षा करो, तत्पश्चात् एक ओर से अथवा सब ओर से शरीरावयव को अंगुली दबाकर तुम्बी को अलगकर तुम्बी के अभाव में पीतल का अथवा काच का गिलास भी लगाया जाता है—विधि यही है। लोटा लग सकता है, परन्तु लगाना नहीं चाहिये, उसमें व्यापद् हो सकती है। तुम्बी भी कच्ची एवं पक्की दोनों प्रकार की होती है। सान्तर्दीपका—तुम्बी के भीतर यदि दीपक जलाया जाय तो दीपक को निकालकर तत्काल तुम्बी लगाओ दीपक समेत नहीं। अन्यथा शरीरावयव जल सकता है। इनके द्वारा वायु एवं रक्त का आचूषण हो जाने पर तज्जन्य वेदना शान्त हो जाती है ॥८॥

जलमासामायुरिति जलायुकाः; जलमासामोक इति जलौकसः ॥९॥

जलायुका शब्द की निरुक्ति—इनको जल ही आयु है, या जल में ही इनका घर है, इसलिए इनको 'जलायुका' कहते हैं।

वि० मन्तव्य—जौंकों का जल ही आयु अर्थात् जीवन है, अतः उनका नाम 'जलायुका' और जल ही उनका ओकस्—घर है, अतः उनका नाम 'जलौकस्' है।

जोंक लगाने का व्यवसाय करनेवालों का नाम 'जोंकयारा' है। वे जोंकों को पाल या पकड़ रखते हैं। जोंक जैसे २ रक्त चूसती है वैसे फूलती-बढ़ती जाती है, जोंकयारा जब समझ लेता है कि उसका उदर भर गया है। तब उसे छुड़ा लेता है और आवश्यकतानुसार दूसरी तीसरी जोंक लगा देता है। एक दिन का अन्तर देकर जोंक दो बार लगाना चाहिये। अधिक रक्त निकालने के लिए एक से अधिक जोंकें एक साथ भी लगाई जाती हैं। जोंक लगाना रक्तस्रावण का मृदु उपाय है ॥

ताः द्वादश, तासां सविषाः षट्, तावत्य एव निर्विषाः ॥१०॥

ये जलायुका-बारह प्रकार की हैं। जिनमें छै विष युक्त और छै निर्विष (विष रहित) हैं ॥१०॥

तत्र सविषाः—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति। तासु, अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा, वर्मिमत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुरा, रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा, इन्द्रायुधवदूर्ध्वराजिभिश्चित्रा इन्द्रायुधा, ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा सामुद्रिका, गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति। ताभिर्दष्टे पुरुषे

---

[1] त्र्यंगुलास्यं भवेच्छृंगं चूषणेऽष्टदशाङ्गुलम्।
अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति॥
स्याद् द्वादशांगुलोऽलाबु नाहं त्वष्टादशांगुलः।
चतुस्त्र्यंगुलवृत्तास्यो दीप्तोऽन्तः श्लेष्मरक्तहृत्॥
शृङ्ग-अलाबुप्रमाण—
विषाणं श्वेतगोरिन्दुचक्रं सप्तांगुलायतम्।
चिप्ताऽन्त. पिचुपेशीकं योज्यं वातयुतेऽसृजि॥
अष्टांगुलपरीणाहा चतुरंगुलनालसंमिता सुमुखी।
कृष्णमृदा लिप्ततनुः श्रेष्ठा रक्तावसेचनेऽलाबुः॥

दंशे श्वयथुरतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र महागदः पानलेपन नस्यकर्मादिषूपयोज्यः। इन्द्रायुधा दष्टमसाध्यम्। इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याताः॥११॥

इनमें विष युक्त जौंकें—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्दना। इनमें—कृष्णा जौंक का रङ्ग अञ्जन (कज्जल) के समान और शिर बड़ा होता है। कर्बुरा जौंक-वर्त्तिमत्स्य (रोहित मछली) के समान सर्पाकार तथा कुक्षि पर उभरी रेखावाली होती है। अलगर्दा-जौंक-रोम-बलियुक्त, महापार्श्व तथा काले मुखवाली है। इन्द्रायुधा-ऊपर से इन्द्र धनुष के समान चित्र-विचित्र रेखाओं से शोभित होती है। सामुद्रिका—कुछ काली-पीली, नाना प्रकार के श्वेत बिन्दुओं से चित्रित होती है। गोचन्दना जौंक बैल के अण्डकोश की भांति निचले भाग में दो भागों में विभक्त हुई, सूक्ष्म मुखवाली होती है। इन जलौकाओं के द्वारा पुरुष को काटने पर—बहुत अधिक सूजन, खाज, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, वमन, मद-नशा, अङ्गों में ग्लानि होती है। इनकी चिकित्सा के लिए सर्पदष्ट कल्प में कहा महागद पीने के लिये, लेप के लिये, नस्य, परिषेक आदि कार्यों में बरतना चाहिये। इन्द्रायुध-जौंक से काटा हुआ मनुष्य असाध्य है। इस प्रकार से विषैली जौंक का चिकित्सा के साथ वर्णन कर दिया। (महागद-कल्प स्थान में—'त्रिवृद् विशल्ये' इस श्लोक में कहा है॥११॥

अथ निर्विषाः—कपिला, पिङ्गला शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति। तत्र, मनःशिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धा मुद्गवर्णा कपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिङ्गाऽऽशुगा च पिङ्गला, यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्कुमुखी, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका, मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी, स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका सा च पश्वर्थे, इत्येता अविषा व्याख्याताः॥ १२॥

निर्विषा जलौका—कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका। इनमें कपिला जौंक—के दोनों पार्श्व मैनसिल से रंगे हुए प्रतीत होते हैं, पीठ-मूँग के समान चिकनी होती है। पिंगला जौंक कुछ लाल गोल शरीर, पिंगलवर्ण और शीघ्रगामि होती है। शंकुमुखी जौंक-यकृत् के समान रङ्ग की (काली-नीली) शीघ्र-रक्त पीनेवाली, लम्बे एवं तीक्ष्ण मुख की होती है। मूषिका—चूहे के रंग तथा चूहे के आकार की बुरी गन्धवाली होती है। पुण्डरीकमुखी—मूङ्ग के समान रङ्गवाली तथा कमल के सदृश मुख की होती है। सावरिका-स्निग्ध, कुमल पत्र के रङ्गवाली, अठारह अंगुल लम्बी होती है। यह सावारिका जौंक हाथी आदि पशुओं के लिये ही है। इस प्रकार से विषरहित जौंकों की व्याख्या करा दी है। (संग्रह में चार-पाँच अंगुल की जौंक का उपयोग पुरुष के लिये कहा है। स्त्री जौंक का उपयोग आचारकालीन और अल्प दोषवाले रोग में—पुरुष जौंक का इनसे विपरीत रोगों में कहा है)॥१२॥

तासां यवनपाण्ड्यसह्यपौतनादीनि क्षेत्राणि, तेषु महाशरीरा बलवत्यः शीघ्रपायिन्यो महाशना निर्विषाश्च विशेषेण भवन्ति॥१३॥

इन निर्विष जलौकाओं के प्रशस्त क्षेत्र—यवन (तुरुष्क देश-टर्की), पाण्ड्य (दक्षिण देश के देश[1] सह्य (नर्मदा के परे की पर्वत माला), पौतन (मथुरा प्रदेश) आदि क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में—बड़े शरीरवाली, बलवान्, शीघ्र रक्त को पीनेवाली बहुत खानेवाली विष रहित—(खासकर) होती हैं। (जौंक साधारणतः एक से दो ड्राम रक्त पीती है)॥१३॥

तत्र, सविषमत्स्यकीटदर्दुरमूत्रपुरीषकोथजाताः कलुषेष्वम्भस्सु च सविषाः, पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमलेष्वम्भःसु च निर्विषाः॥१४॥

विषैले, मछली, कीट, मेंढ़क मूत्र-मल द्वारा सड़े मलिन पानी में उत्पन्न जौंक विषैली होती है। कमल, उत्पल, (थोड़ा नीला), नलिन (थोड़ा लाल), कुमुद, सौगन्धिक (चन्द्रोदय में खिलनेवाला), कुवलय (लाल कमल), पुण्डरीक (बहुत श्वेत कमल), शैवाल (सरवाल) द्वारा सड़े अथवा निर्मल पानी में उत्पन्न जौंक विषरहित होती है॥ १४॥

भवति चात्र—

क्षेत्रेषु विचरन्त्येताः सलिलाढ्यसुगन्धिषु।
न च संकीर्णचारिण्यो न च पङ्केशयाः सुखाः॥१५॥

कहा भी है—

ये पूर्वोक्त निर्विष जलौकायें—बहुत पानीवाले, सुगन्धित क्षेत्रों में रहती हैं। विष आदि विरुद्ध आहार को नहीं खाती—(सरवाल आदि खाती हैं)। कीचड़ में नहीं सोती, अपितु तृणोदक-पत्र आदि में सोती हैं। इसीलिये सुखदायक होती हैं॥१५॥

तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात्॥१६॥

इन जौंकों को गीले चमड़े से अथवा तुरन्त मारे पशु की मांस पेशी पर घी-मक्खन आदि मलकर पकड़ना चाहिये। शरत्काल में पकड़ना चाहिये॥१६॥

अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपङ्कमावाप्य निदध्यात्, भक्ष्यार्थे चासामुपहरेच्छैवलं वल्लूरौदकांश्च

---

1 पाण्ड्य देश—
"काम्बोजाद्दक्षभागे तु इन्द्रप्रस्थाच्च पश्चिमे।
पाण्ड्यदेशो महेशानि, महाशूरत्वकारकः॥"

कन्दांश्चूर्णीकृत्य, शय्यार्थं तृणमौदकानि च पत्राणि, त्र्यहात्त्र्यहाच्चाभ्योऽन्यज्जलं भक्ष्यं च दद्यात्, सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रामयेत् ॥१७॥

निर्विष जलौका को पकड़कर नये बड़े घड़े में तालाब या तड़ाग के पानी में कीचड़ को डालकर इसमें जौंक को रखना चाहिये। इनके खाने के लिए सरवाल जलचर प्राणियों का शुष्क मांस या कन्दा का चूर्ण देना चाहिये। सोने के लिए बिस्तर में तिनके या पानी में होनेवाले कमल आदि के पत्र बरतने चाहिये। तीसरे-तीसरे दिन इनका पानी बदल देना चाहिए। और भोजन भी नया देना चाहिए। सातवें दिन इनको एक घड़े से दूसरे घड़े में बदल देना चाहिए ॥१७॥

भवति चात्र—

स्थूलमध्याः परिक्लिष्टाः पृथ्व्यो मन्दविचेष्टिताः।
अग्राहिण्योऽल्पपायिन्यः सविषाश्च न पूजिताः ॥१८॥

बीच से मोटी, देखने में बुरी, विस्तीर्ण, मन्दगामि, स्थान का ग्रहण न करनेवाली (न लगनेवाली), थोड़ा रक्त पीनेवाली, और विषैली जौंक प्रशस्त नहीं है ॥१८॥

अथ जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा, विरूक्ष्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमयचूर्णैर्यद्यरुजः स्यात्। गृहीताश्च ताः सर्षपरजनीकल्कोदकप्रदिग्धगात्रीः सलिलसरकमध्ये मुहूर्तस्थिता विगतक्लमा ज्ञात्वा ताभी रोगं ग्राहयेत्। श्लक्ष्णशुक्लार्द्रपिचुप्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्, अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दुं शोणितबिन्दुं वा दद्यात्, शस्त्रपदानि वा कुर्वीत, यद्येवमपि न गृह्णीयात्तदाऽन्यां ग्राहयेत् ॥१९॥

जलौका द्वारा साध्य रोग से ग्रस्त रोगी को बिठाकर अथवा लिटाकर पीड़ा रहित स्थान को मिट्टी या गोबर द्वारा घिसकर रूक्ष कर लेना चाहिए। यदि स्थान पीड़ायुक्त हो तो पिचु से साफ करके रूक्ष कर लेना चाहिए। जौंक को पकड़कर सरसों-हल्दी के कल्कोदक से जौंक के शरीर को मलकर पानी के बर्तन में थोड़ी देर रखकर-थकान दूर होने पर रोगवाले स्थान पर लगा देना चाहिए। चिकने पतले-श्वेत-गीले पिचु या प्लोत से ढाँप देना चाहिए, परन्तु मुख को नहीं ढाँपना चाहिए। यदि स्थान का ग्रहण न करे तो दूध की बूंद रख देनी चाहिए-अथवा शस्त्र से पोंछना चाहिए, जिससे रक्त की गन्ध आ जाए। इस प्रकार भी रक्त ग्रहण न करे तो दूसरी जलौका को लगा देना चाहिए ॥१९॥

यदा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद् गृह्णातीति, गृह्णन्तीं चार्द्रवस्त्रावच्छन्नां कृत्वा धारयेत् ॥२०॥

और जब जौंक लग जाती है तब घोड़े के खुर के समान मुख को करके, स्कन्धों को ऊँचा करके लगती हैं, तब समझना चाहिए कि रक्त ले रही है। रक्त को पीती हुई जौंक को गीले वस्त्र से ढांप देना चाहिए और थोड़ा-पानी डालना चाहिए। जौंक-पहिले दुष्ट रक्त को पीता है-जिस प्रकार हंस-दूध से मिले पानी में प्रथम दूध को पीता है ॥२०॥

दंशे तोदकण्डुप्रादुर्भावैर्जानीयाच्छुद्धमियमाददत्तइति, शुद्धमाददानामपनयेत्, अथ शोणितगन्धेन न मुञ्चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनावकिरेत् ॥ २१ ॥

विशुद्ध रक्त के पीने पर दंश में तोद (धातुक्षय के कारण उत्पन्न वायु की पीड़ा), खाज उत्पन्न होती है। जिस समय शुद्ध रक्त पान करने लगे, तब इसको हटा लेना चाहिए। यदि रक्त की गन्ध के कारण स्थान को न छोड़े तब इसके मुख पर सैन्धव लवण का चूर्ण डाल देना चाहिए। जौंक में गन्धेन्द्रिय नहीं होती, इसलिए शोणितलौल्यात् पाठ ठीक है[1] ॥

अथ पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगात्रीं तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां शनैः शनैरनुलोममनुमार्जयेदामुखात्, तावद्यावत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति। सम्यग्वान्ता सलिलसरकेन्यस्ता भोक्तुकामा सती चरेत्। या सीदती न चेष्टते सा दुर्वान्ता तां पुनः सम्यग्वामयेत्। दुर्वान्ताया व्याधिरसाध्य इन्द्रमदो नाम भवति। अथ सुवान्तां पूर्ववत् सन्निदध्यात् ॥ २२ ॥

जिस समय जौंक गिर पड़े तब धान्य के चावलों की कणकियों से इसके शरीर को मलकर, लवण और तैल से मुख को लिप्त करके, बायें हाथ के अंगुली एवं अंगुष्ठ से पूंछ पकड़कर दक्षिण हाथ की अंगुली एवं अंगुष्ठ द्वारा धीरे धीरे लोमों के अनुकूल परिमार्जन करना चाहिए। जब तक भली प्रकार वमन के लक्षण दीखने न लगें तब तक वमन करना चाहिए। भली प्रकार से वमन होने पर पानी के पात्र में रखने पर खाने की इच्छा से विचरण करने लगती है। जो पानी में डूब जाती है, हिलती नहीं, उसने भली प्रकार से वमन नहीं किया ऐसा समझना चाहिए। उसको फिर वमन कराना चाहिए। भली प्रकार से वमन न होने पर जोंक को इन्द्रमद (रक्तमद) नाम का रोग हो जाता है—यह रोग असाध्य है। जिसने भली प्रकार से वमन किया हो, उस जोंक को पूर्व की भाँति रखना चाहिए ॥ २२ ॥

शोणितस्य योगायोगानवेक्ष्य शतधौताभ्यङ्गं तत्पिचुधारणं वा, जलौकोव्रणान् मधुनाऽवघट्टयेत्,

१ संग्रह में यही पाठ है—लौल्याच्च दंशममुञ्चन्त्याः क्षौद्रलवणचूर्णं वा मुखे दद्यात्।

शीताभिरद्भिः परिषेचयेद् बध्नीत वा, कषायमधुरस्निग्धशीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यादिति ॥ २३ ॥

शोणितावसेचन होने पर रक्त के योग (सम्यक् स्राव) एवं अयोग (हीन, मिथ्या, अतियोग) को देखकर जलौका के व्रणों की चिकित्सा करनी चाहिये। योगस्राव में शतधौत घृत लगाना चाहिये। हीन अयोग में रक्तस्राव के लिये मधु से घर्षण करना चाहिये। अति रक्तस्राव में—शीतल जल का परिषेचन या शीतल जल की पट्टी बांधनी चाहिये। मिथ्या रक्तस्राव में—कषाय प्रदेह (शेष दुष्ट रक्त के प्रसादन के लिये), मधुर प्रमेह (स्रुत अशुद्ध रक्त को रोकने के लिये), मूर्छा आदि उपद्रवों की शान्ति के लिये शीतल प्रदेह-सेक लगाना चाहिये ॥ २३ ॥[1]

भवति चात्र—

क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम्।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद् गदान् ॥२४॥

कहा भी है—

जो वैद्य जलौकाओं के क्षेत्र, पकड़ने की विधि, जाति, पोषणविधि, अवचारणविधि जानता है, वह जलौकाओं द्वारा साध्य रोगों को शान्त कर लेता है ॥ २४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने जलौकावचारणीयो नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

—०—

चतुर्दशोऽध्यायः

अथातः शोणितवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

पिछले अध्याय में रक्तस्राव का वर्णन किया, इसलिये रक्त का वर्णन करने के लिये 'शोणित-वर्णनीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते, तस्य हृदयं स्थानं, स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा। तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद् गतिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः। तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलाशयानुसारिणि रसे जिज्ञासा-किमयं सौम्यस्तैजसः ? इति। अत्रोच्यते—स खलु द्रवानुसारी स्नेहनजीवनतर्पणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते ॥ ३ ॥

पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों का पेय, भोज्य, भक्ष्य, लेह्य-भेद से चार प्रकार का, मधुर, अम्ल आदि छै भेद से रस का; शीत उष्ण भेद से दो प्रकार के वीर्य का अथवा आठ प्रकार (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल, मृदु, तीक्ष्ण-भेद से) के वीर्य का, अथवा अनेक (बीस) गुणोंवाले आहार का भोजन करने पर—इसके सम्यक् परिपाक होने से जो तेजोभूत (अग्नि द्वारा उत्पन्न) परम सूक्ष्म सार निर्मल-श्रेष्ठ अंश है—वह रस कहा जाता है। इस रस का स्थान हृदय है[1]। यह रस चौबीस धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैलकर रात दिन शरीर का तर्पण करता है (गर्भावस्था में), बढ़ाता है (बाल्यावस्था में), धारण करता है (युवावस्था में), यापन करता है (वृद्धावस्था में) यह कर्म अचेतन होने के कारण अदृष्ट (धर्माधर्म) के कारण होता है। इन चौबीस धमनियों में से दस धमनियाँ ऊपर जाती हैं, और चार धमनियाँ तिरछी जाती हैं। इस रस के शरीर के अन्दर फैलते हुए—इसकी गति को क्षय-वृद्धि विकारों द्वारा अनुमान से जानना चाहिये। इन सम्पूर्ण शरीरावयवों में दोष, धातु-मल-आशय में फैलनेवाले इस रस के विषय में यह जिज्ञासा है कि—क्या यह रस सौम्य है अथवा तैजस (आग्नेय गुणी) है। उत्तर—यह कहा जाता है कि—यह रस द्रव के समान-अनुसरण शील, स्नेहन, जीवन देनेवाला, तर्पण, धारण, अवष्टम्भन आदि भेदों से 'सौम्य' (कफरूप) रूप ही जाना जाता है।

वि० मन्तव्य—तस्य हृदयं स्थानम्—इस रस (सर्वदा गतिशील) का हृदय स्थान अर्थात् कुछ समय के लिये रुकने (गतिहीन होने) का आश्रय है। ष्ठा-गति निवृत्तौ धातु से स्थान शब्द निष्पन्न होता है और गतिनिवृत्ति का अर्थ है गति की निवृत्ति-रुकना। वह रस—हृदय से धमनियों में जाता है अर्थात् हृदय की गति के प्रभाव से उन नालियों में धमान की उत्पत्ति होती है। यद्यपि हृदय से रक्त की प्रवृत्ति

---

१ जौंक के काटने पर कई बार बहुत रक्तस्राव होता है। इसका कारण यह है कि जौंक के सिर में कई छोटी छोटी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनका रस व्रणों में पहुँचता है। इस रस में (Hirudin) हीरुडीन नामक द्रव्य होता है। इस द्रव्य के रक्त के साथ मिलने से रक्त जल्दी नहीं जमता। जौंक के दंश के समय रक्त चूसने पर यह पदार्थ व्रण में पहुँच जाता है। इसलिए रक्त जमता नहीं, बहता रहता है।

१ तेज अग्नि द्वारा उत्पन्न शुक्र या घी के समान उत्पन्न, झी के समान श्वेत (Chyls, रूपेण), सारबिड् आदि के मल रहित-सूक्ष्म स्रोतों में प्रायः होने वाला है—पोष्य धातु रस का ही हृदय स्थान है। पोषक आहार रस का स्थान धमनियाँ हैं।

होती है, तथापि—रक्त में रस मिला रहता है, अतः एक दृष्टि से वह रस ही कहा जाता है। भले ही वह रक्त कहा जा सकता है और अन्यत्र हृदय (उरस्) को रक्त का आशय माना भी है। तस्मिन् सर्व.......जिज्ञासा रस शरीर के समस्त अवयवों (सेल् जीवकोष) आदि में जब अनुकूल—उचित सरण-गति करता है तब वह स्नेहन आदि सद्गुणों के कारण सौम्य (सोम-चन्द्र के) गुणों से युक्त माना जाता है। अन्यथा आग्नेय उक्त-गुणों का नाशक माना जाता है या रोगोत्पादक होता है। चन्द्र को वेद में—"अमृतस्य नाभिः" केन्द्र माना गया है ॥ ३ ॥

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति ॥ ४ ॥

यह जलीय (श्वेत) रस यकृत्-प्लीहा में पहुँचकर लाल हो जाता है। (आजकल भी पाण्डु रोग में—या रक्त की कमी में यकृत् का उपयोग किया जाता है।) सुश्रुत ने भी अति रक्तस्राव में यकृत् ही खाने को कहा है। "यकृद् वा भक्षयेदामामं पित्तसमायुतम्"।

वि० मन्तव्य—रस को "आप्य" इसलिये कहते हैं कि वह व्याप्तिशील है। रस धातु प्रथम रक्त में मिल लेता है और फिर रक्त के साथ २ यकृत् एवं प्लीहा में जाता है और वहाँ रञ्जक पित्त की रासायनिक क्रिया से लाल हो जाता है। रक्त में जो श्वेतकण होते हैं वे रस के ही होते हैं और वे ही वहाँ जाकर लाल हो जाते हैं ॥४॥

श्लोकौ चात्र भवतः—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

कहा भी है—

प्राणियों के शरीरस्थ शुद्ध तेज से (रञ्जक पित्त से) रंगे लाल किये हुए अदूषित जल (रस) को रक्त कहते हैं।

वि० मन्तव्य—वही श्वेत एवं सौम्य रस यकृत्-प्लीह गत रञ्जक पित्त से रञ्जित होकर "रक्त" कहलाता है ॥ ५ ॥

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते।
तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ ६ ॥

रक्त एवं आर्त्तव में भेद—

स्त्रियों में रक्त ही—ऋतुस्राव में योनिमार्ग से रज-रूप में प्रवृत्त होता है। यह रज बारह वर्ष की आयु से लेकर पचास वर्ष की आयु तक रहता है, पीछे नष्ट हो जाता है। (रजः की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का यह नियम सम शीतोष्ण देश की अपेक्षा से है। यूरोप आदि शीत देशों में ऋतुकाल देर में आता है, और गरम देशों में शीघ्र आ जाता है) ॥ ६ ॥

आर्त्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य ॥

आर्त्तव संज्ञक रक्त (आग्नेय) अग्नि गुणविशिष्ट है। क्योंकि गर्भ अग्नीषोमीय है। आगे शरीरस्थान में कहेंगे कि स्त्रियाँ अग्नि गुण भूयिष्ठ हैं, पुरुष सौम्य हैं। इसलिये आर्त्तव भी आग्नेय है ॥ ७ ॥

पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः ॥ ८ ॥

दूसरे आचार्यों का मत है कि—जीवरक्त जीव के समान चेतना का कारण रक्त पाँचभौतिक (पृथिवी आदि पंचभूतों से मिला है ॥ ८ ॥

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ ९ ॥

विस्रता (आमगन्धि-पृथिवी का गुण), द्रवता (द्रवभावः—जल का गुण), राग (लालिमा-अग्नि का गुण), स्पन्दन (थोड़ा हिलना-वायु का गुण), लघुता (हल्कापन-आकाश का गुण) ये भूमि आदि पञ्चमहाभूतों के गुण रक्त में दिखायी देते हैं। इसलिये रक्त पांचभौतिक है ॥ ९ ॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते ॥१०॥

पाकजन्य प्रसाद भाग से क्रमशः रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार कि गन्ने के रस को पकाने पर ऊपर मलाई उतरती है, नीचे किट्ट भाग रहता है, उसी प्रकार अन्न के पकने से मल (विट् मूत्र) एवं सार भाग (रस) उत्पन्न होता है। इस रस के पुनः पकने से मल (कफ), स्थूल भाग (रस) और सूक्ष्म भाग (रक्त) उत्पन्न होता है। रक्त के पकने से मल (पित्त), स्थूल भाग (मांस) बनता है। मांस के पकने से मल (श्रोत्र, नासिका आदि का मल), स्थूल भाग (मांस) सूक्ष्म भाग (मेद) बनता है। मेद के पकने से मल (स्वेद) स्थूल भाग (मेद) और सूक्ष्म भाग (अस्थि) बनती है। अस्थि के अपनी अग्नि द्वारा परिपाक होने पर मल (केश, लोम, श्मश्रु), स्थूल भाग (अस्थि), सूक्ष्म भाग (मज्जा) बनती है। मज्जा के परिपाक से मल (आँख-त्वचा का स्नेह), स्थूल भाग (मज्जा) और सूक्ष्म भाग (शुक्र) बनता है। शुक्र के स्वाग्नि द्वारा परिपाक होने पर दो ही भाग बनते हैं। अब इसमें से मल भाग नहीं निकलता। स्थूल भाग (शुक्र) और सूक्ष्म भाग (ओज) होता है[1]।

---

१ (१) धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्त्तन्ते। चरक सू० अ० २८।
कहा भी है—
"स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा।
स्वस्थूलोऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः ॥
स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमन्नीवाक्षये मलः ॥

वि० मन्तव्य—रस से धातुओं की उत्पत्ति का यह भी एक प्रकार है वैसे तो रस एवं रक्त से भी धातुओं का पूरण-पूर्त्ति (सू० ११ देखिये) तथा वृद्धि (सू० २१) होती है ॥ १० ॥

तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥ ११ ॥

इन धातुओं के मध्य में—पूर्वोक्त रक्त आदि धातुओं की वृद्धि करनेवाला, अन्न-पान का सार भाग यही रस है[1] ॥११॥

रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
अन्नात् पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः ॥१२॥

पुरुष की उत्पत्ति भी रस से ही है, इसलिये प्रयत्नपूर्वक रस की रक्षा करनी चाहिये । आलस्य रहित होकर—बुद्धिमान् मनुष्य अन्न एवं पान से रस की रक्षा करता है ॥ १२ ॥

तत्र 'रस' गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ॥१३॥

रस शब्द की निरुक्ति—रस-गतौ-इस धातु से रस शब्द बनता है । जिसका अर्थ है कि प्रतिदिन चलता रहता है, इस लिये इसको रस कहते हैं ॥ १३ ॥

स खलु त्रीणि त्रीण कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धातावबतिष्ठते, एवं मांसेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति ॥ १४ ॥

भवति चात्र—

अष्टादशसहस्राणि सङ्ख्या ह्यस्मिन समुच्चये ।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥ १५ ॥

यह रस प्रत्येक धातु में ३३१५ कला पर्यन्त रहता है । इस प्रकार एक मास में रस धातु पुरुषों में शुक्र और स्त्रियों में आर्त्तव होता है । इस रस से वीर्य बनने के समुच्चय में इस तन्त्र तथा [1]अन्य तन्त्रों के अनुसार भी १८०९० कला समय लगता है । वह रस शब्द, तेज तथा जल के विस्तार की भाँति समस्त शरीर में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रवेश करता है ।

वक्तव्य—चरक में रस धातु की उपमा चक्र से दी है, यथा—"संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ।" आयुर्वेद में ध्वनि, उष्णिमा और जल के साथ दी हुई उपमा भी आज-कल फिल्ट्रेशन, ओस्मोसिस, डायलेसिस, डिफ्युजन के साथ घटती है । तीक्ष्णाग्नियों में शीघ्र २४ घण्टे में शुक्र बनता है, और मन्दाग्निवालों में एक मास या इससे अधिक समय लगता है और मध्यमाग्निवालों में छैं दिन लगते हैं ॥ १४,१५ ॥

स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम् ॥ १६ ॥

यह रस शब्द-संतान की तरह तिरछा, अर्चि (आग)—संतान की तरह ऊपर की ओर जल संतान की तरह नीचे की ओर गति करके सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है ॥ १६ ॥

वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शीघ्रं विरेचयन्ति ॥ १७ ॥

वाजीकरण औषधियाँ अपने बल (प्रभाव) की उत्कर्षता से (संकल्प, पादलेप, कान्तास्पर्श आदि) अपने गुण की उत्कर्षता से (दूध घी आदि) कुछ अपने बल एवं गुण दोनों की उत्कर्षता से (माष आदि) सेवन करने पर विरेचन की भाँति शुक्र का विरेचन करती हैं ॥ १७ ॥

यथाहि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीतिवक्तुं, नैव नास्तीति, अथ चास्ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति ज्ञात्वा, केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते, स एव विवृतपत्रकेशरे पुष्पे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति, एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति, रोमराज्यादयश्च विशेषा नारीणाम् । रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति ॥ १८ ॥

प्रसादजन्य धातुओं को कहकर प्रसङ्ग से उपधातुओं को भी कहते हैं । यथा—

"रसात् स्तन्यं तथा रक्तमसृजः कण्डरा शिराः ।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसन्धयः" ॥

रस से स्तन्य एवं रक्त (आर्त्तव) दोनों उत्पन्न होते हैं । क्योंकि गर्भाधान के पश्चात् ऋतु बन्द हो जाती है—और स्तनों में वृद्धि होने लगती है । दूध आने लगता है । जब तक माता के स्तनों में दूध का जोर रहता है ऋतु भी ठीक नहीं आती ।

यह ऋतु भी शुक्र के समान एक मास में रक्त से ही बनता है । इसलिये कोई २ आचार्य आर्त्तव को भी शुक्र कहते हैं । यथा-

"घृतकुम्भो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते ।
विसर्पत्यार्त्तवं पुंसां तथा स्त्रीणां समागमे ॥
सूक्ष्माः केशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः शिराः ।
गर्भाशयं पूरयन्ति मांसाद् बीजाय कल्पते ॥"

इन उपधातुओं में गति—नहीं—अर्थात् अन्य धातु का पोषण नहीं होता—इसलिये इनको उपधातु कहते हैं ।

१ जैसा कि चरक में कहा है—पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्, रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र एवं ओज इत्यादि ।

---

१ तन्त्रान्तर में कहा है कि—

आहारोऽग्नितनो यः स स्वो रसत्वं नियच्छति ।
शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि, चतुर्थे मांसतामपि ॥
मेदस्त्वं पंचमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे त्वियात् ।
मज्जत्वं शुक्रतां यायान्नियमात्त्वष्टमे, नृणाम् ॥
षड्भिः केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च ।
इच्छन्ति मुनयः प्रायो रसस्य परिवर्त्तनम् ॥चरक०॥

जिस प्रकार कि फूल की कली के मध्य में रहनेवाली गन्ध यहाँ पर इस स्थान पर है, अथवा नहीं है, ऐसा निर्णय नहीं होता, 'गन्ध है ऐसा कहना ही ठीक है' उपस्थित पदार्थों का स्पष्टीकरण केवल सूक्ष्मता के कारण नहीं होता। यही गन्ध फूल में—पंखुड़ी-पराग के खिलने पर समयान्तर में स्पष्ट होती है। इसी प्रकार बच्चों में भी आयु के परिणाम (यौवनावस्था) से शुक्रोत्पत्ति होती है (शुक्रवह स्रोतस् कार्य करने लगते हैं)। एवं रोमराजी (दाढ़ी-मूछ गुह्य प्रदेशों में बाल) उत्पन्न होती है। स्त्रियों में रोमराजी उत्पन्न होने के साथ २ रज के धीरे २ एकत्रित होने से स्तन, गर्भाशय, योनि में वृद्धि होती है।

वि० मन्तव्य—बालकों में भी शुक्रधातु होता है केवल व्यक्त नहीं होता। इसी प्रकार बालिकाओं में रजस् रहता है केवल व्यक्त नहीं होता। विद्यमान पदार्थ समय आने पर—अभिव्यक्त हो जाते हैं। वृद्धों में भी रहते हैं परन्तु व्यक्त नहीं रहते ॥ १८ ॥

स एवान्नरसो वृद्धानां (जरा) परिपक्वशरीरत्वाद-प्रीणनो भवति ॥ १९ ॥

यही आहार-रस वृद्ध पुरुषों में बुढ़ापे के कारण शरीर के परिपक्व होने से शरीर का थोड़ा तर्पण करता है। (वृद्धावस्था में—केशिकाओं में कठोरता आती है। धमनीदार्ढ्य होना परिपक्व शरीर का लक्षण है) ॥ १६ ॥

त एते शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते ॥ २०॥

ये रस रक्त आदि शरीर का धारण करने से धातु कहे जाते हैं।

वि० मन्तव्य—डुधाञ् धारणपोषणयोः—धातु से "धातु" शब्द की निष्पत्ति होती है—शरीर का धारण और पोषण करने के कारण रस एवं रक्त आदि द्रव्य—"धातु" कहे जाते हैं ॥

तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते, तस्मात्तदधिकृत्य वक्ष्यामः। तत्र, फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रगम-स्कन्दि च वातेन दुष्टं, नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रम-निष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन दुष्टं, गैरि-कोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं, सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम्, जीवरक्तमन्यत्र वक्ष्यामः ॥ २१ ॥

इन धातुओं की क्षीणता अथवा वृद्धि में मूल कारण रक्त ही है। इसलिये रक्त के ही विषय में कहते हैं। इनमें-फेनिल झागदार, अरुण (लाल), कृष्ण (काला), परुष (अपिच्छिल रूक्ष), तनु (पतला), शीघ्रगामि (जल्दी बहनेवाला), और अस्कन्दि (न जमनेवाला), रक्त वायु से दूषित होता है। नील (नीला), पीत (पीला), हरित (हरा), श्याव (काला), विस्र (आमगन्धि), चिउँटी एवं मक्खियों के लिये अनिष्ट-कारक (पसन्द नहीं करती) और न जानेवाला रक्त, पित्त से दूषित समझना चाहिये। गेरू के पानी के समान (पाण्डुलोहित) स्निग्ध, शीतल, बहल (घन), पिच्छिल, चिरस्रावि (देर में बहनेवाला), मांसपेशी के समान रक्त कफ से दूषित होता है। तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त, काञ्जि के समान, खासकर दुर्गन्धयुक्त रक्त सन्निपात से दूषित होता है। (दो दोषों से दूषित रक्त में दोनों दोषों के लक्षण होते हैं)। जीवरक्त (शुद्ध-शरीरपोषक रक्त) की व्याख्या दूसरी जगह से करेंगे। (रक्त से दूषित, रक्तपित्त से दूषित रक्त के समान परन्तु अधिक काला होता है।

वि० मन्तव्य—रक्त के क्षय—न्यूनता से धातुओं का क्षय और उसकी वृद्धि से उनकी वृद्धि होती है। अरुण—कालिमा लिये लाल ॥ २१ ॥

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात् ॥ २२ ॥

जो रक्त इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के समान रङ्गवाला, असं-हत (न तो बहुत स्वच्छ और न बहुत घना) और अविवर्ण (तपनीय स्वर्ण वर्ण[1] पद्मालक्तक, गुञ्जाफल वर्णवाला, अथवा वस्त्र आदि पर लगने पर धोने से भी जब विकृत न हो), उस रक्त को स्वाभाविक शुद्ध समझना चाहिये ॥ २२ ॥

विस्राव्याण्यन्यत्र वक्ष्यामः ॥ २३ ॥

विस्राव्य रक्तों की—किनका रक्त विस्रवण करने योग्य है-व्याख्या अष्टविधकर्माध्याय सू० २५ में करेंगे ॥२३॥

अथाविस्राव्या—सर्वाङ्गशोफः, क्षीणस्य चाम्लभोजन-निमित्तः, पाण्डुरोग्यर्शसोदरिशोषिगर्भिणीनां च श्वयथवः॥

निम्न रोगी विस्रावण के अयोग्य हैं—सर्वाङ्गशोफी, क्षीण पुरुष के, या अम्ल भोजन के कारण उत्पन्न शोथ, पाण्डुरोगी अर्श उदररोगी, शोषि—गर्भिणी, इनके शोथ में (एक अङ्ग में उत्पन्न व्रण-शोथ में भी) रक्तका मोक्षण नहीं करना चाहिये ॥

शस्त्रविस्रावणं द्विविधं प्रच्छानं शिराव्यधनं च ॥२५॥

शस्त्र द्वारा रक्तमोक्षण दो प्रकार का है, यथा—प्रच्छान और सिराव्यधन ॥ २५ ॥

---

१ तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्।
गुञ्जाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम् ॥चरक०॥
'असंहतम्' का अर्थ-न बहुत पतला और न बहुत घना भी है। अविवर्ण-विविधवर्ण का—(घाणेकर जी)।

तत्र, ऋजवसंकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्मसिरास्नायुसन्धीनां चानुपघाति ॥२६॥

प्रच्छनविधि–ऋजु (सीधा)—असंकीर्ण (परस्पर एक दूसरे से न मिला–जैसे चेचक के टीके में करते हैं), सूक्ष्म (बहुत बड़ा नहीं), सम (समान रेखावाला), अनवगाढ (बहुत गहरा न जाये), अनुत्तान (बहुत गहरा न हो–केवल मांस को छुए ही), आशु (बिना देर किये) शस्त्र चलाना चाहिये। शस्त्र चलाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मर्म सिरा, स्नायु और सन्धि पर आघात न पहुँचे[१] ॥२६॥

तत्र दुर्दिने दुर्विद्धे शीतवातयोरस्विन्ने भुक्तमात्रे स्कन्दत्वाच्छोणितं न स्रवत्यल्पं वा स्रवति ॥२७॥

मदमूर्च्छाश्रमार्तानां वातविण्मूत्रसंगिनाम्।
निद्राभिभूतभीतानां नृणां नासृक् प्रवर्तते ॥२८॥

बुरे दिन में (बादलों से घिरे आकाश में), सिरा आदि के या वैद्य की क्रिया के दोष से अशुद्ध बिंधने पर, शीत तथा वायु के कारण स्वेद बिना लिये, भोजन न करने पर, रक्त के जमा होने से रक्त नहीं बहता अथवा थोड़ा बहता है। कहा भी है—

विष या मद्यजन्य विकार के कारण उत्पन्न मद से, मूर्छा, श्रम से पीड़ित, अधोवात–मल मूत्र के प्रवृत्त न होने से, निद्रा से युक्त, डरे हुए पुरुषों में रक्त नहीं बहता ॥२७,२८॥

तद् दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं
शोफदाहरागपाकवेदना जनयेत् ॥२९॥

दूषित रक्त के बाहर न निकलने से—कण्डू, शोफ, लालिमा, जलन, पाक, वेदना आदि उपद्रव होते हैं ॥२९॥

अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिविद्धेऽज्ञैर्विस्रावितमतिप्रवर्तते, तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमधिमन्थतिमिरप्रादुर्भावं धातुक्षयमाक्षेपकं दाहं पक्षाघातमेकाङ्गविकारं हिक्कां श्वासकासौ पाण्डुरोगं मरणं चापादयति ॥३०॥

अतियोग—अति उष्ण काल में, अतिस्वेद देने के कारण पसीना अधिक निकलने से, अज्ञ पुरुषों द्वारा विस्रावण करने पर अथवा अतिविद्ध होने से रक्त बहुत अधिक बहता है। रक्तस्राव का अतियोग–शिरोरोग (शिरःशूल), अन्धापन, अधिमन्थ (आँख का रोग), तिमिर (लिंगनाश), धातुक्षय, आक्षेप, पक्षाघात, एक अङ्ग में विकार, तृष्णा, दाह, हिचकी, कास, श्वास, पाण्डुरोग और मरण उत्पन्न करता है ॥३०॥

तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते।
यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥३१॥
सम्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते।
शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यग्विस्रावितं च तत् ॥३२॥

न तो बहुत शीतकाल में, न बहुत उष्णकाल में (साधारण समय में), अतिस्वेद न देकर, सूर्य-धूप आदि से गरम न होने पर, तिलजन्य यवागू को दूसरी या तीसरी बार पीने पर (सद्यः स्नेह करने के कारण अथवा रक्त को कुपित करने से) वैद्य का रक्तमोक्षण करना चाहिये। जिस समय रक्त उचित परिमाण में निकलकर स्वयं रुक जाता है, तब रक्त को भली प्रकार विस्रावित हुआ समझना चाहिये ॥३१,३२॥

लाघवं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिक्षयः।
सम्यग्विस्राविते लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥३३॥
त्वग्दोषा ग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये।
रक्तमोक्षणशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥३४॥

रक्त शुद्धि के लक्षण—शरीर में लघुता, वेदना (रोग)—शान्ति, रोग के वेग का घट जाना, और मन की प्रसन्नता–ये भली प्रकार से रक्तविस्रावण होने के लक्षण हैं। त्वचा के दोष (अष्टादश कुष्ठ), ग्रन्थियाँ (शिराग्रन्थियाँ वातजन्य), शोफ एवं रक्तजन्य रोग–रक्त का मोक्षण करनेवाले पुरुषों में कभी भी नहीं होते। (रक्तजन्य रोग–चरक–सूत्र० अ० २४ में–मुखपाकोऽक्षिरोगश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता, आदि दिये हैं)।

वि० मन्तव्य—प्रसादो मनसस्तथा—मन का प्रसाद (प्रसन्नता) होता है अर्थात् विषाद मिट जाता है, फलतः उन्माद आदि मानसिक रोग शान्त हो जाते हैं ॥३३,३४॥

अथ खल्वप्रवर्तमाने रक्ते एलाशीतशिवकुष्ठतगरपाठाभद्रदारुविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरिद्रार्काङ्कुरनक्तमालफलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भिः समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलप्रगाढैर्व्रणमुखमवघर्षयेत्, एवं सम्यक् प्रवर्तते ॥३५॥

यदि रक्त बाहर न आये (स्रवित न हो) तो इलायची, शीतशिव (कर्पूर), कूठ, तगर, पाठा, देवदार, वायविडंग, चीता, त्रिकटु, (सौंठ, मरीच, पिप्पली), आगारधूम (गृहधूम), हल्दी, आक के अंकुर, नक्तमाल (बड़ा करञ्ज)–इनमें से जो मिले, उनमें से तीन या चार अथवा सब को चूर्ण करके—सैन्धव तिलतैल में अच्छी प्रकार मिलाकर व्रण के मुख पर भली प्रकार रगड़ना चाहिये। इस प्रकार से रक्त भली प्रकार बहता है। (शीतशिव का अर्थ सैन्धव हाराणचन्द्र जी ने किया है) ॥३५॥

अथातिप्रवृत्तं रोध्रमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गगैरिकसर्जरसरसाञ्जनशाल्मलीपुष्पशङ्खशुक्तिमाषयवगोधूमचूर्णैः शनैः शनैर्व्रणमुखमवचूर्ण्याङ्गुल्यग्रेणावपीडयेत्, सालसर्जार्जुन-

१ गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्वा पट्टेन वा समम्।
स्नायुसन्ध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत् ॥
अधोदेशप्रविष्टैस्तैः पदैरुपरिगामिभिः।
न गाढ-घनतिर्यग्भिः न पदे पदमाचरेत् ॥ वाग्भट्ट०

रिमेदमेषश्रृङ्गधवधन्वनत्वग्भिर्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन, समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा, यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात्, शीताच्छादनभोजनागारैः शीतैः प्रदेहपरिषेकैश्चोपचरेत्, क्षारेणाग्निना वा दहेद्यथोक्तं, व्यधादनन्तरं तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत्, काकोल्यादिकाथं वा शर्करामधुमधुरं पाययेत्, एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं क्षीरपयूषरसैः सुस्निग्धैश्चाश्नीयात्, उपद्रवांश्च यथास्वमुपचरेत् ॥३६॥

रक्त के बहुत अधिक बहाव पर—पठानीलोध, मधुक (मुलहठी), प्रियंगु (फूलप्रियंगु), पत्तंग (लाल चन्दन), गैरिक (गेरू), सर्जरस (राल), रसांजन (रसौंत), शाल्मली—पुष्प (सिम्बल का फूल), शंख, शुक्ति (सीप), माष (उड़द), जौ एवं गेहूँ—इनके चूर्ण को व्रण के मुख में धीरे धीरे प्रक्षेप करके-अंगुली के अग्रभाग से दवा देना चाहिये। साल, सर्ज, अर्जुन, अरिमेद, मेढ़ाश्रृङ्गी, धव, धामन, इनकी छाल के चूर्णों को शहद में मिलाकर या भस्म किये समुद्रफेन, लाक्षाचूर्ण को शहद में मिलाकर-क्षौम, वस्त्र आदि व्रणबन्धन द्रव्यों से कसकर बाँध देना चाहिये। शीतल-भोजन, शीतल-आच्छादन, शीतल घर, शीतल परिषेचन, एवं शीतल प्रदेह बरतने चाहिये। क्षार अथवा अग्नि से जलाना चाहिये, या सिराव्यधन के अनन्तर जिससे रक्त अधिक बह रहा हो, उसी सिरा को फिर बींधना चाहिये[1]। काल्कोल्यादि (गण) (क्वाथ) शर्करा एवं मधु से मीठा करके पिलाना चाहिये। एण (काला हरिण), हरिण, उरभ्र, शश, महिष अथवा वराह का रक्त पिलाना चाहिये। दूध, मूङ्ग का यूप, मांसरस—इनको घी से भली प्रकार स्निग्ध-शोभन रूप में खिलाना चाहिये। शिरोरोग आदि उपद्रवों की चिकित्सा करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—क्षौमेण वा ध्मापितेन—अर्थात् रेशमी कपड़ा को जलाकर उसकी राख को बुरकना चाहिये। व्यधादनन्तरं……विध्येत्—अर्थात्—जहाँ व्यध या वेध करने से रक्त की अति प्रवृत्ति हो रही है वहाँ से कुछ ऊपर उसी सिरा का वेध करे। फलतः रक्त का वेग दो भागों में बँट जाता है और रोकने में सरलता होती है। काकोल्यादि……श्नीयात्—अर्थात् काकोल्यादि जीवनीय द्रव्यों का क्वाथ पीने से—जीवन रक्षा होती है और—एण आदि प्राणियों का रक्त पीने से रक्त की क्षति पूर्ति हो जाती है और क्षीर आदि सेवन से बल लाभ होता है। उक्त सब उपचार चोट आदि से होनेवाले रक्तस्राव में भी किये जायँ ॥३६॥

कहा भी है—

भवन्ति चात्र—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात् प्रयत्नतः ॥३७॥
तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत् ॥३८॥

रक्त के अधिक निकलने पर-धातु के क्षय होने पर अग्नि मन्द हो जाती है। वायु बहुत अधिक कुपित होती है। इसलिये प्रयत्न पूर्वक न बहुत शीतल, लघु, स्निग्ध, रक्तवर्धक, थोड़े खट्टे (अनार या आँवला), या बिल्कुल खट्टांश रहित (मधुर) भोजनों को खिलाना चाहिये[1] ॥३७,३८॥

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्।
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥३९॥
व्रणं कषायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्।
तथा संपाचयेद्भस्म दाहः संकोचयेत् सिराः ॥४०॥

रक्त को रोकने के चार उपाय हैं। यथा—सन्धान, स्कन्दन, पाचन और दहन। इनमें कषाय रस—व्रण को जोड़ देता है—मिलता है। शीत क्रिया रक्त को जमाती—घट करती है। रेशम आदि की भस्म पाचन करती है, और दाह-क्रिया सिरा को संकुचित कर देती है ॥३९,४०॥

अस्कन्दमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत्।
संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥४१॥
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते ॥४२॥
शेषदोषे यतो रक्ते न व्याधिरतिवर्तते।
सावशेषे ततः स्थेयं न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥४३॥

रक्त के निकलने पर प्रथम शीतोपचारादि करना चाहिये। यदि इससे भी रक्त न रुके तो हरीतकी या पञ्चवल्कल प्रयोग करना चाहिये। सन्धानक्रिया से भी यदि रक्त न रुके तो पाचन भस्म बरतनी चाहिये। जहाँ तक बने वैद्य को इन्हीं तीनों विधियों से कार्य करना चाहिये। इन सब के असफल होने पर दाहक्रिया करनी चाहिये। दाहक्रिया रक्त को बन्द करने के लिये अचूक उपाय है ॥४१,४२॥

१ आजकल टांका लगाना, पीडन, धमनीसंदंश या अङ्ग को ऊँचा करके भी रक्त को बन्द करते हैं। शल्यकर्म में प्रायः धमनी संदंश और टांका लगाना या बींध देना प्रायः बरता जाता है।

१ चरक में कहा है—
नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृग् अग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः॥
(२) बलदोषप्रमाणाद् वा विशुद्ध्या रुधिरस्य च।
रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा॥
च० सू० अ० २४

क्योंकि रक्त में दोष के शेष रहने पर रोग वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। (अतः रक्त के अन्दर थोड़ा सा दोष रहने पर संशमनादिकार्य द्वारा रोग शान्ति करनी चाहिये)। इसलिये कुछ दूषित रक्त छोड़कर ही रोक देना चाहिये, परन्तु रक्तस्राव का अतियोग नहीं करना चाहिये[1] ॥४३॥

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥४४॥

शरीर का मूल—(उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण) रक्त ही है, रक्त से ही शरीर का धारण होता है। इसलिये यत्नपूर्वक रक्त की रक्षा करनी चाहिये—रक्त ही जीव है—यह स्थिति है ॥४४॥

स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत् ॥४५॥

रक्तावशेष में पश्चात्कर्म—रक्तस्राव होने पर शीत परिषेक आदि से वायु का यदि कोप हो जाये एवं सूजन तथा पीड़ा हो तो कवोष्ण घी का उस स्थान पर सेचन करना चाहिये ॥४५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शोणितवर्णनीयो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अथातो दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१,२॥

इसके आगे दोष (वातादि), धातु (रसादि और उपधातु), मल (पुरीषादि), इनके क्षय एवं वृद्धि को बताने के लिये इस अध्याय का अवतरण करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

दोषधातुमलमूलं हि शरीरं, तस्मादेतेषां लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥३॥

हे सुश्रुत! जिस प्रकार वृक्षों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में मूल ही प्रधान हैं, उसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में दोष धातु एवं मल कारणभूत हैं! इसलिये इनके वर्णित लक्षणों को सुनो ॥३॥

तत्र, प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति, रागपक्त्योजस्तेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृत् श्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥४॥

इनमें—प्रस्पन्दन (शरीर का चालन-व्यान वायु का कार्य), उद्वहन (इन्द्रिय विषयों का धारण करना-उदान कर्म), पूरण (आहार द्वारा भरना-प्राणकर्म), विवेक (रस, मूत्र और पुरीष का पृथक् करना समान वायु का कर्म), धारण (शुक्र-मूत्रादि का वेगोपस्थिति में कर्म करना और आवेगकाल में धारण करना अपान वायु का कर्म), इस प्रकार प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान रूप में विभक्त होकर वायु शरीर को धारण करती है।

प्रकृतिस्थ पित्त—रागकृत् (रस को रंगना-रंजकाग्निपित्त), पक्तिकृत् (आहार का पकाना—पाचकाग्निपित्त), ओजकृत् (हृदय में स्थिति-सोमरूप-साधक), तेजकृत् (दृष्टिकारक आलोचक), मेधाकृत् (बुद्धि को करनेवाला-साधक), ऊष्मकृत् (शरीर की गरमी को करनेवाला-त्वचा में स्थित, भ्राजक), इस प्रकार—पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक, भ्राजक भेद से पाँच भागों में विभक्त हुआ पित्त अग्निकर्म से शरीर का उपकार करता है[1] ॥

प्रकृतिस्थ कफ—सन्धिकृत् (सन्धिबन्धन करता है—श्लेष्मक), स्नेहनकृत् (शरीर को स्निग्ध करता है—क्लेदक), रोपणकृत् (व्रण का भरनेवाला—सौम्य होने से—बोधक), पूरणकृत् (बहुतमूर्त होने से शरीर को भरनेवाला), बल एवं स्थिरता करनेवाला (अवलम्बक), इस प्रकार श्लेष्मक, क्लेदक, बोधक, तर्पक, अवलम्बक भेद से पाँच प्रकार का कफ उदककर्म द्वारा शरीर का उपकार करता है।

रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति, रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च, अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च, मज्जा स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति, शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं बीजार्थं च ॥५॥

रस—सन्तोष, शरीर का प्रीणन और रक्त का पोषण करता है। रक्त—वर्ण की निर्मलता, मांस का पोषण और जीवन देता है। मांस—शरीर एवं मेद का पोषण करता है। मेद—स्नेह-स्वेद उत्पन्न करता है, शरीर में दृढ़ता और अस्थियों का पोषण करता है। अस्थि-शरीर को धारण करती है और मज्जा-प्रीति, स्नेह, बल, शुक्र का पोषण और अस्थियों

---

१ शरीर से अधिक से अधिक रक्त साढ़े तेरह पल निकलना चाहिये—

परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थशोणितमोक्षणे।
वमने च विरेके च तथा—शोणितमोचणे।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः।

१ मेधा एवं ओज का साधक होने से पित्त को साधक कहते हैं। योगी लोग हृदय और मूर्द्धा का एक करके ही भगवान् को पाते हैं। (यथा—मूर्द्धानमस्य संसीव्य अथवा हृदयं च यत्। अथर्ववेद)।

का पोषण करती है। शुक्र–शौर्य, जल्दी क्षरण (वीर्य का), प्रीति-स्नेह (स्त्रियों में), देह वल (उत्साह उपचय रूपी), हर्षबीज (स्त्रियों में) और (गर्भ) के लाभ के लिये है (॥१॥)

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च, बस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रं, स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत् (॥२॥)

पुरीष—शरीर का धारण, वायु, अग्नि का अवष्टम्भ करता है। मूत्र—मूत्राशय का भरना, एवं आर्द्रता उत्पन्न करता है। स्वेद—क्लिन्नता एवं त्वचा में कोमलता उत्पन्न करता है। (मल के लिये कहा है—सर्वधातुक्षयार्त्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् (॥२॥)

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च, गर्भो गर्भलक्षणं स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति ॥५॥

आर्त्तव—सम्पूर्ण रक्त के लक्षणों से युक्त एवं गर्भ का करनेवाला है। गर्भ—गर्भ के लक्षण (चूचुकों में कृष्णता आदि) उत्पन्न करता है। स्तन्य—दूध स्तनों में भारीपन वृद्धि और वालकों में जीवन देता है ॥५॥

तत्र विधिवत् परिरक्षणं कुर्वीत ॥६॥

इन प्रकृतिस्थ दोष, धातु, मलों की रक्षा भली प्रकार से करनी चाहिये ॥६॥

अत ऊर्ध्वमेषां क्षीणलक्षणं वक्ष्यामः। तत्र, वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च, पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च, श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च ॥७॥

इसके आगे इनके क्षीण होने के लक्षणों को कहते हैं। (इनका क्षय—अतिसंशोधन से, अतिसंशमन से, उपस्थित वेगों के रोकने से, असात्म्य अन्न से, मन के संताप से अतिव्यायाम से, अनशन से, अतिमैथुन से होता है)। इनमें—वायु के क्षय होने पर—शरीर में चेष्टाओं का मन्द होना, अल्पवाक्त्व (थोड़ा बोलना), अप्रहर्ष (अतुष्टि) और मूढ संज्ञता (सम्यक् ज्ञान का नष्ट होना) होती है। पित्त के क्षय होने पर—उष्णिमा एवं अग्नि का मन्द होना तथा निष्प्रभता (चेहरे पर से तेज में कमी) आ जाती है। श्लेष्मा के क्षय होने पर—रूक्षता, शरीर के अन्दर जलन, आमाशय एवं उर, कण्ठ, शिर, सन्धियों में शून्यता (सुप्तता), सन्धियों में शिथिलता—प्यास का लगना और नींद का न आना होता है। (क्षीणा जहाति स्वं लिंगं, कर्मणः प्राकृताद् हानिः वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्—चरक) ॥७॥

तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥८॥

दोषों के क्षय की चिकित्सा—दोषों के क्षय में अपनी योनि (अपने कारण) को बढ़ानेवाले द्रव्यों का (कर्मों का भी) उपयोग करना चाहिये। यही इनकी चिकित्सा है वायु के क्षय में वातवर्धक, पित्त के क्षय में अग्निवर्धक, कफ के क्षय में कफवर्धक उपाय करने चाहिये। कफ की योनि रस, पित्त की योनि रक्त। इसलिये रस—रक्तवर्धक, उपाय करने चाहिये। [1]वायु की योनि वायु है। (धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैः वा वाय्वाहारविहारैः अभ्यस्यमानैः वृद्धिं प्राप्नुवन्ति)। कर्मापि यद्यस्य धातोः वृद्धिकरं तत्तदा सेव्यम्—चरक०।

वि० मन्तव्य—स्व-अपने तथा योनि—कारण को बढ़ानेवाले द्रव्यों का उपयोग—सेवन ही प्रतिकार—चिकित्सा है अर्थात् जैसे मांस में—सीधे मांस को बढ़ानेवाले तथा उसके कारण—उत्पादक रक्त को बढ़ानेवाले द्रव्यों का सेवन करना चाहिये ॥८॥

रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च, शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च; मांसक्षये स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कतर रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च, मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च, अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गौ रौक्ष्यं च, मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च, शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् ॥९॥

रस के क्षय होने पर—हृदय प्रदेश पर पीड़ा, कम्पन, शोष (मुख का सूखना), शून्यता और तृष्णा होती है। रक्त का क्षय होने पर—त्वचा में कठोरता, वातवृद्धि के कारण अम्लरसेच्छा, उष्णवृद्धि के कारण शीतेच्छा, और सिराओं में शिथिलता होती है। मांस के क्षय होने पर—नितम्ब, गण्डस्थल, ओष्ठ, मेहन, जंघा, वक्षस्थल, कक्षा, पिण्डलियाँ, उदर, ग्रीवा, में शुष्कता, रूक्षता, पीड़ा, अङ्गों का साद और धमनियों में शिथिलता होती है। मेद का क्षय होने पर—प्लीहा का बढ़ना, सन्धियों में शून्यता (सुप्ति), रूक्षता एवं अतिस्निग्ध मांस की इच्छा होती है। अस्थि का क्षय होने पर—अस्थियों में वेदना, दांत, नखों का टूटना और रूक्षता होती है। मज्जा का क्षय होने पर—शुक्र की शून्यता, पर्वों (ग्रन्थियों) में दर्द, अस्थियों में पीड़ा तथा अस्थियों में रिक्तता अनुभव होती है। शुक्र का क्षय होने पर—शिश्न एवं अण्डकोषों में दर्द, मैथुनकार्य में

[1] तेज ही शुक्र है। तेज का स्थान दृष्टि है। कहा भी है—"तेजो दृष्टिरिति ख्यातं-तेजः शुक्रं प्रकीर्त्तितम्" "वातक्षये शीतरूक्षैर्नत्वन्यैः कटुकादिभिः। पित्तक्षयेऽपि कटुकैः न तु लवणादिभिः क्षीरादिभिः स्निग्धशीतैः प्रतिकुर्यात् कफक्षये" ॥

असमर्थता, अथवा किसी प्रकार प्रवृत्ति होने पर भी देर में शुक्र का क्षरण, क्षरण होने पर थोड़ा शुक्र आता है या धातुक्षय के कारण कुपित वायु रक्तमिश्रित शुक्र का क्षरण करती है ॥ ९ ॥

तत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥ १० ॥

धातुओं का क्षय होने पर भी अपने कारण को बढ़ानेवाले द्रव्यों का (तथा कर्मों का) उपयोग करना चाहिये। यथा— रक्त से मांस बढ़ता है, मांस से मेद, मेद से अस्थि, तरुण अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र बढ़ता है। समान गुणवाले द्रव्यों का उपयोग—रक्त के क्षय होने पर—तैजस पदार्थों का उपयोग करना चाहिये। द्रव्यों की भाँति कर्मों का भी उपयोग करना चाहिये[1] ॥ १० ॥

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीड़ा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ संचरणं च सूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्पमूत्रता च, अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः। स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च, तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥ ११ ॥

मल के क्षय होने पर—हृदय प्रदेश एवं पार्श्वों में पीड़ा शब्द के साथ वायु का ऊपर की ओर गमन करना तथा उदर में गति करना होता है। मूत्र के क्षय होने पर—मूत्राशय में पीड़ा और मूत्र का थोड़ा आना होता है। इन अवस्थाओं में भी अपनी योनि को बढ़ानेवाले—समानगुणी द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। स्वेद के क्षय होने पर रोमकूपों में जड़ता, त्वचा में शुष्कता, स्पर्शज्ञान में विकार और पसीना नहीं आता। इस अवस्था में—तैल की मालिश तथा पसीना देना चाहिये ।११।

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च, तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः। स्तनक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा, तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः। गर्भक्षये गर्भास्पन्दनमनुन्नतकुक्षिता च तत्र प्राप्तवस्तिकालायाः क्षीरवस्तिप्रयोगो मेध्यान्नोपयोगश्चेति ॥ १२ ॥

आर्त्तव के क्षय होने पर—ठीक समय पर आर्त्तव का न आना अथवा थोड़ा आना, योनि में वेदना होती है। इसके लिये संशोधन (वामक) द्रव्यों का एवं आग्नेय द्रव्यों (तिल, माष, सुरा आदि) का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिये। दूध का क्षय होने पर—स्तनों में ग्लानता, दूध का अभाव अथवा थोड़ा दूध आता है। इस अवस्था में कफवर्धक द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। गर्भ के क्षय होने पर—गर्भ में स्पन्दनों का रुक जाना और उदर में वृद्धि का न होना (गर्भाशय का उदर में ऊपर न आना) होता है। इस अवस्था में आठवाँ मास लग जाने पर दूध की व्याधियाँ एवं दूध घी (बकरे का मांस या बस्ताण्ड) आदि मेध्यान्न का उपयोग करना चाहिये। चरक में—गर्भस्त्वामगर्भेन। तत्र पयसां रसानामामगर्भाणां च गर्भवृद्धिकरः ॥ १२ ॥

तत्र ऊर्ध्वमतिवृद्धानां दोषधातुमलानां लक्षणं वक्ष्यामः। वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्यपसेवनाद्भवति। तत्र, वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामि·(म)--ता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं गाढवर्चस्त्वं च, पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं च, श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्धिविश्लेषश्च ॥ १३ ॥

इसके आगे मात्रा से अधिक बढ़े दोष-धातु-मलों के लक्षणों की व्याख्या करते हैं। इन सबकी वृद्धि अपने कारण को बढ़ानेवाले द्रव्यों के अति सेवन से होती है। वात के बढ़ने पर—वचन में कर्कशता, शरीर में मांस का क्षय (कृशता), शरीर में कालिमा, शरीर का फूटना, उष्णता की चाह, नींद का न आना, उत्साहहानि और मल का शुष्क होना होता है। पित्त के बढ़ने पर—पीला दिखाई देना, त्वचा पर पीलापन, संताप (मन की ग्लानि), शीत वस्तुओं की इच्छा, नींद का कम आना, मूर्छा, शक्तिह्रास (ओज का नाश), इन्द्रियों में निर्बलता, मल-मूत्र और आँख में पीलापन हो जाना है। कफ के बढ़ने पर—शरीर में, आँखों में श्वेतिमा, शीतलता, अङ्गों में जड़ता, भारीपन, मन-शरीर में ग्लानि, तन्द्रा, निद्रा, सन्धि टूटना होता है ॥ १३ ॥

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति, रक्तं रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं च, मांसं स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च, मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यं च, अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्तांश्च, मज्जा सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च, शुक्रं शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च ॥ १४ ॥

रस के अति बढ़ने पर—हृल्लास (मिचली) प्रसेक (लालास्राव) होता है। रक्त के अधिक बढ़ने पर अङ्गों में तथा आंखों में लालिमा, एवं सिरायें (veins) रक्त से भरपूर होती हैं। मांस के बढ़ने पर—नितम्ब, गण्डस्थल, ओष्ठ, जङ्घा, योनि, बाहु, एवं ऊरु में वृद्धि तथा शरीर में भारीपन आ

---

१ कहा भी है—

"यद्यपि पञ्चभूतानां वाच्यः पाको द्विधा पुनः।
तथाप्यपां प्रधानत्वाद् रसः सौम्योऽभिधीयते ॥
अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः।
मेदस्यम्बुभुवोरस्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ॥
मज्ज्ञि शुक्रे वा सौम्यस्य मूत्रेऽम्बुशिखिनो गुणाः।
भुवो विश्यार्त्तवे त्वाग्नेय-प्रस्वेदस्तनयोरपाम् ॥
इति धातुमलेषूक्ता गुणाः प्राधान्यतः स्थिताः।
प्रायेण भगुणा गर्भे स्तोकाद्यनुग्रहा इति ॥"

जाता है। मेद के बढ़ने पर–अङ्गों में चिकनापन, उदर एवं पार्श्वों में वृद्धि, कास, श्वास, हिक्का आदि रोग, और शरीर से दुर्गन्ध आती है। अस्थियों के बढ़ने पर–अधिक अस्थियां (चणकास्थियाँ), एवं दाँतों में अधिकता उत्पन्न होती हैं। मज्जा के बढ़ने पर–सम्पूर्ण अंगों में खासकर आँखों में भारीपन आ जाता है। शुक्र के बढ़ने पर—शुक्राश्मरी एवं शुक्र की अतिप्रवृत्ति होती है॥ १४॥

पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च, मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं वस्तितोदमाध्मानं च, स्वेदस्त्वचा दौर्गन्ध्यं कण्डूं च॥ १५॥

मल के बढ़ने पर—आध्मान, एवं कुक्षि (उदर) में वेदना उत्पन्न होती है। मूत्र के बढ़ने पर मूत्र में वृद्धि (या वृद्धि रोग), बार बार मूत्रत्याग की प्रवृत्ति, मूत्राशय में पीड़ा एवं अफरा होता है। स्वेद के बढ़ने पर—त्वचा में दुर्गन्धता और खाज होती है॥ १५॥

आर्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च, स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च, गर्भो जठराभिवृद्धिं स्वेदं च॥ १६॥

आर्त्तव के बढ़ने पर—अङ्गों का टूटना, रक्त का अधिक आना और उसमें दुर्गन्धि आती है। दूध के अधिक बढ़ने पर—स्तनों में मोटापा, दूध का बार-बार आना और पीड़ा होती है। गर्भ के बढ़ने पर उदर में वृद्धि और पसीना आता है, । ('दौर्गन्ध्यं च' के स्थान पर 'दौर्बल्यं च' भी पाठ है) ।१६।

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत॥ १७॥

इन बढ़े हुए दोष, धातु एवं मलों का अपना २ संशोधन (निकालना-निर्हरण), शमन (शान्त करना-घटाना) तथा क्षय से अविरुद्ध-अनुकूल (क्षयकारक-घटानेवाले) क्रिया विशेष—चिकित्सा विधानों का प्रयोग करना चाहिये॥१७॥

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्॥ १८॥

ये अपने आप बढ़े हुए भी अनर्थकारक हैं, और दूसरे धातु के कारण बढ़े हुये महान् अनर्थ करनेवाले हैं (रक्त स्वयं बढ़ने पर भी अनर्थकारक है, मांस के कारण रक्त बढ़कर महान् अनर्थ को करता है)। क्योंकि पूर्व (प्रथम) धातु बढ़कर पर (अगले-दूसरे) धातु को बढ़ाता है (रस बढ़कर रक्त को भी बढ़ाता है)। इसी प्रकार पर (दूसरा) धातु बढ़कर पूर्व (प्रथम) धातु को बढ़ाता है (रक्त बढ़कर रस को भी बढ़ाता है)। पर (दूसरा) धातु क्षीण होने पर दूसरे धातु का भी क्षय करता है। इसलिये अति बढ़े हुए धातुओं का ह्रास करना हितकारी है॥ १८॥

बललक्षणं बलक्षयलक्षणं चात ऊर्ध्वमुपदेक्ष्यामः। तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात्॥ १९॥

इसके आगे बल लक्षणों को तथा बलक्षय के लक्षणों को कहते हैं। रस से लेकर शुक्र तक समस्त धातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है, उसी को बल कहते हैं, उसी को ओज कहते हैं—अपने शास्त्र की परिभाषा से यह संज्ञा है।

वि० मन्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि हे सुश्रुत! हम अपने विचार के अनुसार ओजस् को "बल" कहते हैं। वैसे तो ओजस् द्रव्य है जैसा श्लो० २१--२२ में कहा है। और ओजस् बल (शक्ति) का कारण है और बल ओजस् का कार्य है, परन्तु कभी २ कारण एवं कार्य में अभेद (समानता) मान लिया जाता है और फिर ओजस् तथा बल को बढ़ाने की विधि भी एक ही है, जो २ आहार-विहार ओजस् बढ़ाते हैं वे ही बल को भी॥ १९॥

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति॥ २०॥

सब धातुओं के सारभूत बल के कारण शरीर में स्थिरता मांसवृद्धि, शारीरिक मानसिक सब कार्यों में अप्रतिहत गति, स्वर एवं वर्ण की निर्मलता, श्रोत्र, नासिका आदि दशों इन्द्रियों में तथा मन एवं बुद्धि आदि अन्तःज्ञान इन्द्रियों में अपने कार्य का ज्ञान भली प्रकार होता है।

वि० मन्तव्य - बाह्यकरण (बाहरी करण) हस्त पाद आदि कर्मेन्द्रिय और आभ्यन्तर करण (भीतरी करण) श्रोत्र चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय का नाम है, करण अर्थात् इन्द्रिय। करण का अर्थ है 'क्रियते अनेन इति करणम्' किया जाता है जिसके द्वारा वह है "करण"। जिनके द्वारा कर्म किये जाते हैं वे कर्मकरण या कर्मेन्द्रिय तथा जिनके द्वारा शब्दादि विषयों का ज्ञान किया जाता है वे ज्ञानकरण या ज्ञानेन्द्रिय कहे जाते हैं। और मनस् के द्वारा सुख दुःख आदि का मनन (मानना) किया जाता है और बुद्धि द्वारा बोध (समझना) किया जाता है, अतः वे भी करण-अन्तःकरण माने जाते हैं॥ २०॥

भवन्ति चात्र—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥२१॥
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनः।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्॥२२॥

कहा भी है—

ओज–सौम्य, स्नेहगुण युक्त, शुक्ल (श्वेत) शीतवीर्य, शरीरावयवों को स्थिर करनेवाला, प्रसरणशील,

विविक्त (श्रेष्ठ गुणों से युक्त), मृदु (कोमल) मृत्स्न (पिच्छिल) एवं अग्नीषोमीय आदि का श्रेष्ठ स्थान है। प्राणियों के सम्पूर्ण शरीरावयव इस ओज (बल) से व्याप्त होते हैं। इस ओज के अभाव से प्राणियों के शरीर नष्ट हो जाते हैं[1] ॥२१,२२॥

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः।
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्।
तेजः समीरितं तस्माद्विस्रंसयति देहिनः ॥२३॥

ओज का क्षय—अभिघात से, धातुओं के क्षय से, क्रोध से, शोक से, चिन्ता से, श्रम से, भूख के कारण धातुवह स्रोतों से निकला हुआ ओज उपर्युक्त कारणों के कारण क्षीण हो जाता है। वायु के कारण ओज सम्यक् प्रेरित होकर प्राणियों के हृदय स्थान से चलायमान हो जाता है। "परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः" ॥ चरक० ॥ २३ ॥

१ ओज शब्द से अभिप्राय अण्डों के अन्तःस्राव से है। वृषण दो प्रकार का स्राव उत्पन्न करते हैं। एक बहिःस्राव और दूसरा अन्तःस्राव। बहिःस्राव को शुक्र कहते हैं और अन्तःस्राव को ओज कहते हैं। यही स्राव सम्पूर्ण शरीर में फैला हुआ है। साधारणतः वृषण अन्तःस्राव को ही उत्पन्न करते हैं। परन्तु स्त्री के सम्पर्क या कामेच्छा के उत्पन्न होने से रक्त में परिवर्त्तन आ जाता है। शरीर में श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाता है। रक्त की गति बढ़ जाती है। स्त्रियों में स्तन हिलने लगते हैं। इस अवस्था में वृषण बहिःस्राव पैदा करने लगते हैं। अब अन्तःस्राव बन्द हो जाता है। इस अन्तःस्राव ओज के दो भाग हैं। एक पर दूसरा अपर। पर-ओज की मात्रा आठ बिन्दु हैं और अपर ओज की मात्रा आधा अञ्जलि है। पर ओज में स्रंसन या विकार नहीं होता। विकार या क्षय, अपर ओज में ही आता है। इसलिये पर ओज में विकार आने से परिणाम मृत्यु ही है। विस्तार के लिये देखिये चरक० सूत्रस्थान।

चरक में ओज के दस गुण—

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥

गाय का दूध ओज के समान गुणवाला है, इससे वह बढ़कर है। विष ओज से विपरीत गुणोंवाला है, इसी से वह मारक है। ओज एक अदृश्य वस्तु है। इसका अनुभव मकरध्वज में से निकलते स्वर्ण एवं शुद्ध स्वर्ण को कसौटी पर रगड़ने से स्वर्ण के ओज के नष्ट होने से कर सकते हैं। मकरध्वज के स्वर्ण से निकली स्वर्ण भस्म, दूसरे स्वर्ण से बनी भस्म की अपेक्षा हीन वीर्य होती है। ओज एक कान्ति है; इसी से वेदमन्त्र में—'तेजोऽसि तेजो मयि देहि; ओजोऽसि ओजो मयि देहि' यह प्रार्थना है। विस्तार के लिये मेरी भारतीय रसपद्धति देखिये।

तस्य विस्रंसो व्यापत् क्षय इति त्रयो दोषाः लिङ्गानि भवन्ति सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे, स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये ॥२४॥

इस ओज के विकृत होने के लक्षण—विस्रंसन (स्थान से चलायमान होना), व्यापत् (अन्यथा रूप होना -विकृत) एवं क्षय—यह दूषित ओज के लक्षण हैं।

ओज के अपने स्थान से चलायमान होने पर—सन्धियों का विघट्टन, अङ्गों में पीड़ा, दोषों का स्थानभ्रंश होना, शारीरिक-मानसिक क्रियाओं का निरोध होता है। ओज के व्यापन्न (दोषों से दूषित होने पर) अङ्गों में जड़ता, शरीर में भारीपन वातजन्य शोफ, गौर आदि वर्णों का बदलना, ग्लानि और निद्रा का आना (आलस्य) होता है। ओज के क्षय होने पर—मूर्च्छा, मांस का क्षय, मोह, प्रलाप और मृत्यु होती है।

वि० मन्तव्य—ओजस् की तीन विकृतियाँ होती हैं—
१—विस्रंसन—स्वस्थान (समस्त शरीरावयव) से विचलित होना-यह "मज्जौजसां वा......." च० चि० अ० ६ श्लो० ११ के तथा "ओजसा मधुमेहः" चक्रपाणि के अनुसार मधुमेह है अर्थात् मधुमेह में ओजस् मूत्र के साथ बह जाता है, फलतः उक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। २—व्यापद्-स्वस्थानस्थित ओजस् का विकृत हो जाना।
३—क्षय-स्वपरिमाण से ह्रास। चरक के शब्दों में—
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवोजसः क्षये ॥ सू०अ० १७॥

अर्थात् ओजस् का क्षय होने पर—डरता है, बार २ दुर्बलता का अनुभव करता है, चिन्ता करता है, इन्द्रियाँ व्यथित-दुर्बल हो जाती हैं, कान्ति नष्ट हो जाती है, मनस् दुःखी रहता है या उसमें बुरी भावना उठती है, शरीर रूक्ष हो जाता है और और कृश हो जाता है ॥ २४ ॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसणं श्रमः ॥२५॥
अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्रंसलक्षणम्।
गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम् ॥२६॥
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।
मूर्च्छा, मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च ॥२७॥
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये।

कहा भी है—

ओज के तीन दोष हैं। यथा—व्यापद्, विस्रंसन और क्षय। ओज के विस्रंसन होने पर—शरीर का टूटना, शरीर में

पीड़ा, वातादि की स्थानच्युति, श्रम, क्रियाओं का न होना होता है। ओज के व्यापद् होने पर—शरीर में भारीपन, अङ्गों में जड़ता, ग्लानि वर्ण का बदलना, तन्द्रा, निद्रा, वातजन्य शोफ होता है। ओज के क्षय होने पर—मूर्च्छा, मांस की क्षीणता, मोह, प्रलाप, मूढ़ता एवं पूर्व कहे लक्षण होते हैं ॥ २५-२७ ॥

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत्, इतरं तु मूढसंज्ञं वर्जयेत् ॥ २८ ॥

चिकित्सासूत्र—ओज के विस्रंसन या व्यापन्न होने की अवस्था में रसायन-वाजीकरण आदि क्रियाओं से अग्नि आदि से अविरुद्ध उपचारों से ओज (बल) को बढ़ाना चाहिये। क्षीण ओज की—जिसमें संज्ञा नष्ट हो गई हो ऐसे पुरुष को छोड़ दे—क्षीणावस्था में असाध्य है[१] ॥ २८ ॥

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति ॥२९॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ॥३०॥
यस्य धातुक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत्।
प्रक्षीणं च बलं यस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥३१॥

कहा भी है—

जिस पुरुष के दोष या धातु अथवा मल, या बल क्षीण हो जाते हैं, वह अपने कारण को बढ़ानेवाले खान-पान की चाहना करता है। जिस २ खान पान की चाहना क्षीण पुरुष करता है, उस खान-पान के मिलने से उस पुरुष का क्षय नष्ट

१ इसके आगे प्रथम संस्करण में इतना अधिक था—

आग्नेय तेज भी क्रमशः धातुओं के परिपाक से स्नेह में बदलकर वसा रूप हो जाता है। यह वसा स्त्रियों में विशेष करके होती है। इसलिये स्त्रियों में मृदुता, सुकुमारता, कोमलता या थोड़े रोम, उत्साह, आँखों की स्वच्छता, शरीर की बनावट, पाचन शक्ति, कान्ति दीप्ति, आदि गुण होते हैं। यह वसा—कषाय, शीत, तिक्त, रूक्ष, उपस्थित वेगों को रोकने से, अतिमैथुन, व्यायाम और रोग-जन्य कृशता से दूषित हो जाती है। इस वसा के भी विस्रंसन (चलायमान) होने पर—कठोरता रङ्ग का बदलना, पीड़ा, कान्तिहीनता होती है। वसा के दूषित होने पर—कृषता, अग्नि की मन्दता, एवं वसा-नीचे या तिरछी—खिसक जाती है (शरीर का निचला भाग या पार्श्व भारी हो जाता है)। वसा के क्षय होने पर—दृष्टिहानि, अग्नि-मन्दता, बल का नाश, वायु का प्रकोप या मृत्यु होती है। वसा के क्षय होने पर—स्नेहपान, स्नेह का अभ्यंग, देह, परिषेक स्निग्ध एवं लघु भोजन देना चाहिये। वसा के विस्रंसन या व्यापद् अवस्था में—रसायन वाजीकरण कर्म करने चाहिये।

हो जाता है। जिस पुरुष में धातुक्षय के कारण वायु कुपित होकर संज्ञा एवं कर्म को नष्ट कर देता है, और जिसका बल क्षीण हो गया है—वह असाध्य है[१]। 'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च' ॥ चरक० ॥ २९-३१ ॥

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च। तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याऽव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापादयति, तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्यक्रथनगात्रसादगद्गदत्वानि क्षिप्रमेवाविशन्ति, सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः, कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोऽल्पप्राणो भवति, प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम्, अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत्। उत्पन्ने तु शिलाजतुगुग्गुलुगोमूत्रत्रिफलालोहरजोरसाञ्जनमधुयवमुद्गकोरदूषकश्यामाकोद्दालकादीनां विरूक्षणच्छेदनीयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगो व्यायामो लेखनवस्त्युपयोगश्चेति ॥ ३२ ॥

रस (आहार रस) के कारण से स्थूलता, कृशता (एवं मध्यमावस्था) होती है। इनमें कफवर्धक आहार करनेवाले, अजीर्णावस्था में या पूर्व भोजन के न पचने पर भोजन करनेवाले, व्यायाम न करनेवाले, सदा दिन में सोनेवाले पुरुष में धातु अग्निद्वारा परिपाक न होने से आमावस्था में ही तथा अधिक मधुर अन्नरस शरीर में फैलकर अतिस्नेह के कारण मेद को उत्पन्न करता है। यह अतिस्थूलता को उत्पन्न करता है। इस स्थूल पुरुष को क्षुद्रश्वास, पिपासा, भूख, नींद, पसीना, शरीर में दुर्गन्धता, क्रथन (सोते हुए गले में घुर्घुर ध्वनि-घर्राटे), अङ्गों में पीड़ा, गद्गद वाक् (अव्यक्त वचन) ये रोग शीघ्र ही आक्रान्त कर लेते हैं। मेद की सुकुमारता के कारण सम्पूर्ण क्रियाओं में असमर्थता होती है। कफ एवं मेद द्वारा मार्ग के रुक जाने से अल्पव्यवाय (अल्पमैथुन शक्ति) होती है। कफ एवं मेद से मार्गों के रुक जाने के कारण शेष रक्तादि धातु वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। इसलिये स्थूल मनुष्य अल्पप्राण होता है। प्रमेह, प्रमेहपिड़िका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि, अथवा वातरोग, इनमें से किसी एक रोग से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। सब प्रकार के स्रोतों के अवरुद्ध होने के कारण—इस पुरुष में सब रोग बलवान् होते हैं। इसलिये स्थूलता के कारणों का त्याग करना चाहिये।

१ विस्तार के लिये—खान पान डल्हण की निबन्धसंग्रह टीका में देखिये।

चिकित्सा—स्थूलता उत्पन्न हो जाने पर शिलाजतु, गुग्गुलु, गोमूत्र, त्रिफला, लोहभस्म, रसौंत, मधु, जौ, मूङ्ग, कोरदूषक (कोदो), श्यामक (सोवक) उद्दालक (वनकोद्दालक), गवेधुक आदि क्षुद्र धान्यों का, विरूक्षण (मेद-नाशक-रूक्ष) तथा छेदनीय (स्रोतों का शोधन करनेवाले) द्रव्यों का विधिपूर्वक उपयोग करना चाहिये। एवं व्यायाम तथा लेखन बस्तियों का[1] उपयोग करना चाहिये ॥३२॥

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाक्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमननुक्रामन्नल्पत्वान्नप्रीणाति, तस्मादतिकार्श्यं भवति, सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति, श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति, सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात्, अतस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत्। उत्पन्ने तु पयस्याश्वगन्धाविदारिगन्धाशतावरीबलातिबलानागबलानां मधुराणामन्यासां चौषधीनामुपयोगः क्षीरदधिघृतमांसशालिषष्टिकयवगोधूमानां च,दिवास्वप्नब्रह्मचर्यव्यायामबृंहणवस्त्युपयोगश्चेति ॥३३॥

कार्श्य—वातप्राय-अतिरूक्ष आहार के सेवन करने से, अतिव्यायाम से, अतिमैथुन से, पढ़ने से, भय से, शोक-चिन्ता से, रात में जागने से, प्यास-भूख से, कषाय रस से, या थोड़ा खाने आदि कारणों से रस धातु का उपशोषण हो जाता है। यह शुष्क रस धातु शरीर में फैलता हुआ-शरीर का पोषण नहीं करता। इसलिये शरीर में अतिकृशता रहती है। यह अतिकृश पुरुष भूख-प्यास-शीत-गरमी-वर्षा भार उठाने में असहनशील, वातरोग-बहुल और क्रियाओं में अल्पशक्ति होता है। श्वासकास-शोष-प्लीहा-उदर-अग्निसाद-मन्दता गुल्म, रक्तपित्त; इनमें से किसी एक रोगसे आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। अल्पशक्ति होने के कारण इस पुरुष के सम्पूर्ण रोग बलवान् होते हैं। इसलिये कृशता को उत्पन्न करनेवाले सब कारणों को छोड़ देना चाहिये।

कृशता उत्पन्न होने पर—विदारीकन्द, असगन्ध, पयस्या (क्षीरकाकोली), विदारी, शतावरी, खरैंटी, अतिबला, नागबला (गंगेरन) अन्य मधुर औषधियों का, दूध, घी मांसरस, शालिधान्य (हेमन्तधान्य), साठीधान्य, जौ और गेहूँ का; दिन में सोना, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, बृंहण बस्तियों[1] का उपयोग करना चाहिये ॥३३॥

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातूनुपचिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति सर्वक्रियासु समर्थः क्षुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्षातपसहो बलवांश्च; स सततमनुपालयितव्य इति ॥३४॥

जो मनुष्य समान (न बहुत स्निग्ध, न रूक्ष), स्वस्थवृत्त में कहे साठी लाल चावल, अनार आदि पदार्थों का सेवन करता है,उस व्यक्ति का अन्नरस शरीर में फैलकर समान मात्रा में सब धातुओं को बढ़ाता है। धातुओं के समान होने से मध्यशरीर रहता है। इसलिये सब क्रियाओं में सामर्थ्यवान्-भूख-प्यास शीत-उष्ण-वर्षा-धूप को सहन करनेवाला और बलवान् होता है। इस मध्यशरीर की सदा स्वस्थवृत्त के अनुपालन द्वारा रक्षा करनी चाहिये ॥३४॥

भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥३५॥

कहा भी है—

ये स्थूल एवं कृश दोनों बहुत निन्दित हैं। मध्य शरीर श्रेष्ठ है। स्थूल से कृश व्यक्ति श्रेष्ठ हैं। (क्योंकि स्थूल पूर्व-संशोधन-संशमन क्रिया को सहन नहीं कर सकता है, तथा रोग बलवान् रहता है) ॥३५॥

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम् ॥३६॥

कुपित दोष अपनी शक्ति के कारण (पित्त-कटु उष्ण गुण से, वायु शोषण गुण से, कफ-मार्ग निरोध से), धातुओं का ह्रास करते हैं। जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि अपने तेज द्वारा थाली में रक्खे पानी का ह्रास करती है ॥३६॥

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ॥३७॥

---

१ लेखन बस्तियां—
"त्रिफलाक्वाथ-गोमूत्र-क्षौद्र क्षार-समन्विताः।
उषकादि प्रतिवापा वस्तयो लेखनाः स्मृताः॥
(२) गुरु चापतर्पणं श्रेष्ठं स्थूलानां कर्षणं प्रति।
वातघ्नान्यन्नपानानि श्लेष्ममेदोहराणि च॥
रूक्षोष्णवस्तयस्तीक्ष्णा, रूक्षाण्युद्वर्त्तनानि च।
प्रजागरं व्यवायं च व्यायामं चिन्तनानि च॥ चरक०॥

१ बृंहण वस्तियाँ—
बृंहणद्रव्यतः क्वाथस्तत्कल्कस्नेहसैन्धवौ।
युक्ताः खजप्रमथिता वस्तयो बृंहणा मताः॥
(२) हिता मांसरसाः तस्मै पयांसि च घृतानि च।
स्नानानि वस्तयोऽभ्यंगाः तर्पणातर्पणाश्च ये॥
स्वप्नो हर्षः सुखशय्या मनसो निर्वृतिः शमः।
नवान्नानि नवं मद्यं ग्राम्यानूपौदका रसाः॥
अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं सन्तर्पणेन च।
स्वप्नप्रसंगाच्च नरो वराह इव पुष्यति॥चरक०॥

वैलक्षण्यात्—विसदृशता के कारण (वातादि प्रकृति, रस रक्तादि की भिन्नता छोटे-बड़े आकार के कारण), अस्थायित्वात् अस्थिरता के कारण (अस्थिरता दो प्रकार की है—नित्यग-आवस्थिक), पुरुषों के दोषधातु एवं मल का पलादि मान नहीं है। इनका तोल नहीं हो सकता। "तत्परं प्रमाणमभिज्ञेयम्"। चरक ॥ ३७ ॥

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना ॥३८॥

वैद्यलोग दोष-धातु-मल की जो समता कहते हैं, वह समता-स्वास्थ्य के बिना किसी अन्य कारण द्वारा नहीं कही जा सकती। स्वास्थ्य से ही इनकी समता की परीक्षा होती है ॥३८॥

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ॥३९॥

दोष-धातु मल इनकी असमानता (क्षय, वृद्धि) को अनुमान द्वारा जानना चाहिये। पुरुष को अप्रसन्न इन्द्रियोंवाला देखकर बुद्धिमान् वैद्य अनुमान द्वारा दोषों की असमानता का ज्ञान करे ॥३९॥

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्।
तावद्यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम् ॥४०॥

स्वस्थ के दोष-धातु-मलों की सदा रक्षा करनी चाहिये। अस्वस्थ के बढ़े दोष धातु-मल का ह्रास करना चाहिये, ह्रास हुए दोष-धातु-मल को बढ़ाना चाहिये। यह कार्य तब तक वैद्य को करना चाहिये—जब तक कि रोग युक्त पुरुष नीरोग हो, यही दोषादि के साम्य लक्षण हैं ॥४०॥

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥४१॥

स्वस्थ पुरुष का लक्षण—समान दोषवाला, समान (न मन्द, न तीक्ष्ण, न विषमाग्नि), अग्निवाला समान धातु, समान मलवाला, समान क्रियावाला, प्रसन्न आत्मा इन्द्रिय-मनवाला पुरुष स्वस्थ कहा जाता है।

वि० मन्तव्य—सम शब्द का अर्थ है—उचित परिमाण में सम या स्वाभाविक परिमाणवाला। क्रिया का अर्थ है शरीर के अन्त्र, हृदय, फुप्फुस एवं यकृत् आदि का व्यापार या कर्म॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने दोष-धातुमलक्षयवृद्धि-विज्ञानीयो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

अथातः कर्णव्यधबन्धनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'कर्णव्यधबन्धन विधि' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते। तौ षष्ठे मासि सप्तमे वा शुक्ले पक्षे प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के कुमारधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः प्रलोभ्याभिसान्त्वयन् भिषग्वामहस्तेनाकृष्य कर्णं दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिणहस्तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया, पूर्वं दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः, ततः पिचुवर्तिं प्रवेशयेत् ॥३॥

बालक के कानों को दो कारणों से बींधा जाता है। एक-रक्षा के कारण (वृद्धिरोग से रक्षा करने के उद्देश्य से[1]), और दूसरा-आभूषण पहिनाने के उद्देश्य से। कान का बींधना--छठे या सातवें महीने में—शुक्लपक्ष में—प्रशस्त-तिथि प्रशस्त करण एवं प्रशस्त मुहूर्त्त तथा नक्षत्रों में मंगल—स्वस्तिवाचन करके, कुमार को परिचारिका की गोद में या कुमार को रखनेवाली की गोद में बिठाकर-खिलौने से प्रलोभित करके—पुचकारते हुए—वैद्य वामहस्त से कान को खींचकर सूर्यकिरणों से प्रकाशित स्वाभाविक छिद्र में (जहाँ पर बसा कम होती है) दक्षिण हाथ से धीरे धीरे सीधा छेद करे। बींधते समय सूई को सीधा चलाना चाहिये। पतले कान को सूई से बींधना चाहिये—मोटे कान को आर से (जिससे कि चमार सीते हैं) बींधे। कुमार का प्रथम दक्षिण कर्ण बींधना चाहिये, पीछे वाम, कुमारिका का प्रथम वाम, फिर दक्षिण कर्ण बींधना चाहिये। बींधने के पश्चात् कान में पिचुवर्त्ति (कपड़े की नरम बत्ती) लगा देनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—रक्षाभूषण निमित्तं······अर्थात् बालग्रहों से रक्षा के लिये। दैवकृत छिद्र कान की पेपड़ी को तानने पर जहाँ से सूर्य की धूप का सा उजाला दिखाई पड़े-प्रतीत हो वह दैवकृत छिद्र

---

१ आंत्र उतरने पर वा अण्डकोषों के विकारों (ब्रघ्न) में अब भी कान को बींधने की प्रथा है। इससे आराम होता है। आगे स्वयं भी कहेंगे—

"व्यत्यासाद् वा शिरां विध्येत् आंत्रवृद्धिनिवृत्तये।" सुश्रुत।

(२) कुमारतन्त्र में—

कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहैरभिभूयते।
भूष्यतेऽस्य मुखं तस्मात् कार्यस्तत् कर्णयोर्व्यधः ॥
यद्यपि कर्णव्यधेन व्रणिनि काले रक्षोभयं भवति,
तथाऽपि तदल्पकालं प्रतिकर्त्तव्यं च ॥
तेन चिरकालरक्षार्थं तदल्पं व्यजत एव। भानुमती।

माना जाता है और वहीं वेध किया जाता है। इस प्रदेश में वेध होने पर रक्त नहीं निकलता अथवा बहुत थोड़ा निकलता है।

शोणितबहुत्वेन वेदनया चान्यदेशविद्धमिति जानीयात्, निरुपद्रवतया तद्देशविद्धमिति ॥४॥

यदि रक्त अधिक आये एवं वेदना बहुत हो तो समझना चाहिये कि दैवकृत छिद्र में छेद नहीं हुआ। और यदि किसी प्रकार का उपद्रव न हो तो समझना चाहिये स्वाभाविक छेद में विंधा है ॥४॥

तत्राज्ञेन यदृच्छया विद्धासु सिरासु कालिकामर्मरिकालोहितिकासूपद्रवा भवन्ति। तत्र, कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति, मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च, लोहितिकायां मन्यास्तम्भापतानकशिरोग्रहकर्णशूलानि भवन्ति। तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥५॥

कर्णवेध कर्म में—अनजान वेधक द्वारा अथवा दैवयोग से—कालिका मर्मरिका अथवा लोहितिका संज्ञक सिराओं में वेध हो जाता है तो उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं या हो सकते हैं, यथा—कालिका सिरा का वेध हो जाने पर ज्वर, दाह, शोथ और वेदना होती है, मर्मरिका का वेध होने पर—वेदना, ज्वर तथा सिराग्रन्थियाँ होती हैं और लोहितिका का वेध होने पर—मन्यास्तम्भ, अपतानक, शिरोग्रह, तथा कर्णशूल आदि हो जाते हैं। इन उपद्रवों में यथोचित उपचार करे।

सिराओं की उक्त संज्ञा सम्भवतः—कौमार भृत्य के अनुसार है। वर्त्तमान चरक सुश्रुत में अन्यत्र इनकी चर्चा नहीं है। केवल अष्टाङ्गहृदय उत्तर अ० १ में—कालिका, मर्मरी तथा रक्ता नाम देकर चर्चा की गई है। इस अध्याय में कर्णवेध की विधि अधिक स्पष्ट है। पाठक देखें ॥५॥

क्लिष्टजिह्मप्रशस्तसूचीव्यधाद् गाढतरवर्तित्वाद्दोषसमुदायादप्रशस्तव्यधाद्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र वर्तिमुपहृत्याशु मधुकैरण्डमूलमञ्जिष्ठायवतिलकल्कैर्मधुघृतप्रगाढैरा लेपयेत्तावद्यावत् सुरूढ इति, सुरूढं चैनं पुनर्विध्येत्, विधानं तु पूर्वोक्तमेव ॥६॥

क्लिष्ट (अमनोज्ञ–खुरदरी), जिह्म (टेढ़ी), अप्रशस्त (गुणहीन) सूई से बींधने के कारण या अधिक मोटी बत्ती से अथवा दोष प्रकोप से या दैवकृत छिद्र में न बिंधने से—जहाँ पर सूजन या वेदना हो तो वर्त्ती को निकालकर—मधुक (मुलहठी), एरण्डमूल, मजीठ, जौ और तिल, इनके कल्क को मधु एवं घी में मिलाकर गाढ़ा लेप कर देना चाहिये। यह लेप तब तक बरतना चाहिये जब तक कि भली प्रकार भर न जाये। भली प्रकार रोहण होने पर फिर इसको बींधना चाहिये। बींधने की विधि पूर्व की भाँति है ॥६॥

तत्र सम्यग्विद्धमामतैलेन परिषेचयेत्, त्र्यहात्त्र्यहाच्च वर्तिं स्थूलतरां दद्यात्, परिषेकं च तमेव ॥७॥

भली प्रकार से दैवकृत छिद्र में बिंधने पर—अपक्व तेल (तिलों को पीसकर निकाला तेल) द्वारा परिषेचन करना चाहिये। प्रत्येक तीसरे दिन बत्ती अधिक मोटी कर देनी चाहिये। बत्ती का आमतेल से परिषेक करते रहना चाहिये ॥७॥

अथ व्यपगतदोषोपद्रवे कर्णे वर्धनार्थं लघु वर्धनकं कुर्यात् ॥८॥

दोष एवं उपद्रवों के शान्त होने पर कानों के छिद्रों को लम्बा करने के लिये (सौन्दर्य दृष्टि से) 'लघुवर्धनक' (दोष विशेष के कारण—अपामार्ग, नीम, कपास आदि लकड़ियों से या सीसक आदि धातुओं से बने–हल्के–छोटे छल्ले बालियाँ) पहिनाने चाहिये। (भार के कारण कान नीचे लटकने लगते हैं) ॥८॥

एवं विवर्धितः कर्णश्छिद्यते तु द्विधा नृणाम्।
दोषतो वाऽभिघाताद्वा सन्धानं तस्य मे शृणु ॥९॥

इस प्रकार से बढ़ाए हुए पुरुषों के कान, वातादि दोषों से उत्पन्न रोगों से या गिरने आदि से चोट लगने पर—फटकर दो भाग हो जाते हैं। इनको जोड़ने की विधि मुझ से सुनो ॥९॥

तत्र समासेन पञ्चदशकर्णबन्धाकृतयः। तद्यथा—नेमिसन्धानक उत्पलभेद्यको वल्लूरक आसङ्गिमो गण्डकर्ण आहार्यो निर्वेधिमो व्यायोजिमः कपाटसन्धिकोऽर्धकपाटसन्धिकः संक्षिप्तो हीनकर्णो वल्लीकर्णो यष्टिकर्णः काकोष्ठक इति। तेषु, पृथुलायतसमोभयपालिर्नेमिसन्धानकः, वृत्तायतसमोभयपालिरुत्पलभेद्यकः, ह्रस्तवृत्तसमोभयपालिर्वल्लूरकः, अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरासङ्गिमः, बाह्यदीर्घैकपालिर्गण्डकर्णः, अपालिरुभयतोऽप्याहार्यः, पीठोपमपालिरुभयतः क्षीणपुत्रिकाश्रितो निर्वेधिमः, स्थूलाणुसमविषमपालिर्व्यायोजिमः, अभ्यन्तरदीर्घैकपालिरितराल्पपालिः कपाटसन्धिकः, बाह्यदीर्घैकपालिरितराल्पपालिरर्धकपाटसन्धिकः। तत्र दशैते कर्णबन्धविकल्पाः साध्याः, तेषां स्वनामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः। संक्षिप्तादयः पञ्चासाध्याः तत्र शुष्कशष्कुलिरुत्सन्नपालिरितराल्पपालिः संक्षिप्तः, अनधिष्ठानपालिः पर्यन्तयोः क्षीणमांसो हीनकर्णः, तनुविषमाल्पपालिर्वल्लीकर्णः ग्रथितमांसस्तब्धसिराततसूक्ष्मपालिर्यष्टिकर्णः, निर्मांससंक्षिप्ताग्राल्पशोणितपालिः काकौष्ठक इति। बद्धेष्वपि तु शोफदाहरागपाकपिडकास्रावयुक्ता न सिद्धिमुपयान्ति ॥१०॥

संक्षेप से कर्णबन्धाकृतियाँ पन्द्रह हैं। यथा—नेमिसन्धानक, उत्पलभेद्यक, वल्लूरक, आसंगिम, गण्डकर्ण, आहार्य, निर्वेधिम, व्यायोजिम, कपाटसन्धिक, अर्धकपाटसन्धिक, संक्षिप्त, हीनकर्ण,

वल्लीकर्ण, यष्टिकर्ण और काकौष्ठक। इनमें—जो पालि (कर्णपालि)–पृथुल (विस्तीर्ण), आयात (दीर्घ), सम (तुल्य)–परस्पर होती हैं—वहाँ नेमिसन्धानक बन्ध बरतें। जिसकी दोनों पाली गोल, दीर्घ और समान हों—उसको उत्पलभेद्यक बँधवावें। जिसकी दोनों कर्णपालियाँ छोटी, गोल, एवं परस्पर समान हों वहाँ वल्लूरक बंध वरतें। जिसकी एक कर्णपाली अन्दर एवं लम्बी हो वहाँ आसंगिम बन्ध बरतें। जिनकी एक पाली बाहर एवं लम्बी हो वहाँ मण्डकर्ण बन्ध, दोनों पाली न हों (या अल्प हों) वहाँ आहार्य; जिसकी पालि मूल से ही छिन्न हो—सपाट हो, कर्णपुत्रिका के ऊपर आश्रित हो, वहाँ निर्वेधिम; जिसकी एक पाली का भाग स्थूल हो, दूसरी छोटी हो, एक समान और दूसरी विषम हो, वहाँ व्यायोजिम; जिसकी एक पाली अन्दर–लम्बी हो और दूसरी पाली अल्प हो, वहाँ कपाटसन्धिक बाँध। जिसकी पाली का बाहर का भाग लम्बा हो और दूसरा अल्प हो वहाँ अर्धकपाटसन्धिक बन्ध प्रयोग करना चाहिये। ये दस कर्णबन्ध के भेद साध्य हैं। प्रायः इनकी आकृतियाँ इनके अपने नामों से ही स्पष्ट हैं। संक्षिप्त आदि पाँच बन्धन असाध्य हैं। तथापि इनमें बाह्य पाली का अधिष्ठान (शष्कुली) शुष्क हो तथा दूसरी कर्णपाली छोटी हो तो संक्षिप्त बन्ध करना चाहिये। जिसमें पाली का अधिष्ठान न हो और गण्ड के बाह्य पार्श्व में मांस क्षीण हो तो हीनकर्ण बन्ध बरतना चाहिये। पतली, विषम अल्पपाली में वल्लीकर्ण; ग्रथित मांस स्तब्ध सिरायुक्त सूक्ष्म पालि में यष्टिकर्ण बरतना चाहिये। मांस रहित, रक्त की कमीवाली संक्षिप्त पालि में काकोष्ठक बन्ध बरतना चाहिये। कर्णबन्धन में शोफ, दाह, राग, पाक, पिडिका एवं स्राव होने से—चिकित्सा करने पर भी असाध्य रहते हैं ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदिह।
कर्णपीठं समे मध्ये तस्य विद्ध्वा विवर्धयेत् ॥११॥

कहा भी है—

जिस पुरुष के कानों में दोनों पालि न हों उसके कर्णपीठ को मध्य में बींधकर बढ़ाना चाहिये। (कर्णपुत्रिका—Tragus, Anti Tragus) ॥११॥

बाह्यायामिह दीर्घायां सन्धिराभ्यन्तरो भवेत्।
आभ्यन्तरायां दीर्घायां बाह्यसन्धिरुदाहृतः ॥१२॥

जिस पुरुष की बाम पाली लम्बी हो, उसकी आभ्यन्तर पाली में सन्धि करनी चाहिये। इस प्रकार प्रथम कपाटसन्धिक, दूसरा—अर्धकपाट-सन्धिक बन्धन होता है ॥१२॥

एकैव तु भवेत पालिः स्थूला पृथ्वी स्थिरा च या।
तां द्विधा पाटयित्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥१३॥

यदि एक ही मोटी, लम्बी और दृढ़ पाली हो (दूसरी पाली न हो) तो इसको बीच से दो भाग करके दूसरी तरफ जोड़ देना चाहिये ॥१३॥

गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता।
कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्यशास्त्रवित् ॥१४॥

गण्ड प्रदेश में संलग्न जीवित मांस को गण्ड प्रदेश से उखाड़कर—पाली रहित पुरुष में—शास्त्रवित् वैद्य कर्णपाली को बनाये (Rexo Plastic Operation) ॥१४॥

अतोऽन्यतमं बन्धं चिकीर्षुरग्रोपहरणीयोक्तोपसंभृतसंभारं विशेषतश्चात्रोपहरेत् सुरामण्डं क्षीरमुदकं धान्याम्लं कपालचूर्णं चेति। ततोऽङ्गनां पुरुषं वा ग्रथितकेशान्तं लघु भुक्तवन्तमाप्तैः सुपरिगृहीतं च कृत्वा, बधमुपधार्य, छेद्यभेद्यलेख्यव्यधनैरुपपन्नैरुपपाद्य, कर्णशोणितमवेक्ष्य दुष्टमदुष्टं वेति। तत्र वातदुष्टे धान्याम्लोष्णोदकाभ्यां पित्तदुष्टे शीतोदकपयोभ्यां श्लेष्मदुष्टे सुरामण्डोष्णोदकाभ्यां प्रक्षाल्य कर्णौ, पुनरवलिख्यानुन्नतमहीनमविषं च कर्णसन्धिं सन्निवेश्य, स्थितरक्तं संदध्यात्। ततो मधुघृतेनाभ्यज्य, पिचुप्रोतयोरन्यतरेणावगुण्ठ्य, सूत्रेणानवगाढमनतिशिथिलं च बद्ध्वा, कपालचूर्णेनावकीर्याचारिकमुपदिशेत्, द्विव्रणीयोक्तेन च विधानेनोपचरेत् ॥१५॥

इन उपरोक्त बन्धनों में से किसी एक बन्धन को करने की इच्छा से 'अग्रोपहरणीय' अध्याय में वर्णित आवश्यक वस्तुसमूहों को, खासकर इस कार्य में सुरा, मण्ड दूध, पानी धान्याम्ल और कपालचूर्ण (घड़े के ठीकरे का या शिर की अस्थियों की भस्म—दोनों ही उपयुक्त हैं) को एकत्रित करना चाहिये। इसके अनन्तर स्त्री अथवा पुरुष—दोनों के बालों को पीछे बाँधकर, थोड़ा सा लघु हलका भोजन कराके, विश्वस्त पुरुषों द्वारा पकड़वाकर बन्धन का निश्चय कर छेद्य, भेद्य, लेख्य, व्यधनकार्यों को करके—कान के दूषित या अदूषित रक्त की परीक्षा करके—कानों का फिर एक बार अवलेखन करके कर्णसन्धि को न ऊँचे, न नीचे और न विषम रखकर—रक्त निकलना बन्द होने पर जोड़ देना चाहिये। वात से दूषित रक्त में—धान्याम्ल एवं उष्णोदक से, पित्त से दूषित रक्त में—शीतोदक एवं दूध से; कफ से दूषित रक्त में—सुरा-मण्ड एवं उष्णोदक से धोना चाहिये। सन्धि करने के अनन्तर मधु एवं घी लगाकर रूई या कपड़े—किसी एक से ढाँपकर—धागे (पट्टी से) से—न तो बहुत कसकर न बहुत ढीला बाँध देना चाहिये। ऊपर से कपाल चूर्ण छिड़क देना चाहिये। इसके अनन्तर—आहार–विहार को समझा देना चाहिये। और द्विव्रणीय अध्याय में कहे गये आलेपादि बरतने चाहिये ॥१५॥

भवति चात्र—

विघट्टनं दिवास्वप्नं व्यायाममतिभोजनम्।
व्यवायमग्निसंतापं वाक्श्रमं च विवर्जयेत् ॥ १६ ॥

कहा भी है—

विघट्टन (विघट्टन—रगड़ना हिलाना—डुलाना), दिन में सोना, व्यायाम, अतिभोजन, मैथुन, आग का सेकना, बोलना, ये कार्य परित्याग कर देने चाहिये ॥ १६ ॥

न चाशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं क्षीणरक्तं वा संदध्यात्। स हि वातदुष्टे रक्ते रूढोऽपि परिपुटनवान्, पित्तदुष्टे दाहपाकरागवेदनावान्, श्लेष्मदुष्टे स्तब्धः कण्डूमान्, अतिप्रवृत्तरक्ते श्यावशोफवान्, क्षीणोऽल्पमांसो न वृद्धिमुपैति ॥ १७ ॥

अशुद्धरक्त, अधिक रक्तस्राव होने पर, रक्त के न निकलने पर—सन्धान नहीं करना चाहिये। क्योंकि वात से दूषित रक्त की अवस्था में पट्टी बाँधने पर—परिपोट रोग होता है। पित्त से दूषित रक्त की अवस्था में—दाह, पाक, लालिमा एवं वेदना होती है। कफ से दूषित रक्त की अवस्था में—जड़ता एवं कण्डू होती है। रक्त के अधिक स्रवित होने पर सन्धान करने से कृष्णता और सूजन होती है। रक्त के क्षीण होने पर सन्धि करने से—अल्प मांस—पुनः वृद्धि को प्राप्ति नहीं होता ॥१७॥

(आमतैलेन त्रिरात्रं परिषेचयेत्, त्रिरात्राच्च पिचुं परिवर्तयेत्।) स यदा सुरूढो निरुपद्रवः सवर्णो भवति तदैनं शनैः शनैरभिवर्धयेत्। अतोऽन्यथा संरम्भदाहपाकरागवेदनावान्, पुनश्छिद्यते वा ॥ १८ ॥

आमतैल द्वारा तीन दिन तक परिषेचन करना चाहिये। एवं प्रत्येक तीसरे दिन पिचु बदलते रहना चाहिये[1]। जिस समय व्रण भली प्रकार भर जाये, किसी प्रकार का उपद्रव न रहे, त्वचा के समान व्रण का रंग आ जाये, तब फिर इस कर्ण को धीरे २ बढ़ाना चाहिये। इसके विपरीत करने से दाह, पाक, लालिमा, वेदना होती है, अथवा फिर फट जाता है ॥ १८ ॥

अथास्याप्रदुष्टस्याभिवर्धनार्थमभ्यङ्गः। तद्यथा—गोधाप्रतुदविष्किरानूपौदकवसामज्जानो पयः सर्पिस्तैलं गौरसर्षपजं च यथालाभं संभृत्यार्कालर्कबलातिबलानन्तापामार्गाश्वगन्धाविदारिगन्धाक्षीरशुक्लाजलशूकमधुरवर्गपयस्याप्रतिवापं तैलं वा पाचयित्वा स्वनुगुप्तं निदध्यात् १९

१ कविराज हाराणचन्द्र जी इसको पद्य में लिखते हैं। यथा-
"आमतैलपरिषेकं त्रिरात्रमवचारयेत।
ततस्तैलेन संसृष्टं त्र्यहादपनयेत् पिचुम् ॥"
यह पाठ—'विघट्टनं दिवास्वप्नं'—इस श्लोक के साथ दिया है।

अदूषित कान को बढ़ाने के लिये अभ्यङ्ग कहते हैं। यथा-गोधा, प्रतुद (बटेर आदि), विष्किर (कुक्कुट आदि), आनूप (वराह, महिषादि), औदक (रोहित-मत्स्यादि), इनकी वसा एवं मज्जा को दूध, घी और श्वेत सरसों का तैल-इनमें से जितनी वस्तुयें मिल सकें उनको लाकर आक, श्वेत फूल का आक, बला, अतिबला, सारिवा, अपामार्ग, असगन्ध, शालपर्णी, क्षीरविदारी, जलशूक—शैवाल, रसविशेष विज्ञानीय अध्याय में कहे मधुरवर्ग, पयस्या (क्षीरविदारी), इनके निक्षेप से तैल पकाकर गुप्तस्थान में रख देना चाहिये[1] ॥ १९ ॥

स्वेदितोन्मर्दितं कर्णं स्नेहेनैतेन योजयेत्।
अथानुपद्रवः सम्यग्बलवांश्च विवर्धते ॥ २० ॥

कान को प्रथम स्वेदन देकर फिर इस तैल के साथ मर्दन करना चाहिये। इस प्रकार करने से कान उपद्रव रहित होकर बढ़ता है, एवं बलवान् होता है ॥ २० ॥

यवाश्वगन्धायष्टयाह्वैस्तिलैश्चोद्वर्तनं हितम्।

उद्वर्त्तन—जौ, असगन्ध, मुलहठी और तिल इनके द्वारा कान का उद्वर्त्तन, करना हितकारी है।

शतावर्यश्वगन्धाभ्यां पयस्यैरण्टजीवनैः ॥ २१ ॥
तैलं विपक्वं सक्षीरमभ्यङ्गात् पालिवर्धनम्।

शतावरी, असगन्ध, क्षीरकाकोली, एरण्ड, जीवक (या काकोल्यादि द्रव्य), इनके कल्क से (स्नेह का चतुर्थांश कल्क), केवल क्षीर में तैलपाक करना चाहिये। इस तैल के अभ्यंग से कर्णपालि बढ़ती है ॥ २१ ॥

ये तु कर्णा न वर्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः ॥ २२ ॥
तेषामपाङ्गदेशे तु कुर्यात् प्रच्छानमेव तु।
बाह्यच्छेदं न कुर्वीत व्यापदः स्युस्ततो ध्रुवाः ॥ २३ ॥

इस उपरोक्त विधि से जो कान नहीं बढ़ते, उनके लिये अपांग देश में प्रच्छान करना चाहिये (अपांग देश कर्ण पुत्रिका का अधःप्रदेश) इस प्रदेश में थोड़ा-सा छेदन करना चाहिये। अधिक छेदन करने पर (सिरामर्म नामक दो मर्म हैं)—आन्ध्य, दृष्टि का नाश होता है। बाह्यच्छेद—कर्णबाह्य—लतिका का छेदन (त्वचामात्र) करने पर कर्णलतिका का फटना रोग उत्पन्न होते हैं ॥२२-२३॥

वर्द्धमानं तु यः कर्णं सहसैवाभिवर्धयेत्।
आमकोशी समाध्मातः क्षिप्रमेव विमुच्यते ॥ २४ ॥

१ वात्स्यायन कामसूत्र में भी कर्णपालि एवं स्तन तथा लिंग को बढ़ाने के लिये प्रयोग दिये हैं। उनमें जलशूक का अर्थ 'घोंघा' है। इसके शरीर पर बाल होते हैं। इनके उपयोग से शूकरोग भी होता है। देखिये माधवनिदान और मधुकोष टीका।

तैलपाचन उसी क्रम से करना चाहिये—जिस क्रम से विधान—यथा—कल्क, स्नेह से चतुर्थांश क्षीर—चतुर्गुण तैल से (द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम्, कल्कस्तु स्नेहपादिकः) ॥

जो मनुष्य बद्ध मात्र कान को (जो कान अभी थोड़ा ही जुड़ा है) एकदम से—सहसा ही बढ़ाता है, वह भली प्रकार से मध्य में से रोहण न होने के कारण शीघ्र ही पृथग् हो जाता है ॥

जातरोमा सुवर्त्मा च श्लिष्टसन्धिः समः स्थिरः ।
सुरूढोऽवेधनो यश्च तं कर्णं वर्धयेच्छनैः ॥ २५ ॥

जिस कान पर बाल उत्पन्न हो गये हों, शोभन छिद्रवाला, संलग्न सन्धि, निम्नोन्नत रहित, समान, दृढ़ भली प्रकार रोहण हुआ, वेदना रहित, जो कान हो, उसको धीरे २ बढ़ाना चाहिये ॥ २५ ॥

अमिताः कर्णबन्धास्तु विज्ञेयाः कुशलैरिह ।
यो यथा सुविशिष्टः स्यात्तं तथा विनियोजयेत् ॥ २६ ॥

कुशलों को ध्यान रखना चाहिये कि कर्णबन्धन असंख्य हैं। जो बन्धन जिस स्थान पर ठीक तरह से बैठे—उसको उसी स्थान पर लगाना चाहिये ॥ २६ ॥

(कर्णपाल्यामयान्नॄणां पुनर्वक्ष्यामि सुश्रुत ! ।
कर्णपाल्यां प्रकुपिता वातपित्तकफास्त्रयः ॥ १ ॥
द्विधा वाऽप्यथ संसृष्टाः कुर्वन्ति विविधा रुजः ।
विस्फोटः स्तब्धता शोफः पाल्यां दोषे तु वातिके ॥२॥
दाहविस्फोटजननं शोफः पाकश्च पैत्तिके ।
कण्डूः सश्वयथुः स्तम्भो गुरुत्वं च कफात्मके ॥ ३ ॥
यथादोषं च संशोध्य कुर्यात्तेषां चिकित्सितम् ।
स्वेदाभ्यङ्गपरीषेकैः प्रलेपासृग्विमोक्षणैः ॥ ४ ॥
मृद्वीं क्रियां बृंहणीयैर्यथास्वं भोजनैस्तथा ।
य एवं वेत्ति दोषाणां चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥ ५ ॥

(हे सुश्रुत ! मनुष्यों की कर्णपालि के रोगों को फिर से चि० अ० २५ में कहूँगा। वात, पित्त, कफ तीनों दोष, एवं संसृष्ट दोषों से तथा तीनों दोषों के मिलने से (सात प्रकार के) नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। वातजन्य पालिदोष में—विस्फोट जड़ता एवं सूजन होती है। पित्तजन्य पालिदोष में—जलन, विस्फोट और सूजन होती है। कफजन्य पालिदोष में—कण्डू, सूजन (आर्द्र), स्तम्भ और भारीपन होता है। दोषों के अनुसार इनका संशोधन करके चिकित्सा करनी चाहिये ॥

अतऊर्ध्वं नामलिङ्गैर्वक्ष्ये पाल्यामुपद्रवान् ।
उत्पाटकश्चोत्पुटकः श्यावः कण्डूयुतो भृशम् ॥ ६ ॥
अवमन्थः सकण्डूको ग्रन्थिको जम्बुलस्तथा ।
स्रावी च दाहवांश्चैव शृण्वेषां क्रमशः क्रियाम् ॥ ७ ॥

इसके आगे पाली के उपद्रवों का नाम एवं लक्षण कहते हैं—उत्पाटक, उत्पुटक—इनमें खाज बहुत होती है, और इसका रङ्ग काला—हरा होता है। अवमन्थ में खाज होती है। ग्रन्थिक एवं जम्बूल—में स्राव और दाह। इनकी चिकित्सा क्रम से कहते हैं ॥ ६,७ ॥

अपामार्गः सर्जरसः पाटलालकुचत्वचौ ।
उत्पाटके प्रलेपः स्यात्तैलमेभिश्च पाचयेत् ॥ ८ ॥
शम्पाकशिग्रुपूतीकान् गोधामेकोऽथ तद्वसाम् ।
वाराहं गव्यमैणेयं पित्तं सर्पिश्च संसृजेत् ॥ ९ ॥
लेपमुत्पुटके दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।

उत्पाटक रोग में—अपामार्ग, राल, पाटला और बड़हल, इनकी छाल, इनका लेप करना चाहिये। और इनके कल्क से दूध में पकाया तैल प्रयोग करना चाहिये। उत्पुटक रोग में शम्पाक, अमलतास, सहजन, पूतीक (नाटा करञ्ज), गोधा की मेद, गोधा की वसा (मांस स्नेह) सुअर का पित्त, गाय का पित्त और काली हरिणी का पित्त इनको घी में मिलाकर लेप करना चाहिये और इनसे ही संस्कृत तैल प्रयोग करना चाहिये।

गौरीं सुगन्धां सश्यामामनन्तां तण्डुलीयकम् ॥ १० ॥
श्यावे प्रलेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।
पाठां रसाञ्जनं क्षौद्रं तथा स्यादुष्णकाञ्जिकम् ॥११॥
दद्याल्लेपं सकण्डूके तैलमेभिश्च साधितम् ।
व्रणभूतस्य देयं स्यादिदं तैलं विजानता ॥ १२ ॥
मधुकक्षीरकाकोलीजीवकाद्यैर्विपाचितम् ।
गोधावराहसर्पाणां वसाः स्युः कृतबृंहणे ॥ १३ ॥
प्रलेपनमिदं दद्यादवसिच्यावमन्थके ।
प्रपौण्डरीकं मधुकं समङ्गां धवमेव च ॥ १४ ॥
तैलमेभिश्च संपक्वं शृणु कण्डूमतः क्रियाम् ।
सहदेवा विश्वदेवा अजाक्षीरं ससैन्धवम् ।
एतैरालेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ॥ १५ ॥
ग्रन्थिके कुटिकां पूर्वं स्रावयेदवपाट्य तु ।
ततः सैन्धवचूर्णं च घृष्ट्वा लेपं प्रदापयेत् ॥ १६ ॥
लिखित्वा तत्स्रुवं घृष्ट्वा चूर्णैर्लोध्रस्य जम्बुले ।
क्षीरेण प्रतिसार्यैनं शुद्धं संरोपयेत्ततः ॥ १७ ॥
मधुपर्णी मधूकं च मधुकं मधुना सह ।
लेपः स्राविणि दातव्यस्तैलमेभिश्च साधितम् ॥ १८ ॥
पञ्चवल्कैः समधुकैः पिष्टैस्तैश्च घृतान्वितैः ।
जीवकाद्यैः ससर्पिष्कैर्दह्यमानं प्रलेपयेत् ॥ १९ ॥)

श्याव रोग में—गौरी (हल्दी), सुगन्धा (रास्ना), श्यामा (निशोथ), अनन्तमूल और चावल की कणियाँ; इनका लेप तथा इनसे साधित तैल का प्रयोग करना चाहिये। कण्डूक रोग में-पाठा, रसौंत, शहद, कुलत्थी आदि उष्णवीर्य ओषधियों से बनायी उष्ण कांजी, इनका लेप तथा इनसे संस्कृत तैल का प्रयोग करना चाहिये। कण्डूयुक्त यदि व्रण हों तो निम्न तैल प्रयोग करना चाहिये। मुलहठी, क्षीरकाकोली, जीवकगण से सिद्ध तैल का प्रयोग करना उत्तम है। बृंहण कार्य में गोधा,

सुअर और सर्प की बसा देनी (अन्य बृंहण वस्तुओं के साथ) चाहिये। अवमन्थक रोग में प्रक्षालन करके निम्न प्रलेप लगाना चाहिये—प्रपौण्डरीक, मुलहठी, मंजीठ, धव, इनसे संस्कृत तैल या इनका लेप करना चाहिये। कण्डू की शान्ति के लिये क्रिया कहते हैं—सहदेवा (कोयल), विश्वदेवा (नागबला), बकरी का दूध, इनको सैन्धव के साथ मिलाकर लेप करना चाहिये और इनसे साधित तैल का प्रयोग करना चाहिये। ग्रन्थिकरोग में—मांसगुटिका का प्रथम स्रवण करके फिर इसको चीरकर-सैंधानमक घिसना चाहिये। पीछे से लेप करना चाहिये। जम्बूल रोग में-ग्रन्थि को दूध के साथ लोध के चूर्ण से रगड़कर इन्हीं से प्रलेपन करना चाहिये। वेदना रहित होने पर जम्बूल पर प्रथम कहा मुलहठी द्वारा संस्कृत तैल का लेप करना चाहिये। स्रावीरोग में—मधुपर्णी (गिलोय), मधूक (महुवा) और मुलहठी, इनको शहद में मिलाकर लेप करना चाहिये और इनसे ही संस्कृत तैल लगाना चाहिये। दाहवान् व्रण पर—पञ्चवल्कल (वट, गूलर, पिलखन, जामुन, पीपल), मुलहठी, इनको घी में मिलाकर लेप करना चाहिये। इसी प्रकार काकोल्यादि (जीवक आदि) गण की औषधियों को घी में मिलाकर प्रलेप देना उत्तम है ॥६-१६॥)

विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया,
　　वक्ष्यामि सन्धानविधिं यथावत्।
नासाप्रमाणं पृथिवीरुहाणां;
　　पत्रं गृहीत्वा त्ववलम्बि तस्य ॥ २७ ॥

येन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वादुत्कृत्य बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्।
विलिख्य चाशु प्रतिसंदधीत तत् साधुबन्धैर्भिषगप्रमत्तः॥
सुसंहितं सम्यगतो यथावन्नाडीद्वयेनाभिसमीक्ष्य बद्ध्वा।
प्रोन्नम्य चैनामवचूर्णयेत्तु पतङ्गयष्टीमधुकाञ्जनैश्च ॥ २९ ॥
संछाद्य सम्यक् पिचुना सितेन तैलेन सिञ्चेदसकृत्तिलानाम्।
घृतं च पाय्यः स नरः सुजीर्णे स्निग्धो विरेच्यः सयथोपदेशम्
रूढं च सन्धानमुपागतं स्यात्तदर्धशेषं च पुनर्निकृन्तेत्।
हीनां पुनर्वर्धयितुं यतेत समां च कुर्यादतिवृद्धमांसाम् ।३१।

येन केन प्रकार से त्वचा और मांस से नासिका के अलग हो जाने पर इसके संधान की विधि को कहते हैं। वृक्षों के पत्रों को नासा के प्रमाण में काटकर-इनके बराबर (इनको रखकर) गण्ड के पार्श्व से या (ललाट से त्वचामात्र को उखाड़कर एक पार्श्व में लगा रहे। इससे नासिका के अग्रभाग को बनाकर शीघ्रता से सूई आदि द्वारा सीकर—बिना आलस्य किये वैद्य उत्तम बन्धनों से बांध देवे। जिस समय पट्टी ठीक तरह बांधे उस समय श्वास मार्ग के लिये नासिका के छिद्रों को एरण्ड-नाल आदि कोमलनालों से ऊंचा उठा देना चाहिये। बांधने से पूर्व-लालचन्दन, मुलहठी, रसांजन इनके बारीक चूर्ण को बुरक देना चाहिये। इसके ऊपर श्वेत रूई का पिचु रखकर ऊपर से तिलों का तेल बार-बार लगाते रहना चाहिये। भोजन के भली प्रकार जीर्ण होने पर घी (पौष्टिक) देना चाहिये। स्निग्ध होने पर युक्तिपूर्वक विरेचन देना चाहिये। जिस समय भली प्रकार रोहण हो जाये और जुड़ जाये, उस समय इसके शेष आधे भाग को (जो कि पार्श्व में लगा था) फिर काट देना चाहिये। यदि नासिकाप्रमाण में कम रह जाये, तब इसको पुनः बढ़ाने का यत्न करना चाहिये, और यदि मांस अधिक बढ़ जाये तो इसको काटकर फिर समान करना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य-जैसे कर्णवेध किया जाता है वैसे ही "नासा-वेध" भी किया जाता है विशेषतः स्त्रियों का। इसमें भी कर्ण-वेध के समान उपद्रव हो जाते हैं और उनकी चिकित्सा भी वैसे ही की जाती है। अधिक क्या यह सब सर्वविदित विषय है॥

नाडीयोगं विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिम्।
य एवमेव जानीयात् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥३२॥

ओष्ठ-सन्धानविधि (Hair Lip)—

ओष्ठ की सन्धानविधि नासा की सन्धानविधि के समान है, परन्तु इसमें एरण्डनाल आदि नाड़ी का उपयोग नहीं होता। जो वैद्य इस प्रकार के कार्यों को करना जानता है, वह राजा की चिकित्सा करने योग्य है।

वि० मन्तव्य—कुछ देशों में ओष्ठों में वेध किया जाता है और भूषण पहिना जाता है। इसकी विधि, उपद्रव, चिकित्सा सब कर्णवेध के समान है। कभी-कभी दस्यु (डाकू) शत्रु—नाक, कान के भूषणों को खींच लेते हैं तो नासा, कान फट जाते हैं और कभी बर्द्धन कर्म में फट जाते हैं तब उक्त बन्धन या संधान की आवश्यकता पड़ती है। कान में एक से अधिक भी वेध किये जाते हैं, विशेषतः—स्त्रियों के कानों में और नासा में भी दोनों ओर दो और नासा प्राचीर में तीसरा—तीन वेध किये जाते हैं और ओठों में—दोनों में वेध किये जाते हैं। और ओठों को बड़े करने के उपाय भी किये जाते हैं। अफ्रीका की वन्य जातियाँ (हबशी) अब भी ओठ में भूषण पहनती हैं। ये तीन-कान, नाक तथा ओठ का वेध रक्षा एवं भूषण के लिये किया जाता है। परन्तु अति प्राचीन काल में केवल "कर्णवेध" ही होता था, फिर नासावेधन तथा ओष्ठवेधन का प्रचार भी हो गया है। क्योंकि कर्णवेध के मुहूर्त तथा संस्कारविधि का विधान ज्योतिःशास्त्र तथा कर्मकाण्ड में पाया जाता है। रक्षा के निमित्त बालकों का नासावेध किया जाता है और

१ संग्रह में कहा है-तुरन्त कट जाने पर भी यही विधि बरतें। यथा-निवेशिते यथान्यासं सद्यश्छिन्नेऽप्ययं विधिः ॥

उनके नाम—नत्थू, नाथू, नथमल तथा नत्थासिंह आदि रख दिये जाते हैं ॥३२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कर्णव्यधबन्धविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अथात आमपक्वैषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे आमपक्वैषणीय (पच्यमान और पक्व) अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ॥ ३ ॥

ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी आदि कई (गलगण्ड, अर्बुद, श्लीपद आदि २) व्याधियाँ इस ग्रन्थ में पृथक् पृथक् अध्यायों-प्रकरणों में कहीं गई हैं, जिनका समुत्थान-कारण शोफ होता है परन्तु उन सबसे पृथक् शरीर के किसी भी एक देश में उत्पन्न दोषसंघात (दोषसञ्चय), "शोफ"—व्रण शोफ (फोड़ा) कहलाता है। वह विविध लक्षणोंवाला, कोई चौड़ा(चकलीदार) कोई ग्रथित (गाँठ का सा), कोई सम (गोल) तो कोई विषम (कोनोंवाला) और केवल त्वचा एवं मांस में आश्रित होता है। यह व्रणशोफ या फोड़ा कहलाता है। व्रणशोफ का अर्थ है 'व्रणाय शोफः' अर्थात् व्रण के लिये—घाव होने के लिये जो शोफ होता है वह व्रणशोफ कहलाता है। पाठक विचार करें कि ग्रंथि आदि से इसमें क्रिया विलक्षणता—भेद है ॥३॥

स षड्विधो वातपित्तकफशोणितसन्निपातागन्तुनिमित्तः। तस्य दोषरूपव्यञ्जनैर्लक्षणानि व्याख्यास्यामः। तत्र, वातशोफः कृष्णोऽरुणो वा परुषो मृदुरनवस्थितास्तोदादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। पित्तशोफः पीतो मृदुः सरक्तो वा शीघ्रानुसार्योषादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति, श्लेष्मश्वयथुः पाण्डुः कठिनः स्निग्धः शीतः स्निग्धो मन्दानुसारी कण्ड्वादयश्चात्र वेदनाविशेषा भवन्ति। सर्ववर्णवेदनः सन्निपातश्वयथुः। पित्तवच्छोणितजोऽतिकृष्णश्च, पित्तरक्तलक्षण आगन्तुर्लोहितावभासश्च ॥ ४ ॥

यह शोथ छै प्रकार का है। यथा—वातजन्य, पित्तजन्य, कफजन्य, रक्तजन्य, सन्निपातजन्य और आगन्तुज। इस शोथ के दोषों को बतानेवाले लक्षणों को कहते हैं। यथा—वातजन्य शोथ लाल वा काला, कठिन, कोमल अस्थिर एवं तोद (सुई के चुभने के समान वेदना), छेदन, भेदन आदि वेदनायें होती हैं। पित्तजन्य शोथ—पीला, कोमल, रक्तयुक्त,शीघ्र फैलनेवाला, ओष, चोष, दाह आदि वेदना (जलने के समान) होती है। कफजन्य शोथ—पाण्डु या सफेद, कठिन, शीत, स्निग्ध, धीरे धीरे फैलनेवाला, उसमें कण्डू, गुरुत्व, सुप्ति आदि वेदनायें होती हैं। सन्निपातजन्य शोथ में—सब दोषों का रङ्ग मिश्रित होता है और सब प्रकार की वेदनायें होती हैं। रक्तजन्य शोथ में—पित्त के समान लक्षण होते हैं और रङ्ग अतिकाला रहता है। आगन्तुज शोथ में—पित्तजन्य, रक्तजन्य शोथ के लक्षण मिश्रित रहते हैं और रक्त की चमक रहती है। इसी से कहा है—"बाह्यस्त्वचो दूषयिताऽभिघातः काष्ठाश्मशस्त्राग्निविषायसाद्यैः, आगन्तुहेतुः।" चरक ॥४॥

स यदा बाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न संभावितः प्रशमयितुं क्रियाविपर्ययाद्बहुत्वाद्वा दोषाणां तदा पाकाभिमुखो भवति। तस्यामस्य पच्यमानस्य पक्वस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत्र, मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टं, सूचीभिरिव निस्तुद्यते, दश्यत इव पिपीलिकाभिः, ताभिश्च संसर्प्यत इव, छिद्यत इव शस्त्रेण, भिद्यत इव, शक्तिभिः, ताड्यत इव दण्डेन, पीड्यत इव पाणिना, घट्ट्यत इव चाङ्गुल्या, दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम्, ओषचोषपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गं, वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता बलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते चावपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरुन्नतता व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकाङ्क्षा च पक्वलिङ्गम्। कफजेषु तु रोगेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति मन्यमानो भिषङ्मोहमुपैति, तत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यमल्परुजताऽश्मवच्च घनता, न तत्र मोहमुपेयादिति ॥ ५ ॥

यह शोथ जब बाह्य (आलेपन आदि) आभ्यन्तर (क्वाथ पान, वमन, विरेचन आदि) उपचारों से शान्त नहीं होता तब अवतर्पण आदि क्रियाओं के विपर्यय से या दोषों की प्रबलता होने से पकने लगता है। इस आमशोथ के पच्यमान (पाकाभिमुख) एवं पक्व (पक जाने) के लक्षण कहता हूँ। यथा-आमशोथ के लक्षण-थोड़ी उष्णिमा, त्वचा के समान वर्ण (रङ्ग),

सूजन में ठण्ड, कठिनता, पीड़ा का थोड़ा होना, सूजन में कमी--ये आमशोथ के लक्षण हैं। पच्यमान शोथ--सूई के चुभने के समान पीड़ा, चिउँटियों के चलने के समान प्रतीति, शस्त्र द्वारा छेदन करने के समान, शक्ति से भेदन करने के समान, दण्ड से ताड़न करने की तरह, हाथों से पीड़न करने की तरह, अंगुलि द्वारा चलाने (हिलाने) के समान, अग्नि एवं क्षार से—जलाने या पकाने की भाँति अनुभव होता है, ओष (एक भाग में दाह), पास में रक्खी अग्नि के समान दाह प्रतीति, चारों ओर सारे सूजन में दाह होता है बिच्छू के काटे हुए पुरुष की भाँति, न तो बैठने में, न उठने में, न चलने में, न लेटने में किसी भी प्रकार से शान्ति नहीं मिलती। भरे हुए मूत्राशय के समान फूला एवं झुर्रियों (त्वचा के संकोच) रहित शोथ होता है। त्वचा का रङ्ग बदलना, शोफ का उत्तरोत्तर बढ़ना, ज्वर, दाह, प्यास, भोजन में अरुचि, ये पच्यमान शोफ के लक्षण हैं। पक्व शोथ के लक्षण—वेदना की शान्ति, पाण्डुता, सूजन का घटना, झुर्रियों का आ जाना, त्वचा का विदीर्ण होना, अंगुलि से दबाने पर नीचे दब जाना (गड्ढा होना) और फिर ऊपर उठ आना, बस्ति में पानी की भाँति गति करना—अर्थात्—एक पार्श्व में दबाने से—दूसरे पार्श्व में भर जाना (Thrill), बार-बार चुभने के समान पीड़ा, कण्डू, (पक्वशोथ में विदाह न रहने से पित्त के लक्षण नहीं होते), सूजन का उन्नत होना, उपद्रवों की शान्ति, भोजन में रुचि होना—ये पक्व शोथ के लक्षण हैं।

कफजन्य रोग में शोथ की गति के गम्भीर (गहरी) होने से, एवं अभिघातजन्य शोथों में समस्त पक्व लक्षणों को न देखकर यह शोथ पका है या नहीं इस प्रकार का संशय (मोह) कई बार उत्पन्न हो जाता है। इन अवस्थाओं में—यदि बाहर से शोथ का रङ्ग त्वचा के समान हो, शोफ में बाहर शीतलता हो (अन्दर उष्णता), स्थूलता, वेदना की कमी, शिला के समान कठोरता हो तो भी संशय नहीं करना चाहिये—(शोथ को पक्व समझना चाहिये) कहा भी है 'न मोहमुपेयात्-यतस्तं रक्तपाकमाचक्षते वृद्धाः'।

वि० मन्तव्य—अवस्था भेद से व्रण शोफ के तीन प्रकार हैं—१—आम-कच्चा फोड़ा, २—पच्यमान—पकता फोड़ा, ३—पक्व—पका हुआ फोड़ा। इस सूत्र में इन तीनों अवस्थाओं के लक्षण कहे गये हैं। कफज तथा अभिघातज व्रण शोफ में गहरा-भीतरी पाक होता है और ऊपर से पका प्रतीत नहीं होता, अतः सन्देह हो जाता है कि पका है अथवा कच्चा है, परन्तु कुशल चिकित्सक को सन्देह (धोखा) नहीं होता। वह अपने अनुभव से जान लेता है और चीरा लगाकर पूय निकाल देता है और फिर शोधन रोपण आदि उपचार करता रहता है। इनके अतिरिक्त अन्य व्रण शोफ ऊपर से पक जाते हैं और फूट भी जाते हैं। संक्षेपतः आमशोथ में वेदनायें मन्द, पच्यमान में तीव्र होती हैं और पक्व में पुनः मन्द हो जाती हैं।

भवन्ति चात्र—

आमं विपच्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥ ६ ॥
वाताहृते नास्ति रुजा न पाकः।
पित्ताहृते नास्ति कफाच्च पूयः॥
तस्मात् समस्तान् परिपाककाले।
पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः ॥ ७ ॥

जो वैद्य, आमशोथ, पच्यमानशोथ और पक्वशोथ को भली प्रकार से पहिचानता है, वह वास्तव में "वैद्य" कहलाने योग्य है, शेष सब प्राण-धन के चुराने से चोर हैं। एक दोष के कारण उत्पन्न हुआ शोथ भी पकने के समय तीनों दोषों द्वारा पकता है—वात के बिना शोथ में पीड़ा नहीं होती-पित्त के बिना पाक नहीं होता, कफ के बिना पूय नहीं होती, इसलिये पकते समय शोफ को तीनों दोष एकत्रित होकर पकाते हैं।६,७।

कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं
कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य।
पचत्यतः शोणितमेव पाको
मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥ ८ ॥

शोथ के परिपाक के विषय में विद्वानों का एक और भी मत है। प्रकोप, प्रसार, स्थान, संश्रय-काल विधि से बढ़े हुए पित्त को वश में करके तथा वात एवं कफ को घटाकर रक्त, शोथ को पकाता है, यह दूसरे विद्वानों का विचार है। घाणेकर जी का कहना है कि बढ़ा हुआ पित्त-बल से वात और कफ को विवश करके रक्त को पका देता है।

वि० मन्तव्य—घाणेकर जी वाला अर्थ ही ठीक है, कारण वात एवं कफ स्वभावतः पाक नहीं कर सकते केवल पित्त ही पाक कर सकता है और रक्त को पकाकर पूयरूप में परिणत कर देता है। इतना ही नहीं रक्त भी पित्त का समानधर्मा है अतः वही पकता भी है और तत्स्थानीय मांस वसा आदि सौम्य होने से पकते नहीं, अपितु गलते-सड़ते हैं भले ही पकते प्रतीत होते हों ॥ ८ ॥

तत्र आमच्छेदे मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽवदरणमनेकोपद्रवदर्शनं क्षतविद्रधिर्वा भवति। स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमप्यपक्वमिति मन्यमानश्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीरानुगतो द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदार्योत्सङ्गं महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वेति ॥ ९ ॥

आमशोथ के छेदन करने पर—मांस, शिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि की विकृति बहुत अधिक मात्रा में रक्त का स्राव, वेदना का होना, फटना, अनेक प्रकार के उपद्रवों का होना, अथवा क्षतजन्य विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। और जब कभी वैद्य भय या मोह के कारण पक्व शोथ को भी अपक्व समझकर देर तक उपेक्षा करता रहता है तब दूर तक घुसी पूय द्वार के न मिलने से अपने आश्रय को फाड़कर उत्सङ्ग (क्रोड) या बड़े भारी अवकाश को उत्पन्न करके नाड़ीव्रण बना देती है। इस तरह कष्टसाध्य या असाध्य हो जाती है।

वि० मन्तव्य—यह चेतावनी उस व्रण के लिये है जिसमें आमता या पक्वता में सन्देह होता है, वस्तुतः पका होता है और गम्भीर होने से स्वतः नहीं फूटता तथा चीरा लगाना आवश्यक होता है ॥ ९॥

भवति चात्र—

यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव मन्तव्यौ ताननिश्चितकारिणौ ॥ १० ॥

कहा भी है—

जो वैद्य अज्ञानवश आम शोथ का छेदन करता है, और जो पक्व शोथ की उपेक्षा करता है, इन दोनों असमीक्ष्यकारी वैद्यों को चाण्डाल के समान समझना चाहिये, (क्योंकि समझकर ये काम नहीं करते)।

वि० मन्तव्य—आम को चीरना और पक्व (फोड़ा) को न चीरना बुरा है ॥ १० ॥

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक्।
मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाऽसहः ॥ ११ ॥
न मूर्च्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते।
तस्मादवश्यं भोक्तव्यं रोगेषूक्तेषु कर्मणि ॥ १२ ॥
प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राणगुणान्वितः।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ १३ ॥

शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी को भोजन करा देना चाहिये, और जो पुरुष मद्य पीता हो वेदना को न सहनेवाला हो उसको तीक्ष्ण मद्य पिला देना चाहिये। इसका लाभ-अन्न के कारण रोगी मूर्च्छित नहीं होता, और मस्त होने से शस्त्र-पीड़ा का अनुभव नहीं करता। इसलिये कहे हुए रोगों में (मूढगर्भोदराशोंश्मरी आदि को छोड़कर) अवश्य भोजन कराना चाहिये। मनुष्यों का आभ्यन्तर प्राण (बल-शक्ति)—बाह्य प्राण (अन्न) के गुणों के समान गुणवाला है। इसलिये बिना विरोध के इस पांचभौतिक शरीर को धारण करता है[1] ॥ ११–१३ ॥

[1] 'योऽवेदनासहः' इस पाठ में—'जो मनुष्य वेदना का सहन न कर सके उसको मद्य पिलाये' यह अर्थ है।

अल्पो महान् वा क्रियया विना यः
समुच्छ्रितः पाकमुपैति शोफः।
विशालमूलो विषमं विदग्धः
स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः ॥ १४ ॥

उत्पन्न हुआ अल्प या महान् जो शोथ बिना आलेप आदि क्रिया के पकता है, वह शोथ विशालमूलवाला, विषमपाकी, तथा आभ्यन्तर पूयवाला होता है, इसलिये कष्टसाध्य है। विषमपाकी सब अङ्गों में ठीक प्रकार से नहीं पकता।

वि० मन्तव्य—तात्पर्य यह कि विम्लापन आदि से व्रण शोथ नहीं शान्त होता और पाकाभिमुख हो जाता है तब पाचन लेप आदि की व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। अन्यथा स्वतः पकने के लिये छोड़ रखने से यदि पकता है तो कष्टसाध्य होता है। यही सू० १५ में स्पष्ट किया गया है ॥ १४ ॥

आलेपविस्रावणशोधनैस्तु
सम्यक्प्रयुक्तैर्यदि नोपशाम्येत्।
पच्येत शीघ्रं सममल्पमूलः
स पिण्डितश्चोपरि चोन्नतः स्यात् ॥१५॥

समान-अल्पमूलवाला शोथ आलेपन, रक्त मोक्षण, संशोधन आदि उपचारों के भली प्रकार से प्रयुक्त करने पर भी यदि शान्त नहीं होता अपितु पकता ही है, तब यह शोथ गोलाकार होकर ऊपर को उठ आता है ॥ १५ ॥

कक्षं समासाद्य यथैव वह्नि-
र्वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य।
तथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि
मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥ १६ ॥

जिस प्रकार कि तृण-बहुल (घास के ढेरवाले) प्रदेश में लगी आग वायु के कारण प्रबल होकर—बलपूर्वक सम्पूर्ण ढेर को जला देती है। उसी प्रकार बाहर न निकली हुई पूय मांस, शिरा, स्नायुओं का भक्षण करती है।

वि० मन्तव्य—अतः पूय को निकालने का प्रयत्न करना चाहिये ॥१६॥

आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम्।
तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थी पाटनक्रियाम् ॥१७॥

आभ्यन्तर प्राण—अन्नपानरस, बाह्यप्राण अन्न यह भी अर्थ है। "प्राणो वा अन्नम्" "शरीरमन्नादम्"। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः।" तैत्तिरीयोपनिषत्।

डल्हण ने आभ्यन्तर प्राण का अर्थ—अग्नि, सोम, वायु, सत्त्व रज तम, पंचेन्द्रिय और भूतात्मा किया है। और बाह्यप्राण—आग्नेय, सौम्य, वायव्य पदार्थ; दिन, वायु, रात, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध किया है। इनमें बाह्यप्राण के अग्नि गुणों से—कटु, अम्ल लवण आदि से—अन्तरग्नि शरीर को धारण करती है।

पञ्चमं शोधनं कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते ।
एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापहम् ॥१८॥

व्रणशोफ की चिकित्सा इस सूत्रस्थान में कहते हैं :—

सब से प्रथम विम्लापन (अङ्गुली आदि से मर्दन) करना चाहिये दूसरा—जलौका आदि से अवसेचन (रक्तमोक्षण), तीसरा—उपनाह (पकाने के लिये बन्धन-पुलटिस आदि), चतुर्थ—पाटनक्रिया (शस्त्र से), पाँचवाँ—शोधन (पञ्चवल्कलक्वाथ से), छठा—रोपण (प्रलेप आदि) कार्य और सातवाँ कार्य-वैकृतापह (सवर्णकरना, रोमसंजनन आदि कार्य) करना-ये व्रण के सात कार्य हैं[1] । वैकृतापहम्-विकृति को दूर करना।

वि० मन्तव्य—पाटन दो प्रकार से किया जाता है—१—शस्त्र से चीरना फाड़ना और २—दारण लेप से दारण करना-फोड़ना । विम्लापन से बैठ जाता है, यदि न बैठे तो अवसेचन से दब जाता है यदि न दबे तो उपनाह से पकाना चाहिये और पकने पर पाटन अथवा दारण करे । तदनन्तर शोधन—व्रणशोधन करे—पूय निकलता रहे, फिर शोधन के साथ रोपण करे, समतल होने पर केवल रोपण करे । यदि व्रणभूमि पर काला या श्वेत दाग पड़ जाय तो उसके नाश का उपाय करे । विशेष देखिये—चि० स्था० अ० १ ॥१७,१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आमपक्वैषणीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

अथातो व्रणालेपनबन्धविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे व्रण के लिये आलेपन, व्रण के बाँधने की विधि को बताने के लिये 'व्रणालेपनबन्धविधि' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च, तं च प्रतिरोगं वक्ष्यामः, ततो बन्धः प्रधानं, तेन शुद्धिर्व्रणरोपणमस्थिसन्धिस्थैर्यं च ॥३॥

आलेप ही, सबसे (बहिःपरिमार्जन या अन्तःपरिमार्जन) औषध द्रव्यों से श्रेष्ठ एवं समीपस्थ उपाय है । यही सब प्रकार के शोथों में सामान्य (तुल्य है) और सब उपायों में शीघ्र पीड़ा हर लेने से यही प्रधानतम है । इस आलेप की प्रत्येक रोग के लिये सूत्रस्थान और चिकित्सास्थान में कहेंगे । आलेप के बाद बन्ध प्रधान है । इस बन्ध के द्वारा व्रण का शोधन, व्रण का रोपण, अस्थि की स्थिरता एवं सन्धि की दृढ़ता होती है ॥३॥

तत्र प्रतिलोममालिम्पेत् । प्रतिलोमे हि सम्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति च रोमकूपान् स्वेदवाहिभिश्च सिरामुखैर्वीर्यं प्राप्नोति ॥४॥

आलेप को लोमों के अभिमुख (प्रतिलोम) लगाना चाहिये, अनुलोम (लोमों के अनुकूल) नहीं करना चाहिये । क्योंकि—प्रतिलोम लगाने पर औषध भली प्रकार से स्थिति करती हैं और अन्दर प्रविष्ट होती है । रोमकूपों द्वारा, स्वेदवाहिनियों से तथा सिरामुखों द्वारा जाकर वीर्यवान् होती है ॥४॥

न च शुष्यमाणमुपेक्षेत, अन्यत्र पीडयितव्यात्, शुष्को ह्यपार्थको रुक्करश्च ॥५॥

पीड़न द्रव्यों से जिस व्रण का पीड़न करना अभीष्ट हो, उसको छोड़कर अन्य सूखे हुए आलेप की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि—सूखा हुआ आलेप निरर्थक और दर्द करनेवाला होता है ॥५॥

स त्रिविधः—प्रलेपः, प्रदेहः आलेपश्च । प्रलेपप्रदेहयोरन्तरं—तत्र प्रलेपः शीतस्तनुरविशोषी विशोषी वा, प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलोऽबहुरविशोषी च, मध्यमोऽत्रालेपः । तत्र, रक्तपित्तप्रसादकृदालेपः, प्रदेहो वातश्लेष्मप्रशमनः शोधनो रोपणः शोफवेदनापहश्च, तस्योपयोगः क्षताक्षतेषु, यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः 'कल्क' इति संज्ञां लभते निरुद्धालेपनसंज्ञः, तेनास्रावसन्निरोधो मृदुतापूतिमांसापकर्षणमनन्तर्दोषता व्रणशुद्धिश्च भवति ॥

यह आलेप तीन प्रकार का होता है । यथा—प्रलेप, प्रदेह और आलेप । प्रलेप और प्रदेह में अन्तर (भेद)—प्रलेप-शीतल, पतला, अपीड़ितव्य व्रण में अविशोषि, पीडितव्य व्रण में विशोषि (सूखनेवाला), (चन्दन के समान जो लेप है, वह प्रलेप है) । प्रदेह—विषय की अपेक्षा से उष्ण (वात-कफ-बहुल व्रण में), शीत (पित्त-रक्त-प्रधान व्रण में), बहल (स्थूल), बहुत न सूखनेवाला, (कल्क को पिण्डाकार करके व्रण के ऊपर लगाना-प्रदेह)-प्रदेह है । आलेप-मध्यम (प्रलेप एवं प्रदेह के मिश्रित) लक्षणोंवाला है ।

इनमें आलेप-रक्त-पित्त शोथ को शान्त करता है, प्रदेह-वात-कफ को शान्त करता है; जोड़नेवाला, शोधक, रोपक (भरनेवाला), शोफ एवं वेदना को मिटाता है । इस आलेप का उपयोग क्षत अक्षत शोथ में होता है । जो आलेप क्षतजन्य व्रणों में बरता जाता है, उसकी कल्क संज्ञा है । इसी को 'निरुद्धालेपन' कहते हैं । क्योंकि इस आलेप से स्राव का निरोध

---

[1] आगे व्रणशोफ के उपक्रम साठ बताये हैं । इन साठों में ये सात मुख्य हैं और सदा कार्य में आते हैं—इसलिये इनको कहते हैं ।

(रुकावट) होता है- कोमलता आती है, सड़ा मांस दूर होता है (खींचता है), पूय बाहर आती है और व्रण का संशोधन होता है ॥६॥

अविदग्धेषु शोफेषु हितमालेपनं भवेत् ।
यथास्वं दोषशमनं दाहकण्डूरुजापहम् ॥७॥
त्वक्प्रसादनमेवाग्र्यं मांसरक्तप्रसादनम् ।
दाहप्रशमनं श्रेष्ठं रुजाकण्डूविनाशनम् ॥८॥
मर्मदेशेषु ये रोगा गुह्येष्वपि तथा नृणाम् ।
संशोधनाय तेषां हि कुर्यादालेपनं भिषक् ॥९॥
(षड्भागं पैत्तिके स्नेहं चतुर्भागं तु वातिके ।
अष्टभागं तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥१०॥)

अविदग्ध शोथों में आलेप ही हितकारी है, (विदग्ध शोथों में प्रदेह-उपनाह उत्तम हैं)। इससे दाह (पित्त की), कण्डू (कफ की) रुजा-पीड़ा (वायु की) अपने अपने दोषों का शमन होता है। त्वचा का प्रसादन करने से सब से श्रेष्ठ (प्रधान) है, मांस-रक्त का प्रसादन करता है, दाह की शान्ति करने से श्रेष्ठ है, तोदकण्डू को नष्ट करता है—ये आलेप के कार्य हैं। पुरुषों के मर्मस्थानों में तथा गुह्य भागों में जो रोग (भगन्दर-अर्श आदि) हों—उनके संशोधन के लिये आलेप ही वैद्य को करना चाहिये। आलेप के अन्दर स्नेह की मात्रा—पैत्तिक आलेप में छठा भाग, वातिक में चौथा भाग, कफजन्य में आठवाँ भाग होनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—आलेपनों (मलहमों) में—राल आदि द्रव्यों का छठा, चौथा अथवा आठवाँ भाग स्नेह (घृत, तैल अथवा वसा) मिलाया जाता है। विधि भेद से आलेपन ४ प्रकार का होता है। १–स्नेह में अष्टमांश मोम डालकर अग्नि पर उष्ण किया जाता है, मोम पिघलने पर उतार लिया जाता है, शीतल होने पर जम जाता है। इस में छ गुने चौगुने अथवा आठगुने द्रव्यों का कपड़छान चूर्ण मिला दिया जाता है। २—द्रव्यों के कपड़छान चूर्ण को स्नेह में मिला, थोड़ा २ जल डालकर घोटा, पीसा, फेंटा जाता है, माखन सा होने पर रख लिया जाता है। ३—कपड़छान द्रव्यों को अथवा कूटे तिल अतसी आदि को स्नेह में डाल हलुवा बना लिया जाता है। प्रथम २ का नाम "मलहम" है और तीसरे का नाम "पुलटिस" और चौथा—द्रव्यों को पीसकर कल्क बनाकर लेप करना चाहिये ॥७-१०॥

तस्य प्रमाणं महिषार्द्रचर्मोत्सेधमुपदिशन्ति ॥११॥

इस आलेप का प्रमाण—भैंस का गीला चमड़ा जितना मोटा होता है, उतना ही आलेप करना चाहिये। चरक में—"त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः" ॥११॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत, मा भूच्छैत्यविहतोष्मणस्तद्दुर्निर्गमाद्विकारप्रवृत्तिरिति ॥१२॥

आलेप को रात्रि में नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि—शोफ में आलेप की शीतलता से ऊष्मा के अन्दर रुक जाने से—बाहर न आने के कारण किसी अन्य विकार की उत्पत्ति न हो जाये—इसलिये रात्रि में आलेप नहीं करना चाहिये। एक दूसरा कारण—"तमसा पिहितोह्यूष्मा रोमकूपैरनावृतः। लेपाद् विनैव निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः" ॥१२॥

प्रदेहसाध्ये व्याधौ तु हितमालेपनं दिवा ।
पित्तरक्ताभिघातोत्थे सविषे च विशेषतः ॥१३॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
उपर्युपरि लेपं च न कदाचित् प्रदापयेत् ॥१४॥
ऊष्माणं वेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि ।
न च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत् पुनः ।
शुष्कभावात्स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः ॥१५॥

प्रदेहसाध्य व्याधि में दिन में आलेप करना उत्तम है। पित्तजन्य, रक्तजन्य, अभिघातजन्य, एवं विषजन्य शोथ में भी खासकर दिन में ही आलेप करना चाहिये, पर्युषित (बासे-एक दिन पुराने) आलेप को व्रण में नहीं लगाना चाहिये। एक किये आलेप के ऊपर दूसरा आलेप भी कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार करने से—अधिक उष्णिमा वेदना, दाह, उत्पन्न होता है। ऊपर ऊपर लेप करने से लेप मोटा-घन हो जाता है—इससे ये उपद्रव होते हैं। और एक बार लगाये आलेप को पुनः नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि शुष्क होने से वह निर्वीर्य होता है और ठीक होने पर भी यह निरर्थक है[1] ॥१३–१५॥

---

१ प्रदेहाः सर्व एवैते कर्त्तव्याः संप्रसादनाः ।
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् ॥
अधावनोद्धृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः ।
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्याधानोद्धृते घनाः ॥
त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः ।
नातिस्निग्धेन रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः ॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ।
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत् ॥
क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्णभावात् प्रवर्त्तयेत् ।
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् ॥
स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते ।
उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते ॥
तानेव दोषाञ्जनयेत् पट्टस्योपरि यान् कृतः
अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते ॥
त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ् न दोषं शमयत्यपि ।
तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यपुटायते ॥

अत ऊर्ध्वं व्रणबन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः, तद्यथा— क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्त्रोर्णचीनपट्टचर्मान्तर्वल्कलालाबूशकललताविदलरज्जुतूलफलसन्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधिं कालं चावेक्ष्योपयोगः, प्रकरणतश्चैषामादेशः ॥

इसके आगे व्रणबन्धन द्रव्यों की व्याख्या कहते हैं। यथा-क्षौम (सन से बनाया), कार्पास (रूई), आविक (मेढे के बालों से बुना), दुकूल (पट्ट वस्त्र), कौशेय (कौशेयु--कोशाकार कृमि से बना-रेशम), चीन पट्ट (चीन देश में बना वस्त्र), चर्म (हरिण आदि का), अन्तर्वल्कल (भूर्जपत्र-गूलर आदि की छाल), अलाबुशकल—(तुम्बीफल का टुकड़ा), लता, विदल (बांस की खरपट आदि), रज्जु, तूलफल (सिम्बल का फल आदि), सन्तानिका, लौह (स्वर्ण-सीसा आदि) व्रण को बाँधने के द्रव्य हैं।

इन व्रणबन्धन द्रव्यों का उपयोग व्याधि और काल के अनुसार करना चाहिये, यथा—वात-कफ रोगों में घने व्रणबन्धन द्रव्यों का, उष्णकाल में पतले व्रण द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। इसी प्रकार प्रकरणानुसार इनका आदेश करना चाहिये। यथा—सर्पदष्ट में अरिष्टबन्ध, रक्तस्राव में क्षीरसन्तानिका का, भग्नसन्धि के लिये विदल लता आदि का, शिर के व्रणों के लिये अलाबुशकलों का उपयोग करना चाहिए। सन्तानिका का अर्थ घाणेकर जी ने—दो तह या चार तह किया वस्त्र—किया है। डल्हण ने 'क्षीरसंतानिका' भी अर्थ दिया है।

तत्र कोशदामस्वस्तिकानुवेल्लितमु(प)त्तोलीमण्डलस्थगिकायमकखट्वाचीनविबन्धवितानगोफणाः पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्धविशेषाः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥ १७ ॥

पट्टियाँ—चौदह प्रकार की पट्टियाँ (बाँधने के प्रकार) हैं। यथा—कोश, दाम, स्वस्तिक, अनुवेल्लित, उत्तोली, मण्डल, स्थगिका, यमक, खट्वा, चीनविबन्ध, वितान, गोफण और पञ्चाङ्गी—ये चौदह प्रकार की पट्टियाँ हैं। प्रायः इनकी आकृतियाँ इसके नामों से ही स्पष्ट हैं[1] ॥ १७ ॥

न चौषधिरसो व्याधिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति।
तन्वा लिप्तेन ये दोषाः तानेव जनयेद् भृशम् ॥
संशुष्कः पीडयेद् व्याधिं निःस्नेहो ह्यवचारितः।
चरक चि अ० २१ ॥९८॥

१ लक्षण—
पूरयित्वौषधैर्बन्धः क्रियते कोशकाकृतिः।
कोशकाख्यः स विज्ञेयो वैद्यैर्बन्धेन वर्जिताम् ॥
दामाकृतिं चतुष्पादां दामाख्यं स्वस्तिकं पुनः।
स्वस्तिकाकृतिमासीव्य पश्चादावेष्ट्य बध्यते ॥

तत्र कोशमङ्गुष्ठांगुलिपर्वसु विदध्यात्, दाम सबाधेऽङ्गे, सन्धिकूर्चकभ्रूस्तनान्तरतलकर्णेषु स्वस्तिकम्, अनुवेल्लितं शाखासु, ग्रीवामेढ्रयोः मु (प्र)त्तोलीं, वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्, अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेढ्राग्रेषु स्थगिकां, यमलव्रणयोर्यमकं, हनुशङ्खगण्डेषु खट्वाम्, अपाङ्गयोश्चीनं, पृष्ठोदरोरःसु विबन्धं, मूर्धनि वितानं, चिबुकनासोष्ठांसबस्तिषु गोफणां, जत्रुण ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गीमिति, यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे सुनिविष्टो भवति तं तस्मिन् विदध्यात् ॥ १८ ॥

इनमें कोष बन्ध—अङ्गुष्ठ एवं अंगुलियों के पर्वों में बाँधना चाहिये। दाम—अङ्ग के समीपवाले प्रदेश में—जहाँ दूसरा बन्धन बन्ध न आ सके-अक्षकास्थि आदि में। स्वस्तिक बन्धन-सन्धि कूर्चक (क्षिप्र मर्म के ऊपर दोनों ओर), भ्रू, स्तनों के बीच से हाथ-पाव के तलुवों में। अनुवेल्लित—टांगों बाँहों में (शाखाओं में)। उत्तोली ग्रीवा एवं शिश्न में। मण्डल—गोल अङ्गों में (बाहु, पार्श्व, उदर, ऊरु आदि में)। स्थगिका—अंगुष्ठ-अंगुलि एवं शिश्न के अग्रभाग में। यमक—संयुक्त व्रणों में। खट्वा—हनु, शंख प्रदेश और गण्डस्थल में। चीन—नेत्रप्रान्तों में। गोफण—चिबुक, नासिका, ओष्ठ, अंस और वक्षप्रदेश की संधि (जत्रु) के ऊपर बाँधनी चाहिए। अथवा जो बन्धन शरीर के जिस प्रदेश में ठीक बैठे वह बन्धन उस प्रदेश में बाँधना चाहिए ॥ १८ ॥

अनुवेल्लितं तु तद् विद्यात् मुत्तोलीलक्षणं शृणु।
बह्वंघ्रिमुटिकाकारो जालवद् बहुरन्ध्रकः ॥
मुत्तोलीबन्ध एष स्यात् संज्ञान्तरमतः शृणु।
गोतुण्डिकां चालनीं च तानेवाहुर्भिषग्वराः ॥
मण्डलं वेष्टनाकारं विदध्यात् मण्डलाख्यके।
भेषजादिभिरापूर्य स्थगिका पट्टकेन च ॥
बध्यते मण्डलाकारो यमलव्रणयोस्तु सः।
खट्वा तु बहुभिर्वृता—
चीनबन्धं विजानीयाच्चीराभिर्बहुभिर्वृतम्।
विबन्धो विवधो बन्धः स च षड्ग्रन्थिकायुतः ॥
ज्ञेयो वितानसंज्ञस्तु वितानाकारसंयुतः।
पाषाणगुडकोत्क्षेपकारिणीं गोफणां विदुः ॥
तदाकृतिं भिषक् कुर्यात् फलस्य पञ्चकं त्रिभिः।
पंचांगीं तु वृत्तां कुर्यात् सन्धानाय चिकित्सकः ॥

लेखक का शल्यतन्त्र देखिये। गोफण को भाषा में गोफना कहते हैं—जिससे पक्षी उड़ाते हैं। दाम-बड़ी मोटी माला का नाम है। कोश—तलवार के कोश के समान, जिसे खोल कहते हैं। अनुवेल्लित—बेल के समान ऊपर को बल खाये—इसी प्रकार से सब का वर्णन नाम से स्पष्ट है।

यन्त्रणमूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ १९ ॥

मृदु, सम और गाढ़ भेद से बन्ध (गांठ) तीन प्रकार का है। यन्त्रण व्रण की गांठ, ऊपर नीचे और तिरछे भेद से तीन प्रकार की है। व्रण की आकृतियों के भिन्न भिन्न आकार होने पर भी यन्त्रण तीन ही प्रकार का है ॥ १६ ॥

तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वामहस्तपरिक्षेपमृजुमनाविद्धमसंकुचितं मृदु पट्टं निवेश्य बध्नीयात्। न च व्रणस्योपरि कुर्याद् ग्रन्थिमाबाधकरं च ॥ २० ॥

व्रण के उपर घनी कवलिका (गद्दी, औषध और पट्टी के बीच में रक्खी वस्तु-केले का पत्ता आदि जो कि औषध की रक्षा के लिये एवं वायु संचार को रोकने के लिये रक्खी जाती है) रखकर वाम और कोमल पट्टी को घुमाते हुए सरल, सीधा (बिना उलझनों के) एवं झुर्रियों रहित (सिलवटों के बिना) दक्षिण हाथ से बाँधना चाहिये। व्रण के ऊपर या व्रण के चारों ओर—(वाम—दक्षिण—पार्श्व में, या पीछे की गई गांठ—सोते समय कष्ट देती है) पीड़ा करनेवाली गांठ नहीं देनी चाहिए ॥ २० ॥

न च विकेशिकौषधे अतिस्निग्धे-अतिरूक्षे विषमे वा कुर्वीत, यस्मादतिस्नेहात् क्लेदः, रौक्ष्याच्छेदः, दुर्न्यासाद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति ॥ २१ ॥

औषधकल्क—घी एवं शहद को मिलाकर वस्त्र या धागों से बनाई वर्त्ति को विकेशिका कहते हैं। यह विकेशिका—सड़े मांस युक्त व्रणों में भरी जाती है। इस विकेशिका में औषध-कल्क अधिक नहीं होना चाहिये। न इसमें अधिक स्नेह न अधिक रूक्षता होनी चाहिये। और न इस विकेशिका को बुरी प्रकार (दबाकर या ढीला) रखना चाहिये। क्योंकि अतिस्नेह से क्लिन्नता, रूक्षता के कारण छेदन (विदीर्णता) और बुरी प्रकार से प्रविष्ट करने पर-व्रणमुख का अवघर्षण होता है ॥२१॥

तत्र व्रणायतनविशेषाद्बन्धविशेषस्त्रिविधो भवति—गाढः, समः, शिथिल इति ॥ २२ ॥

पीडयन्नरुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः।
नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः ॥२३॥

व्रण के स्थानभेद से बन्ध भी तीन प्रकार के हैं। यथा—गाढ़, सम और शिथिल। जो बन्ध दबाते समय पीड़ा न करे उसका नाम गाढ़ है, जो बन्ध अन्तः श्वास के साथ हिले-तने-उसका नाम शिथिल और जो बन्धन न गाढ़ और न शिथिलसमान हो उसको 'सम' कहते हैं ॥ २२,२३ ॥

तत्र स्फिक्कुक्षिकक्षावङ्क्षणोरुशिरःसु समः, अक्ष्णोः वदनकर्णकण्ठमेढ्रमुष्कपृष्ठपार्श्वोदरोरःसु समः, अक्ष्णोः सन्धिषु च शिथिल इति ॥ २४ ॥

व्रण के स्थान भेद से बन्ध—

स्फिक्, कुक्षि, कक्षा, वंक्षण, ऊरु एवं शिर इनमें गाढ़ बन्धन चाहिये। शाखा (हाथ-पाँव, मुख, कान, कण्ठ, शिश्न, अण्डकोश, पीठ, पार्श्व, उदर और उर में सम बन्ध बाँधना चाहिये। आँखों में तथा सन्धियों में शिथिल बन्ध बाँधना चाहिये ॥ २४ ॥

तत्र पैत्तिकं गाढस्थाने समं बध्नीयात्, समस्थाने शिथिलं, शिथिलस्थाने नैव, एवं शोणितदुष्टं च, श्लैष्मिकं शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढस्थाने गाढतरम्, एवं वातदुष्टं च ॥ २५ ॥

दोष विशेष से बन्ध—पैत्तिक व्रणों में—जिन स्थानों में गाढ़ बन्धन (स्फिक् आदि में) बाँधा जाता है वहाँ सम बन्ध बाँधना चाहिये और जिन स्थानों (कान-मुख आदि) में सम बन्ध बाँधना है, वहाँ शिथिल, शिथिलबन्ध के स्थानों में बन्ध बाँधना ही नहीं चाहिये। यही नियम रक्तदूषित व्रणों में व्यवहार करना चाहिये। श्लैष्मिक व्रणों में—शिथिल बन्धन के स्थान पर सम, सम के स्थान पर गाढ़ और गाढ़ के स्थान पर अधिक गाढ़ बन्धन बाँधना चाहिये। इसी प्रकार वातदूषित व्रण बन्धन बाँधना चाहिये ॥ २५ ॥

तत्र पैत्तिकं शरदि ग्रीष्मे द्विरह्नो बध्नीयात्, रक्तोपद्रुतमप्येवं, श्लैष्मिकं हेमन्तवसन्तयोस्त्र्यहात्, वातोपद्रुतमप्येवम्। एवमभ्यूह्य बन्धविपर्ययं च कुर्यात् ॥ २६ ॥

कालविशेष से बन्ध विशेष—पैत्तिक व्रणों को—शरद्ऋतु में, और ग्रीष्म में—दिन में दो बार बाँधना चाहिये। रक्तदूषित व्रणों को भी इसी विधि से बाँधना चाहिए। श्लैष्मिक व्रणों को—हेमन्त एवं वसन्त के तीसरे दिन बाँधना चाहिये। इसी प्रकार से रक्तदूषित व्रणों को भी बाँधना चाहिये। इस प्रकार अपनी बुद्धि से विचार कर व्रण के बन्धन-विपर्यय को तथा व्रणमोक्षण को करना चाहिये। यथा—पित्तश्लेष्म व्रणों को—प्रातःकाल ग्रीष्म एवं शरद्ऋतु में, हेमन्त में पैत्तिक व्रणों को प्रतिदिन बाँधना चाहिये ॥ २६ ॥

तत्र, समशिथिलस्थानेषु गाढं बद्धे विकेशिकौषधनैरर्थक्यं शोफवेदनाप्रादुर्भावश्च। गाढसमस्थानेषु शिथिले बद्धे विकेशिकौषधपतनं पट्टसंचाराद् व्रणवर्त्मावघर्षणमिति। गाढशिथिलस्थानेषु समं बद्धे गुणाभाव इति ॥२७॥

यदि सम एवं शिथिल बन्ध के स्थान पर गाढ़ बन्ध बाँधा जायगा तो विकेशिका की औषध निरर्थक हो जायेगी एवं शोथ तथा वेदना उत्पन्न हो जायेगी। गाढ़ एवं सम के स्थान पर शिथिल बन्ध बाँधने से विकेशिका की औषधि गिर जायेगी—पट्टी के हिलने से व्रण का मुख रगड़ेगा। गाढ़ एवं शिथिल के स्थान पर सम बन्ध बाँधने से गुण नहीं होता ॥ २७ ॥

अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिरसृक्प्रसादो मार्दवं च ।२८।

अविपरीत, ठीक प्रकार से, उचित रूप में बाँधने से वेदना की शान्ति, रक्त की स्वच्छता और कोमलता उत्पन्न होती है ।२८।

अवध्यमानो दंशमशकतृणकाष्ठोपलपांशुशीतवातातपप्रभृतिभिर्विशेषैरभिहन्यते व्रणः, विविधवेदनोपद्रुतश्च दुष्टतामुपैति, आलेपनादीनि चास्य विशोषमुपयान्ति ।२९।

व्रण पर पट्टी को न बाँधने से—दंश (दांस-वनमक्षिका), मशक (मच्छर), तिनका, लकड़ी, पत्थर, धूल, शीत, धूप, वायु आदि से व्रण दूषित हो जाता है, नाना प्रकार की वेदनायें (रोग) एवं उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। व्रण पर किये आलेप आदि सब सूख जाते हैं ॥२९॥

चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमतिपातितम् ।
अस्थिस्नायुसिराच्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति ॥३०॥
सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति ।
सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः ॥३१॥

चूर्णित (बहुत खण्डों में भग्न), मथित (विलोड़ित), भग्न (काण्डभग्न), विश्लिष्ट (सन्धिच्युत), अतिपातित (स्थान से च्युत-लटकता हुआ), अस्थिच्छिन्न, स्नायुच्छिन्न, सिराछिन्न व्रण बन्धन द्वारा शीघ्र भरता है। बन्धन के कारण व्रणी पुरुष सुख पूर्वक सोता है, सुखपूर्वक चलता-बैठता है। बिस्तर पर लेटने में, आसन पर बैठने में सुख पहुँचता है, व्रण जल्दी भरता है ॥ ३०, ३१ ॥

अबन्ध्याः—पित्तरक्ताभिघातविषनिमित्ता यदा शोफदाहपाकरागतोदवेदनाभिभूताः क्षाराग्निदग्धाः पाकात् प्रकुथितप्रशीर्णमांसाश्च भवन्ति ॥ ३२ ॥

निम्न अवस्थाओं में बन्धन नहीं बाँधना चाहिए। यथा—पित्तजन्य, रक्तजन्य, अभिघातजन्य और विषजन्य व्रण जब शोफ, दाह, पाक, लालिमा, तोद, वेदना से युक्त हों, क्षार या अग्नि से जलने के कारण पाक के कारण मांस गल गया हो—(लटक रहा हो) तब व्रणों पर पट्टी नहीं बाँधनी चाहिए ॥३२॥

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडकामधुमेहिनाम् ।
कर्णिकाश्चोन्दुरुविषे विषजुष्टाश्च ये व्रणाः ॥ ३३ ॥
मांसपाके न बध्यन्ते गुदपाके च दारुणे ।
स्वबुद्ध्या चापि विभजेत् कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् ॥

कुष्ठरोगियों के, अग्नि से दग्ध पुरुषों के, मधुमेही पुरुषों की प्रमेहपिडिकायें, मूषिकाविष में, कर्णिका (दूषित मांसाङ्कुर) में, विषयुक्त व्रणों में, मांसपाक की अवस्था में, गुदपाक की भयानक अवस्था में व्रणों पर पट्टी नहीं बाँधनी चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपनी बुद्धि से भी बन्ध्य या अबन्ध्य व्रणों की परीक्षा करे ॥ ३३, ३४ ॥

देशं दोषं च विज्ञाय व्रणं च व्रणकोविदः ।
ऋतूंश्च परिसंख्याय ततो बन्धान्निवेशयेत् ॥ ३५ ॥

व्रण को जाननेवाला विद्वान् देश, दोष, व्रण और शीत-उष्ण-साधारण-ऋतुओं को जानकर बन्धनों को बाँधे ॥३५॥

ऊर्ध्वंतिर्यगधस्ताच्च यन्त्रणा त्रिविधा स्मृता ।
यथा च बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः ॥३६॥
घनां कवलिकां दत्त्वा मृदु चैवापि पट्टकम् ।
विकेशिकामौषधं च नातिस्निग्धं समाचरेत् ॥३७॥
प्रक्लेदयत्यतिस्निग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च ।
युक्तस्नेहा रोपयति दुर्न्यस्ता वर्त्म घर्षति ॥३८॥
विषमं च व्रणं कुर्यात् स्तम्भयेत् स्रावयेत्तथा ।
यथाव्रणं विदित्वा तु योगं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥३९॥

उपसंहार—

यन्त्रणा तीन प्रकार की है। यथा—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्। जिस प्रकार से बन्ध बाँधा जाता है, उसकी विधि को सम्पूर्ण रूप से कहता हूँ। व्रण के ऊपर घनी कवलिका को रखकर कोमल वस्त्र से पट्टी बाँधनी चाहिए। विकेशिका की औषध को न तो बहुत स्निग्ध और न बहुत रूक्ष करना चाहिए। अतिस्निग्ध होने से व्रण में क्लिन्नता उत्पन्न करती है, और रूक्ष होने से व्रण का हिंसन करती है। उचित स्नेहवाली बत्ती व्रण को भरती है, बुरी प्रकार से प्रविष्ट की हुई व्रण के मुख का घर्षण करती है। व्रण को विषम बना देती है। स्राव को रोक देती है या स्राव को आरम्भ कर देती है। इसलिए वैद्य को चाहिए कि व्रण को देखकर उपचार करे ॥ ३६-३९ ॥

पित्तजे रक्तजे वाऽपि सकृदेव परिक्षिपेत् ।
असकृत् कफजे वापि वातजे च विचक्षणः ॥४०॥
तलेन प्रतिपीड्याथ स्रावयेदनुलोमतः ।
सर्वांश्च बन्धान् गूढान्तान् सन्धींश्च विनिवेशयेत् ॥

पित्तजन्य एवं रक्तजन्य व्रणों में एक बार ही दबाकर दोष निकालना चाहिए। कफजन्य एवं वातजन्य व्रणों में बार-बार दबाना आदि करना चाहिए। हाथों के तलुओं से व्रण को नीचे दबाकर अनुलोम रूप में स्राव करना चाहिए। सब प्रकार के बन्ध इस प्रकार बाँधे कि उसके सिरे और जोड़ बाहर से दिखाई न दें।

वि० मन्तव्य—२ श्लोकों का अर्थ है कि—पित्त व्रणों पर तथा रक्तजव्रणों पर पट्टी का एक ही लपेट देना चाहिए, जिससे उसमें ऊष्मा की उत्पत्ति न हो। कफज एवं वातज व्रणों पर कई लपेट देने चाहिए, जिससे उनका शमन हो। और 'अथ' अर्थात् यथासमय बन्धन खोलकर व्रण को तल से दबाकर (यदि उसमें पूय सञ्चित हो तो) सीधे मार्ग से पूय का स्रावण करे और फिर बन्धन बाँध देवे। संक्षेपतः सभी बन्धनों में सन्धि बिठाते हुए बन्धन करे। पट्टी के अन्तिम छोर को पट्टी में ही फँसा देवे अर्थात् गाँठ न देवे ॥४०,४१॥

ओष्ठस्याप्येष सन्धाने यथोद्दिष्टो विधिः स्मृतः ।
बुद्ध्योत्प्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता ॥४२॥
उत्तिष्ठतो निषण्णस्य शयनं चाधिगच्छतः ।
गच्छतो विविधैर्यानैर्नास्य दुष्यति स व्रणः ॥४३॥

यह कही हुई विधि ओष्ठ के सन्धान में भी बरतनी चाहिए। विद्वान् वैद्य को चाहिए कि अपनी बुद्धि से विचार-कर अस्थि आदि जोड़ने के काल में भी उपर्युक्त विधि को काम में लाये। बन्धन बाँधने से--उठते बैठते लेटते समय, नाना प्रकार की सवारियों से जाने पर भी व्रण दूषित नहीं होता ॥४२,४३॥

ये च स्युर्मांससंस्था वै त्वग्गताश्च तथा व्रणाः ।
सन्ध्यस्थिकोष्ठप्राप्ताश्च सिरास्नायुगतास्तथा ॥४४॥
तथाऽवगाढगम्भीराः सर्वतो विषमस्थिताः ।
नाते साधयितुं शक्या ऋते बन्धाद्व्रवन्ति हि ॥४५॥

जो व्रण मांस में या त्वचा में आश्रित हो, सन्धि अस्थि कोष्ठ के व्रण, सिरा-स्नायु के व्रण, गम्भीर व्रण, सम्पूर्ण रूप से (चारों ओर से) विषम व्रण- ये सब बिना योग्य बन्धन के अच्छे (स्वस्थ) नहीं हो सकते—इनमें बन्धन बाँधना आवश्यक है ॥ ४४,४५ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणालेपनबन्धनविधि-नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अथातो व्रणितोपासनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे व्रणितोपासनीय (सेवनीय) अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था ॥ १--२ ॥

व्रणितस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत्, तच्चागारं प्रशस्तवास्त्वादिकं कार्यम् ॥३॥

व्रणी पुरुष के लिए सबसे प्रथम शय्या, आसन, घर आदि की व्यवस्था करनी चाहिए और यह घर प्रशस्त प्रदेश में होना चाहिए[1] ॥३॥

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपवर्जिते ।
निवाते न च रोगाः स्युः शरीरागन्तुमानसाः ॥४॥

क्योंकि प्रशस्त प्रदेश में बने घर में, पवित्र स्वच्छ एवं धूप तथा सीधी वायु की रुकावट (घर में वायु आये—परन्तु सीधी जोर से नहीं आनी चाहिए)--वाले घर में शारीरिक एवं आगन्तु तथा मानसिक रोग नहीं होते ॥४॥

तस्मिन् शयनमसंबाधं स्वास्तीर्णं मनोज्ञं प्राक्शिरस्कं सशस्त्रं च कुर्वीत ॥५॥

इस घर में शय्या—पीड़ारहित, असंकुचित (पर्य्याप्त लम्बी चौड़ी), शोभन गद्दे-चादरवाली, रमणीय, हिंसा-निवारण के लिए शस्त्र युक्त करनी चाहिये। शय्या का सिर पूर्व की ओर रखना चाहिये ॥५॥

सुखचेष्टाप्रचारः स्यात् स्वास्तीर्णे शयने व्रणी ।
प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च तच्छिरः ॥६॥

इस प्रकार शय्या पर सोने से लाभ—व्रण-रोगी पुरुष सुन्दर बिछौनेवाली शय्या पर सोकर अपनी चेष्टायें भली प्रकार से आराम से कर सकता है। पूर्व दिशा में देवता रहते हैं (सूर्य आदि)। उनकी पूजा के लिए रोगी का सिर पूर्व दिशा में रखा जाता है। "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥" श्रुतिः, "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्" ॥ ६ ॥

तस्मिन् सुहृद्भिरनुकूलैः प्रियंवदैरुपास्यमानो यथेष्टमासीत ॥७॥

इस घर में अपने मन के अनुकूल, प्रिय बोलनेवाले मित्रों के साथ मिलकर यथेष्ट समय तक निवास करे ॥ ७ ॥

सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रणवेदनाः ।
आश्वासयन्तो बहुशः स्वानुकूलाः प्रियंवदाः ॥८॥

क्योंकि मित्र लोग नई नई बातें कहकर रोग की वेदना को भुला देते हैं। नाना प्रकार से सान्त्वना देते हुए, मन के अनुकूल प्रिय—कहनेवाले मित्र--वेदना को कम कर देते हैं॥

न च दिवा निद्रावशगः स्यात् ॥९॥
दिवास्वप्नाद् व्रणे कण्डुर्गात्राणां गौरवं तथा ।
श्वयथुर्वेदना रागः स्रावश्चैव भृशं भवेत् ॥१०॥

व्रणी पुरुष को कभी भी दिन में नहीं सोना चाहिए। क्योंकि—दिन में सोने से व्रण में कण्डू उत्पन्न हो जाती है, अङ्गों में भारीपन आ जाता है, व्रण में सूजन, लालिमा और बहुत स्राव आरम्भ हो जाता है ॥ ९,१० ॥

उत्थानसंवेशनपरिवर्तनचङ्क्रमणोच्चैर्भाषणाद्यास्वा-त्मचेष्टास्वप्रमत्तो व्रणं संरक्षेत् ॥११॥

स्थानासनं चङ्क्रमणं दिवास्वप्नं तथैव च ।
व्रणितो न निषेवेत शक्तिमानपि मानवः ॥१२॥

व्रणी पुरुष को चाहिए कि अपनी चेष्टाओं में—उठने, बैठने, वाम-दक्षिण करवट बदलने में--चलने में--बहुत सावधानी बरते। उठना, बैठना, घूमना, दिन में सोना बलवान् भी व्रणी सेवन न करे ॥११,१२॥

---

१ प्रशस्त प्रदेश—ऊँचो-नीची भूमि रहित, पूर्व या उत्तर की ओर ढलवान, काली, या स्वर्णमृत्तिकावाला प्रदेश उत्तम है। विस्तार के लिये चरक-सूत्रस्थान में कूटागार विधि दी है। यथा—"अपहृतास्थि-शर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके स्वर्णमृत्तिके वा ।" वास्तुशास्त्र में—बिल्वो निम्बश्च निर्गुण्डी पिण्डितः सप्तपर्णकः । सहकारश्च षड्वृक्षैः आरूढा या समस्थली । निष्कपाला निरुपला कृष्णवल्मीकवर्जिता"—इत्यादि ।

उत्थानाद्यासनं स्थानं शय्या चातिनिषेविता ।
प्राप्नुयान्मारुतादङ्गरुजस्तस्माद्विवर्जयेत् ॥१३॥

अधिक उठने से, अधिक बैठने से, अधिक सीधा खड़ा होने से, अधिक बिस्तर पर पड़े रहने से अङ्गों में वायु प्रकुपित होती है, इससे दर्द बढ़ जाती है ॥१३॥

गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शनसंभाषणसंस्पर्शनानि दूरत एव परिहरेत् ॥१४॥

गम्य ग्राम्यधर्म के योग्य स्त्रियों के दर्शन, इनके साथ बोल-चाल, इनके स्पर्श से-दूर से ही बचना चाहिये। (अगम्य स्त्रियों की बात ही नहीं) ॥१४॥

स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं स्रवेत् ।
ग्राम्यधर्मकृतान्दोषान् सोऽसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात् ॥१५॥

क्योंकि कभी अकस्मात् स्त्रीदर्शन आदि से शुक्र स्रवित हो जाय तो ग्राम्यधर्म के बिना भी, ग्राम्यधर्म द्वारा उत्पन्न विकार-इस शुक्रस्राव से उत्पन्न हो जाते हैं ॥१५॥

नवधान्यमाषतिलकलायकुलत्थनिष्पावहरितकशाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशाकाजाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधिदुग्धतक्रप्रभृतीनि परिहरेत् ॥१६॥

निम्न आहार का परित्याग करना चाहिये-नये धान्य (एक साल जिन धान्यों पर नहीं बीता), उड़द, तिल, कलाय (मटर), कुलत्थी, निष्पाव (राजशिम्बी), हरितक[1] अम्ल, लवण, कटुरस, गुडपिष्टी-गुड़ से बने पदार्थ, वल्लूर (शुष्क मांस), शुष्क शाक, बकरी-भेड़ का मांस, आनूप मांस, औदक मांस, वसा, शीत पानी, कृशरा (तिल-तण्डुल-माष से बनी यवागू), पायस (खीर), दधि, दूध, तक्र प्रभृति (गुरु पदार्थों) का परित्याग करना चाहिये।

तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः ।
दोषसञ्जननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः ॥१७॥

नवधान्य से लेकर तक्र तक जो पदार्थ कहे हैं, ये सब व्रण में दोष उत्पन्न करनेवाले हैं। इनके सेवन से व्रण में पूय बढ़ती है ॥१७॥

मद्यपश्च मैरेयारिष्टासवसीधुसुराविकारान् परिहरेत् ॥१८॥

व्रणी पुरुष यदि मद्यपी हो (या न भी हो) तो भी उस को मैरेय (सुरा और आसव को एक पात्र में बन्द करके बनाने से) अरिष्ट (क्वाथ से बनाया), सीधु (सस्यक), सुरा (लोहित वर्ण)-मद्य के विकारों का परित्याग करना चाहिये। (कई आचार्यों का मत है कि 'अम्लादि गुण युक्त सब प्रकार के मद्य का निषेध हैं' परन्तु अम्लादि से विपरीत-द्राक्षारसादि पिलाने चाहिये) ॥

मद्यमम्लं तथा रूक्षं तीक्ष्णमुष्णं च वीर्यतः ।
आशुकारि च तत् पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद् व्रणम् ॥१६॥

मद्य-अम्लरस, रूक्ष, तीक्ष्णगुण, उष्णवीर्य, और शरीर में शीघ्र व्याप्त होने से क्षिप्रकारी है, इसलिये व्रण को बहुत जल्दी दूषित कर देता है। (मद्य के दस गुण ओज के गुणों से विपरीत हैं। इसलिये मद्य ओज का नाश करने से व्रण में अहितकर है)॥

वातातपरजोधूमावश्यायातिसेवनातिभोजनानिष्टभोजनश्रवणदर्शनेर्ष्यामर्षभयशोकध्यानरात्रिजागरणविषमाशनशयनोपवासवाग्व्यायामस्थानचङ्क्रमणशीतवातविरुद्धाध्यशनाजीर्णमक्षिकाद्याबाधाः परिहरेत् ॥२०॥

बाह्य आहार-विहार-वात, धूप, धूल, धूंवा, ओस, इनका अधिक सेवन, अतिभोजन, अनिष्ट भोजन, अनिष्ट बात का सुनना, अनिष्ट वस्तु का दर्शन, ईर्ष्या, क्रोध, भय, शोक, चिन्ता, रात्रि में जागना, विषमाशन, उपवास करना, विषम शयन, अनशन, वाणी का श्रम (जोर से बोलना), सीधा खड़ा होना, चलना, शीतवायु, विरुद्ध भोजन (दूध, मछली को साथ खाना), अजीर्ण, मक्खी आदि से बचना चाहिये। (विषमशयन-कम या अधिक सोना) ॥२०॥

व्रणिनः संप्रतप्तस्य कारणैरेवमादिभिः ।
क्षीणशोणितमांसस्य भुक्तं सम्यङ् न जीर्यति ॥२१॥
अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत् ।
ततः शोफरुजास्रावदाहपाकानवाप्नुयात् ॥२२॥

उपर्युक्त एवं अन्य इसी प्रकार के कारणों से व्रणी पुरुष के दुःखी होने पर-मांस और रक्त क्षीण हो जाता है, जिससे कि खाया भोजन भली प्रकार से जीर्ण नहीं होता। अजीर्ण के होने से वात-पित्त कफ का स्थानान्तर में जाना होता है। इससे सूजन, पीड़ा, रक्तस्राव, विदाह और पाक उत्पन्न हो जाते हैं ॥२१, २२॥

सदा नीचनखरोम्णा शुचिना शुक्लवाससा शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मणगुरुपरेण भवितव्यमिति। तत् कस्य हेतोः ? हिंसाविहाराणि हि महावीर्याणि रक्षांसि पशुपतिकुबेरकुमारानुचराणि मांसशोणितप्रियत्वात् क्षतजनिमित्तं व्रणिनमुपसर्पन्ति, सत्कारार्थं जिघांसूनि वा कदाचित् ॥२३॥

व्रणी पुरुष को सदा नख और बाल कटाकर पवित्र-साफ, श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिये। मन की शान्ति, मङ्गल, देवता, ब्राह्मण और गुरु की आज्ञा व सेवा में सदा तत्पर रहना चाहिये। यह सब किसलिये ? क्योंकि हिंसा के लिये विहार (प्रवृत्ति)

---

[1] हरितशाक-'कुठेर-शिग्रु-सुरस-सुमखासुरि-भूस्तृणाः ।
चुक्राक-शुक्रिका चेति वर्गं हरितकं विदुः ॥'

करनेवाले बड़े शक्तिशाली महेश; कुबेर और कार्तिकेय की आज्ञा का पालन करनेवाले राक्षस—मांस एवं रक्त की चाहना से रक्त के कारण व्रणी पुरुष के पास आते हैं। इनके आने का उद्देश्य-पूजा प्राप्त करना या गतायुष को मारने के लिये आना है[१] ॥२३॥

कहा भी है—

भवति चात्र—

तेषां सत्कारकामानां प्रयतेतान्तरात्मना ।
धूपबल्युपहारांश्च भक्ष्यांश्चैवोपहारयेत् ॥२४॥

इन पूजाभिलाषी अनुचरों के सत्कार के लिये अन्तरात्मा से प्रयत्न करना चाहिये। इनको धूप (नैवेद्य), बलि (पूजा), उपहार (पशुबलि) एवं उत्तम भक्ष्य देने चाहिये ॥२४॥

ते तु संतर्पिता आत्मवन्तं न हिंस्युः। तस्मात् सततमतन्द्रितो जनपरिवृतो नित्यं दीपोदकशस्त्रस्रग्दामपुष्पलाजाद्यलङ्कृते वेश्मनि संपन्मङ्गलमनोऽनुकूलाः कथा शृण्वन्नासीत ॥२५॥

ये अनुचर भली प्रकार से तृप्त होने पर-जितेन्द्रिय पुरुष को नहीं मार सकते, इसलिये सदा सावधान (चौकश), मनुष्यों से घिरा, सदा दीप-पानी-शस्त्र-स्रग् (सिर की माला), दाम-फूल-लाजा-वीणा-चन्दन आदि ऐश्वर्य से युक्त होकर मङ्गल, सुन्दर एवं अनुकूल (मन-पसन्द) कथाओं को सुनता हुआ समय बिताये ॥२५॥

संपदाद्यनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः ।
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात् ॥२६॥

उपर्युक्त ऐश्वर्य से युक्त होकर अनुकूल मन के प्रिय कथाओं को सुनते हुए, रोग की शान्ति में आशा रखने से (मैं अवश्य अच्छा हो जाऊँगा) शीघ्र स्वस्थ हो जाता है ॥२६॥

ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैरुपाध्याया भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्युः ॥२७॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में कहे तथा अन्य आशीर्वादों द्वारा पुरोहित तथा वैद्य प्रातः सायं दोनों सन्ध्याकालों में रोगी की रक्षा करें ॥२७॥

सर्षपारिष्टपत्राभ्यां सर्पिषा लवणेन च ।
द्विरह्नः कारयेद्धूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥२८॥

सरसों, अरिष्टपत्र (निम्बपत्र), घी और सैन्धव नमक, इनके साथ दस दिन तक बिना आलस्य किये–प्रातः सायं 'धूप' देना चाहिये–(व्रण के सिवाय बिस्तर कपड़े आदि पर भी धूप देना चाहिये–जैसा चरक० शारीर ८ अ० में कहा है।) ॥२८॥

छत्रामतिच्छत्रां लाङ्गलीं जटिलां ब्रह्मचारिणीं लक्ष्मीं गुहामतिगुहां वचामतिविषां शतवीर्यां सहस्रवीर्यां सिद्धार्थकांश्च शिरसा धारयेत् ॥२९॥

निम्न औषधियों को सिर पर धारण करना चाहिये। यथा छत्र, अतिच्छत्र (दोनों द्रोणपुष्पी गोमा), लांगली (कलिहारी या कपिकच्छु-कौंच), जटिला (जटामांसी), ब्रह्मचारिणी (मुण्डतिका या लालचन्दन वा मण्डूकपर्णी), लक्ष्मी (लक्ष्मणा या शमी), गुहा (शालपर्णी), अतिगुहा (पृश्निपर्णी), शतवीर्या (शतावरी या दूर्वा) सहस्रवीर्या (श्वेत दूर्वा), और सिद्धार्थक (सरसों), इनको सिर पर धारण करना चाहिये ॥२९॥

व्यज्येत बालव्यजनैर्व्रणं न च विघट्टयेत् ।
न तुदेन्न च कण्डूयेच्छयानः परिपालयेत् ॥३०॥

व्रण को चमर से वायु करते रहना चाहिये, दबाना, सूई आदि से बेधना तथा खुजाना नहीं चाहिये और व्रणरोगी सोते समय भी व्रण की रक्षा करता रहे अर्थात् व्रण पर कोई आघात न पहुँचे ॥३०॥

अनेन विधिना युक्तमादावेव निशाचराः ।
वनं केशरिणाऽऽक्रान्तं वर्जयन्ति मृगा इव ॥३१॥

इस उपर्युक्त विधि के सेवन करने से राक्षस लोग पहले से ही भाग जाते हैं, जिस प्रकार कि केसरी-सिंह से आक्रान्त वन में मृग नहीं घुसते, इसी प्रकार राक्षस भी व्रण के पास नहीं आते[१] ॥३१॥

जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम् ।
भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३२॥
तण्डुलीयकजीवन्तीसुनिषण्णकवास्तुकैः ।
बालमूलकवार्ताकपटोलैः कारवेल्लकैः ॥३३॥
सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः ।
अन्यैरेवंगुणैर्वाऽपि मुद्गादीनां रसेन वा ।
सक्तून् विलेपीं कुल्माषाञ्जलं चापि शृतं पिबेत् ॥३४॥

सेव्यविधि—स्निग्ध, अल्प उष्ण एवं द्रव-बहुल[२], पुराने शाली चावलों के भात को जांगल मांस के साथ

---

१ पूजा के लिये आगे कहेंगे—
"अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् ।
हिंस्यहिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि वा ॥
विस्तार के लिये 'अमानुषोपसर्ग प्रतिषेध' नामक अध्याय देखिये।

१ राक्षस शब्द या इसके पर्याय निशाचर आदि वर्तमानकालीन रोगोत्पादक कीटाणु-मच्छर आदि के लिये सङ्केत हैं। राक्षसों की भांति ये भी रात को अन्धेरे में, असावधानी में आक्रमण करते है, इनको मांस, रक्त पसन्द है। पवित्रता होने से भागते हैं।

२ द्रवोत्तर का अर्थ-भोजन के पीछे पानी पीने से भी है। क्योंकि–'क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, अनुदीर्णञ्चाग्निमुदीरयति। अधिक पानी अर्थ करना ठीक नहीं। क्योंकि भोजन में इसको हानिकारक कहा है–'घृणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत्'

खाने से व्रण शीघ्र भरता है। (क्योंकि—मांस मांस से बढ़ता है)। तण्डुलीयक (चौलाई), जीवन्ती (डोढ़िका), सुनिषण्णक (चौपतिया), वास्तुक (बथुवा), बालमूलक (नर्ममूली), वार्त्ताक (बैंगन) पटोल (परवल), कारवेल्लक (करेला), इनको घी में भूनकर (तेल में नहीं) अनारदाना, आँवला और सैन्धानमक के साथ संस्कृत भात को—इसी प्रकार से अन्य इसी प्रकार के गुणवाले-मूङ्ग, मांसरस के साथ खाये, सत्तू, विलेपी (लप्सी), कुल्माष (अर्द्धस्विन्न गेहूँ या चने) और गरम करके ठण्डा किया जल पीना चाहिये ॥३२-३४॥

दिवा न निद्रावशगो निवातगृहगोचरः।
व्रणी वैद्यवशे तिष्ठञ् शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३५॥

वात रहित घर में रहता हुआ रोगी दिन में कभी भी नहीं सोवे। वैद्य की आज्ञा का पालन करने से घाव शीघ्र भर जाता है ॥३५॥

(व्रणे श्वयथुरायासात स च रागश्च जागरात्।
तौ च रुक् च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥३६॥)

परिश्रम करने से व्रण में सूजन उत्पन्न होती है, रात में जागने से व्रण में सूजन एवं लालिमा आती है। दिन में सोने से व्रण में सूजन, लालिमा और वेदना हो जाती है। मैथुन से सूजन, लालिमा, वेदना और मृत्यु होती है ॥३६॥

एवंवृत्तसमाचारो व्रणी संपद्यते सुखी।
आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिवचो यथा ॥३७॥

इस प्रकार के आहार-विहार का पालन करने से व्रणी सुखी (स्वस्थ) होता है, दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है—ऐसा धन्वन्तरि का वचन है ॥३७॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणितोपासनीयो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशतितमोऽध्यायः

अथातो हिताहितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'हिताहितीय' अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत से कहा था।

वि० मन्तव्य—हित शब्द का अर्थ—"डुधाञ्धारण पोषणयोः" धातु से हित शब्द की निष्पत्ति होती है अर्थात् जो आहार विहार धारण (जीवन) तथा पोषण (पालन) का हेतु होता है वह "हित" कहलाता है और इसके विपरीत "अहित" ॥१,२॥

यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किंचिद् द्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वाऽस्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते। तत्तु न सम्यक्; इह खलु यस्माद् द्रव्याणि स्वभावतः संयोगतश्चैकान्तहितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति ॥३॥

कई आचार्यों का मत है कि—जो वस्तु वायु के लिये पथ्य है, वही वस्तु पित्त के लिये अपथ्य (अहितकारी) है। यथा—तैल, काञ्जिक आदि। इसलिये कोई भी द्रव्य पूर्ण रूप में हितकारी या अहितकारी नहीं कहा जा सकता। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि—इस सुश्रुत तन्त्र में—द्रव्य-स्वभाव से (प्रकृति से—जो कि अवस्थाओं में एक समान रहती है यथा—वह्नि की उष्ण, जल की द्रव), संयोग से (एक या दो-तीन द्रव्यों के साथ संयोग होने से) पूर्ण रूप से हितकारी या पूर्ण रूप में अहितकारी अथवा हित एवं अहित दोनों करनेवाले होते हैं।

वि० मन्तव्य—'तत्तु न सम्यक्' अर्थात् यह ठीक (युक्ति संगत) तो है परन्तु बहुत ठीक नहीं है। पथ्य शब्द का अर्थ—जो पथ—जीवन यात्रा के अनपेत—अनुकूल हो। इसके विपरीत अपथ्य ॥३॥

तत्र, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि; एकान्ताहितानि तु दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यनलक्षारविषादीनि, संयोगादपराणि विषतुल्यानि भवन्ति; हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमिति ॥४॥

इनमें पूर्ण रूप में हितकारी द्रव्य—(जाति-जन्म से ही सात्म्य की दृष्टि से)—पानी, घी, दूध, चावल, जौ, गेहूँ आदि जन्म से ही हितकारी हैं। पूर्णरूप में अहितकारी—अग्नि, क्षार एवं विष आदि वस्तुयें जलाने, पकाने या मारने के लिये व्यवहार में लायी जाती हैं। संयोग के कारण दूसरे द्रव्य विष के समान हो जाते हैं। हितकारी एवं अहितकारी द्रव्य—जो वायु के लिये पथ्य है, वही द्रव्य पित्त के लिये अहितकारी हैं। सात्म्य—निरन्तर उपयोग से जो आत्मा के अनुकूल हो जाये॥

अतः सर्वं प्राणिनामयमाहारार्थं वर्गं उपदिश्यते, तद्यथा—रक्तशालिषष्टिककङ्कुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पककर्दमकशकुनाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्रवोद्दालकश्यामाकगोधूमयववेणवैणहरिणकुरङ्गमृगमातृकाश्वदंष्ट्राकरालकक्रकरकपोतलावतित्तिरिकपिञ्जलवर्तीरवर्तिकामुद्गवनमुद्गमकुष्ठकलायमसूरमङ्गल्यचणकहरेणवाढकीसतीनाश्चिल्लिवास्तुकसुनिषण्णकजीवन्ती-

---

चरक में—लोहितशालयः शूकधान्यानाम्; मुद्गाः शमीधान्यानाम्, सैन्धवं लवणानाम्, जीवन्तीशाकं शाकानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमः।

तण्डुलीयकमण्डूकपर्ण्यः, गव्यं घृतं, सैन्धवं, दाडिमामलकमित्येष वर्गः सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः ॥५॥

सब प्राणियों के पथ्य आहार के लिये इस निम्नलिखित वर्ग का उपदेश करते हैं। यथा—लाल चावल, षष्टिक (श्वेत साठी), कङ्गुक (कङ्गनी), मुकुन्द (काले साठी), पाण्डुक (पीले धान्य), पीतक, प्रमोदक, कालक, असनक, पुष्पक, कर्दमक, शकुनाहृत, सुगन्धक (देवशालि), कमल, नीवार, कोद्रव (कोदौ), उद्दालक (वनकोद्रव), श्यामाक (सांवक), गेहूँ, वैणव (वेणुयव) और जौ ये शूकधान्यों में उत्तम हैं। एण (काला हरिण), हरिण, कुरङ्ग, मृगमातृका, श्वदंष्ट्रा (कर्कटक), कराल कस्तूरीमृग), क्रकर (क्रकस पक्षी), कबूतर, बटेर, तीतर, कपिञ्जल, वर्त्तीर, वर्तिका—इनका मांस जांगल मृग एवं जांगल पक्षियों में श्रेष्ठ है। मूङ्ग, वनमूङ्ग, मोठ, कलाय (मटर), मसूर, मङ्गल्य (पाण्डुवर्ण मसूर), चना, हरेणु (सतीन का भेद), आढ़की (अरहर), सतीन (वर्तुलक), चिल्ली (खेत का बथुवा), वास्तुक (बथुवा), सुनिषण्णक (चौपतिया), जीवन्ती, तण्डुलीयक (चौलाई), मण्डूकपर्णी—ये वैदल—दालों में तथा शाकों में श्रेष्ठ हैं। स्नेहों में गाय का घी उत्तम है। नमकों में सैन्धव, फलों में आँवला और अनार उत्तम हैं। यह वर्ग सामान्यरूप में सब प्राणियों के लिये हितकारी है ॥५॥

तथा ब्रह्मचर्य्यनिवातशयनोष्णोदकस्नाननिशास्वप्नव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः ॥६॥

आहार को कहकर विहार को कहते हैं। यथा—ब्रह्मचर्य्य निवात शयन (वायु रहित स्थान में सोना), गरम पानी से स्नान, रात्र में सोना और व्यायाम तथा उपस्थित वेगों को न रोकना—ये कार्य पूर्णरूप से हितकारी हैं ॥६॥

एकान्तहितान्येकान्ताहितानि तु प्रागुपदिष्टानि, हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत् पित्तस्यापथ्यमिति ॥७॥

एकान्त हित (पानी आदि) और एकान्त अहित (अग्नि आदि) वस्तुओं को पहिले कह चुके हैं। हितकारी एवं अहितकारी जो वस्तुयें वायु के लिये हैं, वे ही पित्त के लिए अपथ्य हैं ॥७॥

संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति। तद्यथा-वल्लीफलकवककरीराम्लफललवणकुलत्थपिण्याकदधितैलविरोहिपिष्टशुष्कशाकाजाविकमांसमद्यजाम्बवचिलिचिममत्स्यगोधावराहांश्च नैकध्यमश्नीयात् पयसा ॥८॥

अन्य द्रव्य संयोग के कारण विष के समान अहितकारी हो जाते हैं। यथा—वल्लीफल (बेल पर लगानेवाला फल—कूष्माण्ड आदि), कवक (छत्रक), करीर (वंशांकुर), अम्लफल (आम्रातक), लवण, कुलत्थी, पिण्याक (तिलपिष्ट), दही; तैल, आनूप मांस, औदक मांस, विरोहि (जड़ा हुआ धान्य), पिष्ट (पीठी), शुष्कशाक, बकरी या भेड़ का मांस, मद्य, जामुन फल, चिलचिम मत्स्य (सकली) गोधा, वराह—इन वस्तुओं को एक समय में दूध के साथ नहीं खाना चाहिये ॥८॥

रोगं सात्म्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान्।
अवेद्याग्न्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत् ॥९॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि रोग (उदर आदि), सात्म्य (जाति, आतुर, औषध, अन्न, रस, देश, ऋतु, उदक), देश (आनूप आदि), काल (शीत-उष्णवर्षा) देह स्थूल, कृश और मध्य), अग्नि आदि पदार्थों का भी उपयोग करे। यथा—उदर रोग में तिलमात्र विषभक्षण, या कृष्णसर्प से दष्ट में इक्षु का भक्षण भी हितकारी है।

वि० मन्तव्य—सात्म्य-जो शरीर में उपकार के लिये शयन करे लीन-विलीन हो जाय "सात्म्यं नाम तत् यद् आत्मनि उपशेते तत् सात्म्यम्—सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः।" सात्म्य का नाम उपशय भी है और दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है ॥९॥

अवस्थान्तरबाहुल्याद्रोगादीनां व्यवस्थितम्।
द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणे ॥१०॥
द्वयोरन्यतरादाने वदन्ति विषदुग्धयोः।
दुग्धस्यैकान्तहिततां विषमेकान्ततोऽहितम् ॥११॥
एवं युक्तरसेष्वेषु द्रव्येषु सलिलादिषु।
एकान्तहिततां विद्धि वत्स सुश्रुत नान्यथा ॥१२॥

वैद्य को रोग आदि की अवस्था भेद के कारण हित एवं अहित की व्यवस्था को नहीं चाहते। स्वस्थवृत्त में हित एवं अहित का विचार करते हैं, रोग में नहीं करते। दूध और विष इन दोनों के ग्रहण करने में एक को (विष को) एकान्त रूप में अधिकारी कहते हैं। हे सुश्रुत! इस प्रकार दूध की भांति प्रभाव संसिद्ध रसयुक्त सलिल आदि द्रव्यों को एकान्त रूप से हितकारी समझना चाहिये ॥१०–१२॥

अतोऽन्यान्यपि संयोगादहितानि वक्ष्यामः—नवविरूढधान्यैर्वसामधुपयोगुडमाषैर्वा ग्राम्यानूपौदकपिशितादीनि नाभ्यवहरेत्; न पयोमधुभ्यां रोहिणीशाकं जातुकशाकं वाश्नीयात्, बलाकां वारुणीकुल्माषाभ्यां, काकमाचीं पिप्पलीमरिचाभ्यां, नाडीभङ्गशाककुक्कुटदधीनि च नैकध्यं; मधु चोष्णोदकानुपानं; पितेन चाममांसानि; सुराकृशरापायसांश्च नैकध्यं; सौवीरकेण सह तिलशष्कुलीं; मत्स्यैः सहेक्षुविकारान्; गुडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं, गुडेन वाराहं, मधुना च सह विरुद्धं; क्षीरेण मूलकम्, आम्राजाम्बवश्वाविच्छूकरगोधाश्च; सर्वांश्च मत्स्यान् पयसा; विशेषेण चिलिचिमं; कदलीफलं तालफलेन पयसा दध्ना तक्रेण वा; लकुचफलं पयसा दध्ना माषसूपेन वा प्राक् पयसः पयसोऽन्ते वा ॥१३॥

इसके आगे अन्य संयोग से अहितकारी द्रव्यों को कहते है। अकुरित धान्यों के साथ, या वसा, शहद, दूध, गुड़ और उड़दों के साथ ग्राम्य आनूप या औदक (जलचर) मांस नहीं खाना चाहिए। दूध और घी के साथ—रोहिणी शाक या जातुक शाक (पौष्कर शाक) नहीं खाना चाहिये। बलाका (कानावकी) पक्षी को वारुणी (मदिरा) और कुल्माष (अर्द्धस्विन्न गेहूँ आदि) के साथ नहीं खाना चाहिये। काकमाची (मकोय) को पिप्पली एवं कालीमिरचों के साथ, नाड़ीपल्लव, शाक, कुक्कुट और दही को एक साथ नहीं खाना चाहिये। शहद को गरम अनुपान के साथ, पित्त को कच्चे मांस के साथ; सुरा, कृशरा (तिल-तण्डुल माष से बनी) और पायस (खीर) को एक साथ नही खाना चाहिए। सौवीरक (काञ्जी) के साथ तिल की पूरी को, मछलियों के साथ गन्ने के रस से बनी वस्तुओं को, गुड़ के साथ मकोय को, मधु के साथ मूली को, गुड़ के साथ वराह को (कहीं २ दूध के साथ वराह को-ऐसा पाठ है), और मधु के साथ विरुद्ध आहार को न खाये, ये विरुद्ध हैं। दूध के साथ मूली, आम, जामुन, श्वावित्, शूकर और गोह को, सब मछलियों को खासकर चिलिचिम मत्स्य को नहीं खाना चाहिए। केले के फल को तालफल, दूध, दही या छाछ के साथ, लकुच (बड़हल) को दूध, दही, या उड़द की दाल अथवा दूध से पूर्व या दूध के पीछे नहीं खाना चाहिये ॥ १३ ॥

अतः कर्मविरुद्धान् वक्ष्यामः—कपोतान् सर्षपतैलभृष्टान्नाद्यात्; कपिञ्जलमयूरलावतित्तिरिगोधाश्चैरण्डदार्व्यग्निसिद्धा एरण्डतैलसिद्धा वा नाद्यात्, कांस्यभाजने दशरात्रपर्युषितं सर्पिः, मधु चोष्णैरुष्णे वा, मत्स्यपरिपचने शृङ्गवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीं, तिलकल्कसिद्धमुपोदिकाशाकं नारिकेलेन वराहवसापरिभृष्टां बलाकां, भासमङ्गारशूल्यं, नाश्नीयादिति ॥ १४ ॥

अब कर्मविरुद्ध द्रव्यों को कहते हैं—सरसों के तेल में भूने कबूतर नहीं खाने चाहिए। एरण्ड की लकड़ियों की अग्नि में कपिञ्जल, मोर, बटेर, तीतर, गोधा-इनका मांस नहीं खाना चाहिये। अथवा एरण्डतैल में सिद्ध इन पशु-पक्षियों का मांस नहीं खाना चाहिये। कांसे के पात्र में दस दिन का रक्खा घी नहीं खाना चाहिये। उष्णवीर्य पदार्थों के साथ या उष्णकाल (ग्रीष्म एवं शरद्) में मधु नहीं खाना चाहिये। जिस पात्र में मछलियाँ या सोंठ पकाई हो उस पात्र में सिद्ध काकमाची (मकोय) नहीं खानी चाहिये। उपोदिका के शाक को तिलकल्क में सिद्ध करके नहीं खाना चाहिये। वराह की वसा में भूने बलाका पक्षी को नारियल के साथ, भास पक्षी को शूल से बींधकर अङ्गारों में पकाकर नहीं खाना चाहिये।

वि० मन्तव्य—कर्मविरुद्ध—कर्म अर्थात् संस्कार। पकाना-भूनना तलना आदि। तथा रखना-रख छोड़ना, अन्य पदार्थवाले भाण्ड में अन्य पदार्थ बनाना-पकाना आदि कर्म कहलाता है। कर्म के प्रभाव से जो द्रव्य अहित हो जाते हैं वे "कर्मविरुद्ध" कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अतो मानविरुद्धान् वक्ष्यामः—मध्वम्बुनी मधुसर्पिषी मानतस्तुल्ये नाश्नीयात्, स्नेहौ मधुस्नेहौ जलस्नेहौ वा विशेषादान्तरीक्षोदकानुपानौ ॥ १५ ॥

इसके आगे मानविरुद्ध द्रव्यों को कहते हैं-शहद और पानी, शहद और घी—इनको समान वजन में नहीं खाना चाहिये, मधु और स्नेह, एवं जल और स्नेह को (खासकर वर्षा के पानी के साथ) एक समान तोल में नहीं खाना चाहिये।

वि० मन्तव्य—मानविरुद्ध-मान-परिमाण तौल के कारण जो विरुद्ध अर्थात् अहित हो जाते हैं वे मानविरुद्ध कहे जाते हैं। यह आहार रूप में भरपेट नहीं खाने चाहिये, औषध के अनुपान एवं थोड़ी मात्रा में खाने में कोई हानि नहीं होती, अतएव सितोपलादि चूर्ण आदि में मधुघृत का अनुपान लिखा है, और यदि थोड़ी मात्रा में १-१ तो० मधु घृत समान मात्रा में भी खाया जाता है तो उरःक्षत आदि में लाभ करता है तथा रक्त पित्त में भी। चरक में भी आहार के अधिकरण में इसका उल्लेख किया गया है। देखिये च० सू० अ० २६ का सूत्र ८७-८९ ॥ १५ ॥

अत ऊर्ध्वं रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यतो विपाकतश्च विरुद्धानि वक्ष्यामः—तत्र मधुराम्लौ रसवीर्यविरुद्धौ मधुरलवणौ च, मधुरकटुकौ च सर्वतः, मधुरतिक्तौ रसविपाकाभ्यां मधुरकषायौ च, अम्ललवणौ रसतः, अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम्, अम्लतिक्तावम्लकषायौ च सर्वतः, लवणकटुकौ रसविपाकाभ्यां, लवणतिक्तौ लवणकषायौ च सर्वतः, कटुतिक्तौ रसवीर्याभ्यां कटुकषायौ च तिक्तकषायौ रसतः ॥ १६ ॥

इसके आगे रस, वीर्य-और विपाक में विरुद्धद्रव्यों को कहते हैं। यथा—मधुर और अम्ल-रस वीर्यविरुद्ध हैं मधुर-लवण, और मधुर-कटुक, रस-वीर्य-विपाक तीनों से परस्पर विरुद्ध हैं। मधुर-तिक्त, रस एवं विपाक में, मधुर-कषाय और अम्ल-लवण रस में, अम्ल-कटु, रस और विपाक में, अम्ल-तिक्त और अम्ल-कषाय, रस वीर्यविपाक में, लवण-कटु रस और विपाक में, लवण-तिक्त और लवण-कषाय रस वीर्य विपाक में, कटु-तिक्त-रसवीर्य में, कटु-कषाय और तिक्त-कषाय रसमें परस्परविरुद्ध है।

वि० मन्तव्य—ये रस, वीर्य, विपाक के कारण विरुद्ध-अहित हो जाते हैं। यह सब भी अधिक मात्रा में ही विरुद्ध होते हैं, क्योंकि—मधुर कषाय (गुड़ एवं हरड़) अम्ललवण (अचार, चटनी) लवण कषाय लवण एवं हरड़ के योग आदि २ खाये ही जाते हैं, परन्तु—विरुद्ध नहीं, अपितु हित होते हैं ॥ १६ ॥

तरतमयोगयुक्तांश्च भावानतिस्निग्धानतिरूक्षानत्युष्णानतिशीतानित्येवमादीन् विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

तर-तम योग से युक्त अतिरूक्ष, अतिस्निग्ध, अति उष्ण, अतिशीत,—इस प्रकार के पदार्थों का परित्याग कर देना चाहिए। यथा—भैंस का दूध गाय के दूध से अधिक स्निग्ध है। इसलिए स्वस्थ एवं समाग्नि पुरुष के लिए त्याज्य और तीक्ष्णाग्नि पुरुष के लिए सेव्य है ॥ १७ ॥

भवति चात्र—

विरुद्धान्येवमादीनि वीर्यतो यानि कानिचित्।
तान्येकान्ताहितान्येव शेषं विद्याद्धिताहितम् ॥ १८ ॥

कहा भी है—

इस प्रकार से अन्य जो भी द्रव्य वीर्य से, गुणों से (२० गुण) तथा रस से विरुद्ध हों, वे सब पूर्णरूप में अहितकारी हैं। इसके विरुद्ध जो शेष द्रव्य (माषादि) हैं, उनको हितकारी तथा अहितकारी दोनों प्रकार का समझना चाहिए। कोई द्रव्य दोष का प्रकोपक है और कोई द्रव्य दोष की शान्ति करता है[1] ॥ १८ ॥

व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति।
विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानोऽनात्मवान्नरः ॥ १९ ॥

अजितेन्द्रिय मनुष्य रस, वीर्य, विपाकविरुद्ध द्रव्यों का एक साथ सेवन करने से व्याधि (षाण्ढ्य, अन्धत्व, वीसर्प आदि), इन्द्रियदौर्बल्य (निर्बलता) अथवा मृत्यु को प्राप्त करता है ॥

यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत्।
रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते ॥ २० ॥

कुछ भी खाया हुआ पदार्थ जो कि दोषों को प्रकुपित करके (मैनफल या त्रिवृत की भांति ऊर्ध्व या अधः मार्ग द्वारा) शरीर से बाहर नहीं निकलता, वह पदार्थ रोगोत्पत्ति करता है अथवा रस आदि धातुओं में विकार उत्पन्न करता है। पदार्थ दो प्रकार के हैं। एक—दोषों को (वातादि को) दूषित करनेवाले, दूसरे—रसादि धातुओं को विकृत करनेवाले ॥ २० ॥

विरुद्धाशनजान् रोगान् प्रतिहन्ति विरेचनम्।
वमनं शमनं वाऽपि पूर्वं वा हितसेवनम् ॥ २१ ॥

चिकित्सासूत्र—

विरुद्ध भोजन से उत्पन्न रोगों को प्रत्यनीक विरेचन नष्ट करता है, (कुष्ठ व्याधि के विरुद्ध दिया विरेचन विरुद्ध भोजन से उत्पन्न कुष्ठ को नष्ट करता है, इसी प्रकार से प्रत्येक रोग के विरुद्ध विरेचन देना चाहिए)। वमन या शमन क्रिया तथा हितकारी पदार्थों का पूर्वकालीन सेवन रोगों को नष्ट करता है। बलवान् पुरुष में वमन और विरेचन देना चाहिए। निर्बल के लिये शमन चिकित्सा करनी चाहिये। स्वर्णलोहादि रसायन का प्रथम सेवन करना भी रोगों से बचाता है[1] ॥ २१ ॥

सात्म्यतोऽल्पतया वाऽपि दीप्ताग्नेस्तरुणस्य च।
स्निग्धव्यायामबलिनां विरुद्धं वितथं भवेत् ॥ २२ ॥

निम्न अवस्थाओं में विरुद्ध भोजन भी निष्फल हो जाता है। यथा—सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल हो जाने) से, मात्रा में अल्प होने से, और तरुण पुरुष की अग्नि के दीप्त होने से, स्निग्ध द्रव्यों के सेवन से बलवान् बने या व्यायाम से बलवान बने पुरुष में विरुद्ध भोजन भी निष्फल होता है ॥ २२ ॥

अथ वातगुणान् वक्ष्यामः—

पूर्वः समधुरः स्निग्धो लवणश्चैव मारुतः।
गुरुर्विदाहजननो रक्तपित्ताभिवर्धनः ॥ २३ ॥
क्षतानां विषजुष्टानां व्रणिनः श्लेष्मलाश्च ये।
तेषामेव विशेषेण सदा रोगविवर्धनः ॥ २४ ॥

---

१ चरक में यह विषय बहुत विस्तार से दिया है—यथा—
यत्किंचिद्दोषमास्राव्य न निर्हरति कायतः।
आहारजातं तत् सर्वमहितायोपपद्यते ॥
यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः।
संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥
परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च।
विरुद्धं तच्च न हितं हृत्सम्पद्विधिभिश्च यत् ॥
च० सू० अ० २६

१ शमन का लक्षण—
'न शोधयति यद् दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् तत् संशमनमुच्यते ॥ चरक ॥
जिस प्रकार कमल के पत्ते पर पानी नहीं लगता इसी प्रकार स्वर्णभक्षण से विषप्रभाव नहीं करता।
"न सज्यते हेमपाङ्गे विषं पद्मदलेऽम्बुवत्"
षाण्ढ्यविसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।
मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव ॥
किलासकुष्ठग्रहणीगदानां शोथाम्लपित्तज्वरपीनसानाम्।
सन्तानदोषस्य तथैव मृत्योः विरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम् ॥
एषां खल्वपरेषां च वैरोधिकनिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः प्रतिकरा भवन्ति। यथा—वमनं विरेचनं च, तद्विरोधिनां च द्रव्याणां संशमनार्थमुपयोगः तथाविधैश्च द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति ॥ चरक सू० अ० २६ ॥

वातलानां प्रशस्तश्च श्रान्तानां कफशोषिणाम् ।
तेषामेव विशेषेण व्रणक्लेदविवर्धनः ॥२५॥
मधुरश्चाविदाहो च कषायानुरसो लघुः ।
दक्षिणो मारुतः श्रेष्ठश्चक्षुष्यो बलवर्धनः ॥२६॥
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपणः ।
विशदो रूक्षपरुषः खरः स्नेहबलापहः ॥२७॥
पश्चिमो मारुतस्तीक्ष्णः कफमेदोविशोषणः ।
सद्यः प्राणक्षयकरः शोषणस्तु शरीरिणाम् ॥२८॥
उत्तरो मारुतः स्निग्धो मृदुर्मधुर एव च ।
कषायानुरसः शीतो दोषाणां चाप्रकोपणः ॥२९॥
तस्माच्च प्रकृतिस्थानां क्लेदनो बलवर्धनः ।
क्षीणक्षयविषार्तानां विशेषेण तु पूजितः ॥३०॥

दिशा के योग से वायु की हितकारिता, अहितकारिता कहते हैं—(दक्षिण और उत्तर की वायु दोषहर होने से हितकारी है, पूर्व और पश्चिम की वायु अहितकारी है)।

पूर्व की वायु मधुर, स्निग्ध, लवण रस, गुरु, विदाहजनक, रक्त पित्त को बढ़ानेवाली, क्षतरोगी, विषरोगी, व्रणी, कफ प्रकृति मनुष्यों में विशेषकर रोग को बढ़ानेवाली है। दक्षिण दिशा की वायु—वात प्रकृतिवालों के लिये, श्रान्त एवं अतिशय कफ क्षीण हुए पुरुषों के लिये उत्तम है। इन पुरुषों के व्रणों में क्लेद आर्द्रता को विशेष रूप में बढ़ाती है। मधुर, अविदाही, कषाय अनुरस, लघुगुण, आँखों के लिये हितकारी एवं बलवर्धक है। पश्चिम की वायु—रक्त-पित्त को शान्त करनेवाली, वात प्रकुपित नहीं करती। विशद, रूक्ष, परुष, खर (प्रचण्ड वेग), स्नेह एवं बल का नाश करनेवाली, तीक्ष्ण, कफ-मेद को सुखानेवाली, रोगी के बल का शीघ्र क्षय करनेवाली, पुरुष को सुखानेवाली है। उत्तर दिशा की वायु—स्निग्ध, मधुर, कोमल, कषाय-अनुरस, शीतल, दोषों को प्रकुपित नहीं करती है। इसलिये स्वस्थ पुरुषों के लिये बलवर्धक, क्लेदन करनेवाली है, एवं क्षीण (रक्त-मांस से क्षीण), क्षय रोगी तथा विषरोगियों के लिये विशेषतः हितकारी है।

वि० मन्तव्य—लङ्का, उज्जयनी तथा कुरुक्षेत्र आदि को स्पर्श करती हुई जो रेखा उत्तर मेरु तक जाती है वह भूमण्डल की मध्य रेखा कही जाती है। यह दक्षिण से उत्तर गई है और जो रेखा कर्क राशि (भारत में विन्ध्याचल श्रेणि) को स्पर्श करती हुई समस्त भूमण्डल पर परिधि (मेखला) बनती है वह विषुवत् रेखा कही जाती है। यह पूर्व से पश्चिम दिशा को जाती है। पूर्व दिशा वह है जिधर सूर्योदय होता है। अब पाठक दिशाओं को समझ सकते हैं। इन दिशाओं का प्रभाव प्राणियों पर पड़ता है। क्षीणक्षय""""पूजितः—क्षय रोगियों के सिनिटोरियम तथा कुत्ता आदि के विषविनाशार्थ रुग्णालय विशेषरूप से हिमालय प्रदेश में क्यों बनाये जाते हैं, पाठक स्वतः विचार करें ॥२२-३०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने हिताहितीयो नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथातो व्रणप्रश्नमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'व्रण प्रश्न'[1] नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—व्रण की परिभाषा जानने के लिये किया गया है प्रश्न जिसमें वह अध्याय। इसका उत्तर श्लोक ४० में दिया गया है ॥१,२॥

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाऽव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥३॥

शरीर की उत्पत्ति में कारण वात, पित्त, कफ ही हैं ये ही तीनों अपनी प्रकृति में स्थित होकर (क्रमशः), नीचे, मध्य में और ऊपर रहकर इस शरीर को धारण करते हैं, जिस प्रकार कि एक घर को तीन स्तम्भ धारण करते हैं। इसलिये कुछ आचार्य इन को 'त्रिस्थूण' शब्द से कहते हैं। ये ही तीनों विकृतावस्था में शरीर के नाश का कारण बनते हैं। संभव (उत्पत्ति), स्थिति, एवं प्रलय में शरीर–इन वात-पित्त-कफ और चौथे रक्त से संयुक्त रहता है[2] ॥३॥

भवन्ति चात्र—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥४॥

न तो कफ के बिना, न पित्त के बिना, न वायु के बिना और न रक्त के बिना—यह शरीर होता है, अपितु ये चारों संयुक्त होकर ही शरीर को धारण करते हैं। (सुश्रुत में शल्य का विषय होने से और शल्य का सम्बन्ध रक्त से होने के कारण उसे भी इसमें मिला दिया है। चरक में तीन ही प्रकृतियाँ कही हैं—देखिये विमान, अध्याय ८।१५) ॥४॥

---

१ वृण शब्द से वात आदि कहे जाते हैं, क्योंकि ये ही वृण को उत्पन्न करते हैं।

२ आचार्यों ने कहा भी है—
'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान्-यो वै वेद स वेदवित् ॥'

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोः, इति धातुः, 'तप' संतापे, 'श्लिष' आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥५॥

निरुक्ति—वात शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' इस धातु से 'त' औणादिक प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसलिये वात का अर्थ गति से है, यह गति चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो। पित्तशब्द—'तप सन्तापे' इस धातु से त के स्थान में इत् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसलिये शरीर में जो भी उष्णिमा है। वह सब पित्त है। श्लेष्मा शब्द—'श्लिष-आलिंगने' इस धातु के साथ मनिन् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसलिये संश्लेषण रूपी कार्य कफ का है। चरक में कहा भी है—सर्वा हि चेष्टा वातेन, पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणा मुपजायते।'

वि० मन्तव्य—वात, पित्त एवं कफ की महिमा का वर्णन च० सू० अ० १२ में देखिये—वायु गति करता रहता है, फलतः शरीर में गति होती रहती है अर्थात् शरीर में जितनी या जितने प्रकार की गतियाँ होती हैं उन सबका कारण वायु है। पित्त—शरीर के सन्ताप, ऊष्मा-गर्मी का हेतु पित्त है, पित्त का नाम "मायु" भी है जो "डु मिञ् प्रक्षेपणे" धातु (स्वादि गणीय) से बनता है। इसका अर्थ है 'मिनोति देहे ऊष्माणं' अर्थात् जो देह में ऊष्मा को फेंकता-फैलता है—व्याप्त करता है। कफ-कं जलम्, केन जलेन फणति-निष्पद्यते इति कफः—जो जल से उत्पन्न होता है, बढ़ता है। यह श्लेष्मा का पर्याय है। संश्लेषण—सटाना, जोड़ना, चिपकाना, चिपकना आदि कार्य कफ का है। कफ का दूसरा अर्थ है—के शिरसि फणति इति कफः, कं शिरः। शोणित—यह शब्द "शोणृ-वर्णगत्योः" धातु से निष्पन्न होता है। जो रंगा गया—रस को रंगकर रक्त बनाया गया है और गति करता रहता है उसका नाम शोणित है ॥५॥

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमाशयः श्लेष्मणः ॥६॥

इसके आगे दोषों के स्थानों को कहते हैं। इनमें संक्षेप से वायु का स्थान—श्रोणि (कटि) और गुदा है। श्रोणि और गुदा के ऊपर और नाभि के नीचे पक्वाशय का स्थान है। पित्त का स्थान-पक्वाशय का और आमाशय के बीच में पित्त का स्थान है। कफ का स्थान—आमाशय है। (चरक में यह विषय—सूत्रस्थान अध्याय २०।८ में दिया है)।

वि० मन्तव्य—पक्वामाशयमध्यं—पक्व—सर्वथा परिपक्व अर्थात् द्रव मल—केवल मूत्र-पूरीषमय मल का आशय (मलाशय) कहलाता है और आम—सर्वथा आम अपक्व (भोजन-आहार भुक्त द्रव्य) का आशय आमाशय कहलाता है। उक्त दोनों का मध्य—मध्यवर्ती अवयव "पक्वाऽऽमाशय" कहलाता है, जिसे क्षुद्रान्त्र (पतला अन्त्र—अन्तड़ी) कहते हैं। पाचक पित्त का कर्मक्षेत्र यही है और पाचक पित्त ही प्रधान पित्त है, वही सब पित्तों को बल देता है ॥६॥

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते। तत्र वातस्य वातव्याधौ वक्ष्यामः; पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च; श्लेष्मण उरः शिरः कण्ठो जिह्वामूलं सन्धय इति पूर्वोक्तं च; एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ॥

इसके आगे इनको पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। यथा-वात का पाँच प्रकार से विभाग वातव्याधि में कहेंगे। पित्त का—यकृत्, प्लीहा, हृदय, दृष्टि—(कृष्ण तारका के अन्दर रहनेवाली मसूर दल मात्रा), त्वचा एवं पूर्वोक्त स्थान पित्त का है। कफ का स्थान उर, शिर, कण्ठ, जिह्वामूल, सन्धियाँ और पूर्वोक्त आमाशय हैं। ये प्रकृतिस्थ दोषों के स्थान हैं।

वि० मन्तव्य—दृष्टि—समस्त नेत्र अथवा विशेषतः आधुनिकों का "पीतबिन्दु"। देखिये 'हमारे शरीर की रचना' नेत्रप्रकरण) ॥७॥

भवति चात्र—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥८॥

जिस प्रकार चन्द्रमा, सूर्य और वायु ये तीनों विसर्ग, आदान एवं विक्षेप इन कार्यों से जगत् का धारण करते हैं, उसी प्रकार कफ, पित्त वायु अपने कार्यों से इस शरीर का धारण करते हैं ॥८॥

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः ? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति; क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥९॥

यहाँ पर सन्देह है कि—क्या पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर में है—या नहीं अथवा पित्त ही अग्नि है। इसका उत्तर यह है कि—पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर में नहीं मिलती। क्योंकि—आग्नेय होने से तथा पित्त के दहन (जलाना), पचन (पकाना), आदि (रञ्जन-दर्शन) कार्य होने से पित्त में अग्नि के समान व्यवहार होता है। पित्त ही अन्तराग्नि है। पित्त के क्षीण होने पर अग्नि

गुणवाले-अग्नि के समान उष्ण द्रव्यों का उपयोग होता है। पित्त के अधिक बढ़ने पर शीतक्रिया का उपयोग होता है। आगम समस्त आयुर्वेद शास्त्र से भी ज्ञात है कि-पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि इस शरीर में नहीं मिलती ॥९॥

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा, यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स च रसस्य रागकृदुक्तः यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः, यद् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः, यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः ॥१०॥

प्राक्तन कर्मों के कारण पक्वाशय और आमाशय के मध्य भाग में स्थित पित्त-चार प्रकार के अन्न (भक्ष्य, लेह्य, चोष्य, पेय) को पचाता है। उसमें से दोष, रस, मूत्र और मल को पृथक् करता है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित रहकर ही अपनी शक्ति से शेष पित्तस्थ पित्तों का और अग्नि (उष्णिमा) कर्म से शरीर का उपकार करता है, इसी पित्त को 'पाचक अग्नि' कहते हैं। और जो पित्त यकृत् एवं प्लीहा में है, उसको 'रञ्जक अग्नि' कहते हैं। क्योंकि यह रस में राग (रङ्ग) उत्पन्न करता है। और जो पित्त हृदय में स्थित है, उसको 'साधक अग्नि' कहते हैं, क्योंकि यह अभिप्रार्थित-मनोरथों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूपी पुरुषार्थ) को सिद्ध करता है। जो पित्त दृष्टि में है उसको 'आलोचक अग्नि' कहते हैं, क्योंकि इसके द्वारा ही रूप का ग्रहण होता है। और जो पित्त त्वचा में है उसको 'भ्राजक अग्नि' कहते हैं। यही अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन, अवलेपन आदि क्रिया द्रव्यों का पाक करती है (शरीर में विलेपन करती है) और छाया एवं प्रभा को प्रकाशित करती है[1]।

वि० मन्तव्य—साधक अग्नि-पित्त—हृदि तिष्ठति यत् शुद्धं रक्तं ईषत् सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशाद् ना विनश्यति ॥ च० सू० अ० ७, श्लो० ७४। अर्थात् हृदय में जो शुद्ध—स्वच्छ कुछ लाल एवं कुछ पीला (लाल पीला सा) पदार्थ रहता है वह "ओजस्" है, यही साधक पित्त है। 'साधयति अभिप्रार्थितमनोरथान् इति साधकम्।' ओजस्वी मानव ही कार्य साधन में समर्थ होता है ॥१०॥

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥११॥

पित्त के लक्षण—पित्त-तीक्ष्णगुण (राई मिर्च के समान), द्रव, पूति (सड़ी गन्धवाला), नील (सामावस्था में), पीत (निरामावस्था में), उष्ण, कटुरस (प्रकृतिस्थ रूप में), और विदग्धावस्था में अम्ल है ॥११॥

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात्तेजसः, चन्द्र इव आदित्यस्य, चतुर्विधस्याहारस्याधारः, स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरो भवति ॥१२॥

इसके आगे कफ के स्थानों को कहते हैं—आमाशय पित्ताशय के ऊपर स्थित है। क्योंकि कफ का स्वभाव पित्त के विरुद्ध है एवं पित्त अग्नि गुण होने से ऊर्ध्वगामी है, पानी अधोगामी होने से अग्नि को शान्त करता है, इसलिये आमाशय पित्ताशय के ऊपर स्थित है, जिस प्रकार कि चन्द्रमा सूर्यमण्डल से ऊपर स्थित है[1]। यह आमाशय चारों प्रकार के आहार का आधार है और यह चार प्रकार का आहार पानी के द्रवस्नेह आदि गुणों के कारण आर्द्र बनकर टुकड़े-टुकड़े होकर सुगमता से पचने योग्य हो जाता है।

वि० मन्तव्य—आधुनिक-आमाशयिक रसों को भी पाचक रस कहते हैं, परन्तु आयुर्वेद—उनको क्लेदक कफ मानता है। दोनों कथनों में सम्यक् क्या है पाठक विचार करें। मुख की लाली भी क्लेदक कफ ही है, देखिये सू० ३ पाचक रस पैत्तिकरस को ही कहना चाहिये ॥१२॥

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥१३॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति, उरःस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति, जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने

---

१ जिस प्रकार कि एक ही देवदत्त अपने कार्यभेद से अनेक नामोंवाला (रसोईया, फोटोग्राफर, अध्यापक, बढ़ई) बन जाता है, उसी प्रकार एक ही दोष अपने कार्य एवं स्थानभेद से पाँच प्रकार का हो जाता है।

१ विष्णुपुराण में कहा है कि—चन्द्रमण्डल सूर्यमण्डल से ऊपर है। यथा—

"भूमेर्योजनलक्षे तु सौरं मैत्रेयमण्डलम्।
लक्षाद्दिवाकरस्यापि मण्डलं शशिनः स्थितम् ॥"

चरक में भी इसको स्पष्ट किया है। यथा—

"एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥"

वर्तते, शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणानुग्रहं करोति, सन्धिस्थः श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति ॥१४॥

पानी (कफ) के गुण—आहार के मधुर, पिच्छिल, क्लिन्न होने से, मधुर-शीतल कफ आमाशय में उत्पन्न होता है। आमाशय में स्थित यह कफ शेष श्लेष्मास्थानों में स्थित श्लेष्मा का तथा क्लेदन-पूरण आदि उदक के कार्यों से शरीर का उपकार करता है। उर में स्थित कफ अपने प्रभाव से त्रिक (पृष्ठवंश का अधोभाग) का सन्धारण करता है। अन्न रस के साथ मिलकर हृदय का अवलम्बन करता है—(ओज)। जिह्वामूल और कण्ठ प्रदेश में स्थित कफ—रसेन्द्रिय के सौम्य होने से रस ज्ञान में भली प्रकार कारण बनता है। शिर में स्थित कफ स्नेहन और संतर्पण रूपी कार्य करने से—अपने प्रभाव द्वारा इन्द्रियों का उपकार करता है। सन्धियों में स्थित कफ सब सन्धियों का जोड़ने से सब सन्धियों का उपकार करता है।

वि० मन्तव्य—"माधुर्यात्....शीतलः" का अर्थ—आमाशय में गया हुआ आहार—मीठा हो जाने से, पिच्छिल हो जाने से तथा आर्द्रता कारक हो जाने से आमाशयिक रस कफ ही हो सकता है, क्योंकि वह मधुर एवं शीतल है। यदि भोजन करते ही छर्दि होती है और वह मीठी एवं पिच्छिल (चिपचिपी) होती है तो समझा जाता है कि छर्दि का वेग केवल आमाशय से ही हुआ है। उसमें पित्त का मिश्रण नहीं हुआ है और आहार गत, कफवर्द्धक उपादान कफ की वृद्धि करते हैं, अतः जितना कफ आहार को आर्द्र करने में व्यय होता है उसकी क्षतिपूर्त्ति भी साथ-साथ हो जाती है ॥१३,१४॥

भवति चात्र—

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद्विदग्धो लवणः स्मृतः ॥१५॥

कहा भी है—

श्लेष्मा—कफ श्वेत, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, शीत, मृदु, स्थिर और अपक्व अवस्था में मधुररस है। विदग्धपक्वश्लेष्मा लवण रस है (अथवा प्रकृतिस्थ कफ मधुर रस है और विकृतिस्थ कफ लवण रस है) ॥१५॥

शोणितस्य स्थान यकृत्प्लीहानौ, तच्च प्रागभिहितं, तत्रस्थमेव शेषाणां शोणितस्थानानामनुग्रहं करोति ॥१६॥

रक्त के स्थान यकृत् और प्लीहा हैं, यह पहिले कह चुके हैं। अपने इन स्थानों में रहकर ही रक्त अन्य रक्त स्थान में स्थित रक्त का उपकार करता है ॥१६॥

भवति चात्र—

अनुष्णशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः।
शोणितं गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥१७॥

कहा भी है—

रक्त, अनुष्ण शीत (साधारण), मधुर, स्निग्ध, रङ्ग में लाल, गुरु, विस्र (आमगन्धि) है। पित्त के समान इसका विदाह है। जिस प्रकार और जिन वस्तुओं से पित्त विदग्ध होता है, उसी प्रकार और उन्हीं वस्तुओं से रक्त भी विदग्ध होता है ॥१७॥

एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु संचीयन्ते दोषाः। प्राक् संचयहेतुरुक्तः। तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र प्रथमः क्रियाकालः ॥१८॥

इन उपर्युक्त स्थानों में वात आदि दोषों का सञ्चय होता है। दोषों के सञ्चय के कारण ऋतुचर्य्या-अध्याय में पहिले कह दिये हैं। इन संचित दोषों में—कोष्ठ का स्तब्ध (जड़) होना और पूर्ण (आध्मान) होना—वायु का, पीलापन दिखाई देना (नेत्र-त्वचा-मल में)—पित्त का, उष्णिमा का कम होना, और अङ्गों में भारीपन एवं आलस्य का होना कफ का लक्षण है। एवं संचय के कारणों में द्वेष होना—तीनों दोषों का लक्षण है। यह वातादि दोषों के लिये प्रथम कार्य का समय है ॥१८॥

अत ऊर्ध्वं प्रकोपणानि वक्ष्यामः। तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातलङ्घनप्लवनप्रतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाकवल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनावारमुद्गमसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारवाष्पवेगविघातादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥१९॥

इसके आगे दोषों के प्रकोपक कारणों को कहते हैं। यथा—बलवान् मल्लों के साथ मल्लयुद्ध करना, अतिव्यायाम, अति स्त्री-सेवन, अति अध्ययन, गिरना, दौड़ना, बहुत दबाना, चोट लगना, लङ्घन, कूदना, नदी में तैरना, रात में जागना, भार का उठाना, हाथी-घोड़ा-रथ पर सवारी या पैदल बहुत चलना (सवारी करना), कटु-कषाय-तिक्त, रूक्ष, लघु, शीतवीर्य भोजनों का खाना, शुष्क मांस, वरक (कुधान्य-बरटिका), उद्दालक (जङ्गली कोदों), कोरदूष—श्यामाक (सांवक), नीवार (प्रसाधिका), मूङ्ग, मसूर, अरहर, हरेणु (मटर), कलाय, निष्पाव (राजशिम्बी), इनका खाना, उपवास, विषमाशन, अध्यशन (खाने पर खाना), वायु-मूत्र-मल-शुक्र-छर्दि-छींक-उद्गार-आंसू के उपस्थित वेगों को रोकने (काम-भय आदि) से वायु कुपित होती है ॥१९॥

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः।
प्रत्युषस्यपराह्णे च जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यति ॥२०॥

वायु शीतकाल में, बादलों के आनेपर जोर की वायु चलने पर, वर्षा काल में-विशेषकर, कुपित होती है। उषाकाल में, अपराह्ण (तीसरे पहर में) और अन्न के जीर्ण होने पर वायु कुपित होती है ॥ २० ॥

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिलतैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसिहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ २१ ॥

निम्न कारणों से पित्त प्रकुपित होता है—क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, आहारादिजन्य विदाह, मैथुन, कटु-अम्ल-लवण-तीक्ष्ण-उष्ण लघु विदाही (खट्टे डकार आयें, दाह-प्यास लगे और जो कठिनाई से जीर्ण हो—पदार्थ विदाही), तिल का तेल, पिण्याक, कुलत्थी, सरसों, अलसी, हरितशाक, गोधा मछली, बकरी-भेंड़ का मांस, स्नेह युक्त दधि, तक्र, कूर्चिका (विग्रथित-फटी छाछ), मस्तु, सौवीरक (कांजी), सुरा विकार (सब मद्य), अम्ल फल (आम्रातक कमरख आदि), कट्वर (स्नेह रहित दधि), चुक्र आदि से पित्त प्रकुपित होता है ॥२१॥

तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषतः।
मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति ॥ २२ ॥

उष्ण द्रव्यों के सेवन से, ग्रीष्मऋतु में, शरद्ऋतु में, मध्याह्न में, आधी रात में तथा भोजन के पचने के समय पित्त प्रकुपित होता है ॥२२॥

दिवास्वप्नाऽव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषधेत्कटमाषमहामाषगोधूमतिल-पिष्ट-विकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाबिसमृणालकसेरुकशृङ्गाटकमधुरवल्ली-फलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥ २३ ॥

निम्न कारणों से कफ कुपित होता है। यथा—दिन में सोने से, व्यायाम न करने से, आलस्य, मधुर-अम्ल-लवण-शीत स्निग्ध-गुरु-पिच्छिल, अभिष्यन्दि भोजनों से, हायनक (धान्य विशेष) यवक (शूकधान्य विशेष), नैषध, इत्कट (धान्य विशेष), माष, राजमाष, गेहूँ, तिल-पिष्ट (तिलकुट), पिष्ट-विकृति, दही, दूध, कृशरा (तिल तण्डुल-माष से बनी यवागू), खीर, गन्ने से बने पदार्थ, आनूप-मांस-वसा, औदक प्राणियों का मांस-वसा, बिस (मिस), मृणाल (पद्ममूल), कसेरू, सिंघाड़ा, मधुरफल (ताड़ नारियल आदि), वल्लीफल (अलाबु आदि), समशन (हित-अहित वस्तुओं का खाना), अध्यशन (अजीर्ण में भोजन करना),—इनसे कफ प्रकुपित होता है ॥२३॥

स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः।
पूर्वाह्णे च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति ॥ २४ ॥

शीतल द्रव्यों से, शीतकाल और वसन्त में, पूर्वाह्ण में, और रात्रि के प्रथम पहर में तथा भोजन करते ही कफ कुपित होता है ॥२४॥

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ॥ २५ ॥

निम्न कारणों से रक्त कुपित होता है। पित्त प्रकोप के कारणों से एवं बार-बार द्रव, स्निग्ध, गुरु भोजनों के सेवन से, दिन में सोने से, क्रोध, आग, धूप, श्रम, चोट के लगने से, विरुद्ध भोजन, अध्यशन आदि कारणों से रक्त कुपित होता है ॥ २५ ॥

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥ २६ ॥

रक्त विना दोषों के—स्वतन्त्र रूप में कभी प्रकुपित नहीं होता। रक्त के प्रकोप में दोष के अनुसार समय समझना चाहिये। (वात से दूषित रक्त—वातप्रकोपकाल में कुपित होता है, पित्त के दूषित रक्त—पित्त प्रकोपकाल में, कफ से दूषित रक्त कफप्रकोपकाल में कुपित होता है) ॥ २६ ॥

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लिकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः ॥ २७ ॥

इन दोषों के प्रकोप से कोष्ठ में पीड़ा, संचरण (परिभ्रमण-वायु के लक्षण), अम्लिका (अम्लोद्गार), पिपासा, परिदाह (जलन—पित्त के लक्षण), अन्न में विद्वेष, हृदयोत्क्लेद (हृल्लास—कफ के लक्षण) उत्पन्न होते हैं। यह दूसरा क्रियाकाल है ॥ २७ ॥

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः—तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये। स हि रजोभूयिष्ठः, रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। यथा—महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति। तद्यथा-वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानीति, एवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥२८॥

इसके आगे दोषों का प्रसार कहते हैं—

जिस प्रकार किण्व (सुराबीज), पिष्ट (तण्डुलपिष्ट) और पानी के मिश्रण में एक रात रखने पर—उफान आता है उसी

प्रकार उपर्युक्त कारणों से कुपित हुए दोषों का प्रसर होता है। अचेतन होने पर भी वायु ही इन सब में गति का कारण है, क्योंकि वायु में ही गति है। क्योंकि वायु ही रजोबहुल है, और रज ही सब पदार्थों का प्रवर्त्तक है। यथा—जिस प्रकार बहुत अधिक संचित हुआ पानी बन्ध को तोड़कर दूसरे पानी के साथ मिलकर चारों ओर दौड़ने लगता है, उसी प्रकार दोष कुपित होने पर एक दोष से, कभी दो दोषों से, कभी तीनों दोषों से और कभी रक्त से मिलकर अनेक रूप में फैलते हैं। यथा—वात, पित्त, श्लेष्मा, रक्त, वात-पित्त, वात-श्लेष्मा, पित्त-श्लेष्मा; वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, वात-पित्त-रक्त, वात-कफ-रक्त, पित्त-कफ-रक्त, वात-पित्त-कफ, वात-पित्त-कफ-रक्त, इस प्रकार से पन्द्रह रूप में शरीर में फैलते हैं। यह दोषों का प्रसर है ॥२८॥

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र वर्षति ॥ २९ ॥
नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥३०॥

शिर-बाहु-जङ्घा—आदि सम्पूर्ण या आधे अथवा एक भाग (चिबुक-पांव आदि अङ्ग) में बहुत अधिक प्रकुपित हुआ दोष उसी स्थान में विकार उत्पन्न करता है, जिस प्रकार आकाश में एक भाग में स्थित बादल उसी जगह वर्षा करता है; सब जगह नहीं करता। इसी प्रकार दोष जहाँ पर कुपित होते हैं, वहीं रोग पैदा करते हैं। बहुत अधिक संचित होने पर भी—प्रकोप कारणों के अल्प होने के कारण दोष सहसा विकार को उत्पन्न न करके मार्ग में छिपकर बैठ जाता है। यदि दोष की चिकित्सा न की जाये तो समयवश कारण (प्रकोपकारणों) को पाकर फिर कुपित हो जाता है। (यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्ति अथवा कालप्रकर्षाद् अबलीयांसोऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः। चिराद् वाऽप्यभिनिवर्तन्ते, तनवो वा भवन्ति। चरक०) ॥ २९ ३० ॥

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः, पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्, एष क्रियाविभागः ॥३१॥

पित्तस्थान में पहुँची वायु की पित्त के समान चिकित्सा है, और कफस्थान में पित्त के पहुँचने पर कफ के समान; और वात-स्थान में पहुँचे कफ की—वायु के समान चिकित्सा है। यह चिकित्सा कार्य का विभाग है ॥ ३१ ॥

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां वायोर्विमार्गगमनसाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य अरोचकाविपाकाङ्गसादश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति, तत्र तृतीयः क्रियाकालः ॥३२॥

इस प्रकार से प्रकुपित एवं प्रसरित[1] वायु अपने स्वाभाविक मार्ग से अन्य मार्ग में जाने लगती है और दर्द के साथ पेट में विक्षोभ करती है। पित्त—ओष (उष्णिमा), चोष (एक प्रदेश में दाह), सर्वत्र जलन, धूम-मिश्रित उद्गार करता है। कफ-अरुचि, अविपाक, अङ्गों में शिथिलता, वमन—ये लक्षण उत्पन्न करता है। यह तीसरा काल है ॥ ३२ ॥

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः। एवं प्रकुपितास्तांस्तान् शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति। ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्निसङ्गानाहविसूचिकातिसारप्रभृतीञ्जनयन्ति, बस्तिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन्, मेढ्रगता निरुद्धप्रकशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन्, गुदगता भगन्दरार्शःप्रभृतीन्, वृषणगता वृद्धीः, ऊर्ध्वजत्रुगतास्तूर्ध्वजान्, त्वङ्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पांश्च, मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन्, अस्थिगता विद्रध्यनुशयीप्रभृतीन्, पादगताः श्लीपदवातशोणितवातकण्टकप्रभृतीन्, सर्वाङ्गगता ज्वरसर्वाङ्गरोगप्रभृतीन्, तेषामेवमभिसंनिविष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः, तं प्रतिरोगं वक्ष्यामः। तत्रपूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः ॥ ३३ ॥

फैलते हुए दोषों का जहाँ संग होता है, वह कहते हैं—उपर्युक्त कारणों से कुपित दोष शरीर के उस उस प्रदेश में पहुँच वहाँ उन उन रोगों को करते हैं—वे दोष जब उदर में स्थान बनाते हैं तब गुल्म, विद्रधि, उदर, अग्निमान्द्य, आनाह विसूचिका आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। बस्ति में आश्रय बनाकर—प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात और मूत्रदोष आदि को, वृषण में पहुँचकर—वृद्धि रोग को, मेढ्र में पहुँचकर—निरुद्धप्रकर्ष, उपदंश, शूकरोग आदि को उत्पन्न करते हैं। गुदा में पहुँचकर भगन्दर, अर्श आदि को, जत्रु के ऊपर (वक्ष-अंससन्धिजत्रु) पहुँचकर जत्रु के ऊपर के रोगों को, त्वचा-मांस एवं रक्त का आश्रय करके क्षुद्र रोगों को, कुष्ठ एवं विसर्प रोग को, मेद का आश्रय लेकर—ग्रन्थि, अपची, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी आदि रोगों को, अस्थि का आश्रय लेकर—विद्रधि आदि को पाद का आश्रय लेकर—श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक आदि रोगों को, सम्पूर्ण अङ्गों का आश्रय लेकर—ज्वर

१ प्रकोप और प्रसर में भेद—जमे हुए घी को आग पर गरम करने पर घी का हिलना मात्र दोषों का प्रकोप है। और यदि घी अधिक गरम करने पर झाग आकर बाहर गिरने लगता है, इसका नाम प्रसर है। इसी प्रकार कड़ाही में दूध को गरम करना है। कड़ाही में दूध उबलता रहे यह प्रकोप, उफनकर बाहर आये यह प्रसर है।

एवं सर्वाङ्गवात-व्याधि को, उत्पन्न करते हैं। इन दोषों का अत्यर्थ सन्निवेश होने पर रोग के जो पूर्वरूप—लक्षण उत्पन्न होते हैं, उन लक्षणों को प्रत्येक रोग में यथास्थान कहेंगे। पूर्वरूप (भावि रोग के प्रारम्भिक लक्षण) के लक्षण प्रकट होने पर—चतुर्थ क्रियाकाल है ॥३३॥

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वरातीसारप्रभृतीनां च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ॥३४॥

इसके आगे रोग के दर्शन (ज्ञान) को कहते हैं। यथा—शोफ (त्वचा-मांस में दोष का एकत्रित होना), अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, विसर्प आदि एवं ज्वर (सन्ताप लक्षण), अतिसार आदि रोगों के लक्षणों का स्पष्ट हो जाना यह-पञ्चम-(पाँचवाँ) क्रियाकाल है। व्याधि की विरुद्ध चिकित्सा करने का पाँचवाँ काल है ॥३४॥

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः, ज्वरातिसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः। तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति ॥३५॥

इसके आगे शोफ आदि के पककर फूट जाने पर तथा ज्वर, अतिसार आदि के दीर्घकाल पर्यन्त अनुबन्ध (लगा रहना) रहने पर छठा क्रिया काल है। इस समय चिकित्सा न करने पर वे रोग असाध्य हो जाते हैं ॥३५॥

भवति चात्र—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥३६॥

कहा भी है—

जो दोषों के संचयकाल को प्रकोपकाल को, प्रसरकाल को, स्थान-आश्रय को, व्यक्ति के भेदों (पूर्वरूप तथा रूप) को जानता है, वह वास्तव में वैद्य है ॥३६॥

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥३७॥

संचयकाल में ही यदि दोषों का अपहरण कर दिया जाये, तो अगली गतियों को प्राप्त नहीं करते। उत्तरोत्तर स्थिति में पहुँचकर दोष अधिक—अधिक बलवान् होते जाते हैं। (अपहरण विधि—बहुदोष में शोधन, मध्यमदोष में—लङ्घन—पाचन, अल्पदोष में संशमन क्रिया करनी चाहिये)[1] ॥३७॥

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥३८॥

तीन से अधिक सब भावों से (वायु के लिये रूक्ष आदि, पित्त के लिये उष्णिमा आदि, कफ के लिये स्निग्धत्व आदि), या तीन भावों के अथवा दो के या एक ही भाव के संसर्ग होने पर कुपित हुआ दोष, क्रुद्ध हुए दोष के साथ लग जाता है। अनुबन्ध्य और अनुबन्ध रूप में मिल जाते हैं। प्रथम क्रुद्ध हुए दोष को अनुबन्ध्य कहते हैं, और जो दोष साथ में मिलता है उसको अनुबन्ध कहते हैं। प्रधान व्यक्त लक्षणोंवाला रोग अनुबन्ध्य, दूसरा गौण—अस्पष्टता लक्षणवाला अनुबन्ध है[1] ॥

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥३९॥

दोषों के परस्पर संसर्ग में जो दोष बलवान् हो, उसी दोष की चिकित्सा सब से प्रथम करनी चाहिये। चिकित्सा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शेष—दूसरे दोष के साथ इस चिकित्सा का विरोध न हो। यही विधि सन्निपात में (तीनों दोषों के मिलने पर) भी बरतनी चाहिये[2] ॥

वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः ॥४०॥

व्रण शब्द की निरुक्ति—यह आच्छादन करता है (वृणोति) इसलिये व्रण है, भर जाने पर—अच्छा हो जाने पर भी व्रण का चिह्न नष्ट नहीं होता है, इसलिये व्रण कहते हैं। जब तक जीवन रहता है, तब तक व्रण (चिह्न) रहता है, इसलिये 'व्रण' कहा जाता है। (व्रण का लक्षण चिकित्सा में—'व्रण गात्रविचूर्णने' 'व्रणयतीति व्रणः' दिया है।) ॥४०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणप्रश्नाध्यायो नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

—:※:—

---

१ तत्र लङ्घनमल्पबलदोषाणां लङ्घनेन ह्यग्निमारुतवृद्ध्या वातातपपरीतमिवाल्पमुदकमल्पो दोषः प्रशोषमापद्यते। लङ्घनपाचने तु मध्यमबलदोषाणाम्। बहुदोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्—नह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति तद्वद् दोषावसेचनम् ॥
चरक० वि० अ० ३।४४।

१ स्वतन्त्रो व्यक्तलिंगो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः। तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः। अनुबन्ध्यलक्षणसमन्वितास्तत्र यदि दोषा भवन्ति तत् त्रिकं सन्निपातमाचक्षते, द्वयं वा संसर्गम्। अनुबन्ध्यानुबन्धविशेष-कृतस्तु बहुविधो दोषभेदः ॥
चरक० वि० अ० ६। ११

२ श्रीघाणेकर जी ने इसमें प्रधान और अप्रधान दोष का निर्णय माना है। उनका कहना है कि जब कुपित दोषों का संसर्ग होता है, तब तीन, दो या एक भाव से कुपित हुआ दोष सर्वभाव से कुपित हुए दोष में लीन हो जाता है, इस नियम के अपवाद भी हैं। यथा—अतिसार में 'त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेत् बलवत्तमः' कहा है, परन्तु ज्वर में 'कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत्।' इसी से अष्टांगसंग्रह में इन सब मतों का संग्रह किया है। देखिये संग्रह सूत्र अ० २१।

द्वाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो व्रणस्रावविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'व्रणस्रावविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि। अत्र सर्वव्रणसन्निवेशः ॥३॥

त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म ये आठ व्रण के अधिष्ठान (स्थान) हैं। इन्हीं आठ स्थानों में सब प्रकार के व्रण उत्पन्न होते हैं। चरक में—त्वचा, सिरा, मांस, मेद, अस्थि, स्नायु, मर्म और अन्तराश्रय (कोष्ठ) ये आठ माने हैं।

वि० मन्तव्य—'व्रणवास्तूनि' पाठ भी है। अर्थ है—व्रण के वास्तु अर्थात् स्थान या घर। इस अध्याय में—व्रण के स्थान, आकार, साध्यत्व दोषकारण, दुष्ट (बुरे) व्रणों के लक्षण, स्राव स्थानभेद से स्राव, व्रण में होनेवाली वेदनाएँ और व्रणों के वर्ण कह दिये गये हैं ॥३॥

तत्र, आद्यैकवस्तुसन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचरः, शेषाः स्वयमविदीर्यमाणा दुरुपचराः ॥४॥

इनमें त्वचा में स्थित, त्वचा का भेदन करनेवाला व्रण सुखसाध्य—भली प्रकार से स्वस्थ हो जाता है। शेष स्थानों में स्थित व्रण—जो स्वयं विदीर्ण नहीं होते हैं अतः कठिनाई से अच्छे होते हैं ॥४॥

तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति व्रणाकृतिसमासः, शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति ॥५॥

संक्षेप में व्रण की आकृतियाँ चार प्रकार की हैं—आयत (दीर्घ), चतुरस्र (चौकोर), वृत्त (गोल), त्रिपुटक (त्रिकोण), शेष (अर्द्ध चन्द्राकार-स्वस्तिक आदि) आकृतियाँ विकृत दूषित हैं, इसलिये कृच्छ्रसाध्य हैं ॥५॥

सर्व एव व्रणाः क्षिप्रं संरोहन्त्यात्मवतां सुभिषग्भिश्चोपक्रान्ताः, अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ताः प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाद्दोषाणाम् ॥६॥

पथ्य-आहार-विहार का सेवन करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषों के, उत्तम वैद्यों द्वारा चिकित्सा किये जाने पर—सब प्रकार के व्रण शीघ्र भर जाते हैं। अहिताहार-विहार करनेवाले अजितेन्द्रिय पुरुषों के—मूढ वैद्यों से चिकित्सा करने पर सब व्रण दूषित हो जाते हैं—क्योंकि इनमें दोष बहुत बढ़े होते हैं ॥६॥

तत्रातिसंवृतोऽतिविवृतोऽतिकठिनोऽतिमृदुरुत्सन्नोऽवसन्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीतशुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांससिरास्नायुप्रभृतिभिः पूर्णः पूतिपूयास्राव्युन्मार्ग्युत्सङ्ग्यमनोज्ञदर्शनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाकरागकण्डूशोफपिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणितास्रावी दीर्घकालानुबन्धी चेति दुष्टव्रणलिंगानि। तस्य दोषोच्छ्रायेण षट्त्वं विभज्य यथास्वं प्रतीकारे प्रयतेतेति ॥

दुष्ट व्रण के लक्षण—अतिसंकुचित, अतिविस्तृत (पित्तरक्त से), अतिकठिन (वात से), अतिमृदु (कफ से), उन्नत माँस, हीन मांस, अति शीत, अति उष्ण, काला-पीला-सफेद इनमें से कोई एक रंग हो, भैरव (डरावने लक्षणोंवाला), सड़ी पूय, सड़े माँस, गली सिरा-स्नायु आदि से परिपूर्ण, सड़ी पूय बहती हो, उन्मार्गी (तिर्यग्गामी) उत्संगी (ऊर्ध्वगति), अशोभन दर्शन, अशोभन गन्ध, अतिवेदनावान्, दाह-पाक-लालिमा-कण्डू-शोफ-पिड़िका -इन उपद्रवों से युक्त, दुष्ट रक्तस्राव करनेवाला, चिरकालीन, ये दूषित व्रण के लक्षण हैं। इस व्रण को दोषों की प्रधानता से छै भागों में (वात, पित्त, कफ, रक्त, सन्निपात और आगन्तुज) विभक्त करके दोषानुसार चिकित्सा करने का प्रयत्न करना चाहिये[1] ॥७॥

अत ऊर्ध्वं सर्वस्रावान् वक्ष्यामः-तत्र घृष्टासु छिन्नासु वा त्वक्षु स्फोटे भिन्ने विदारिते वा सलिलप्रकाशो भवत्यास्रावः किंचिद्विस्रः पीतावभासश्च, मांसगतः सर्पिःप्रकाशः सान्द्रः श्वेतः पिच्छिलश्च, सिरागतः सद्यश्छिन्नासु सिरासु रक्तातिप्रवृत्तिः पक्वासु च तोयनाडीभिरिव तोयागमनं पूयस्य आस्रावश्चात्र तनुर्विच्छिन्नः पिच्छिलोऽवलम्बी श्यावोऽवश्यायप्रतिमश्च, स्नायुगतः स्निग्धो घनः सिंघाणकप्रतिमः सरक्तश्च, अस्थिगतोऽस्थन्यभिहते स्फुटिते भिन्ने दोषावदारिते वा दोषभक्षितत्वादस्थि निःसारं शुक्तिधौतमिवाभाति, आस्रवश्चात्र मज्जमिश्रः सरुधिरः स्निग्धश्च, सन्धिगतः पीड्यमानो न प्रवर्तते, आकुञ्चनप्रसारणोन्नमनविनमनप्रधावनोत्कासनप्रवाहणैश्च स्रवति, आस्रावश्चात्र पिच्छिलोऽवलम्बी सरुधिरोन्मथितश्च, कोष्ठगतोऽसृङ्मूत्रपुरीषपूयोदकानि स्रवति, मर्मगतस्त्वगादिष्ववरुद्धत्वान्नोच्यते। तत्र त्वगादिगतानामास्रावाणां यथाक्रमं पारुष्यश्यावावश्यायदधिमस्तुक्षारोदकमांसधावनपुलाकोदकसन्निभत्वानि मारुताद्भवन्ति, पित्ताद् गोमेदकगोमूत्रभस्मशङ्खकषायोदकमाध्वीकतैलसन्निभत्वानि, पित्तवद्रक्तादतिविस्रत्वं च, कफान्नवनीतकासीसमज्जपिष्टतिलनालिकेरोदकवराहवसासन्निभत्वानि, सन्निपातान्नालि-

[1] कविराज हाराणचन्द्र जी ने—उत्पन्न (ऊपर को उठा), अवसन्न (नीचे को दबा), उन्मार्गी (उर्ध्वमुख), उत्संगी (कोटरवान्) यह अर्थ किया है।

केरोदकैत्रारुकरसकाञ्जिकप्रसादारुकोदकप्रियङ्गुफलयकृन्मुद्गयूषसवर्णत्वानीति ।।८।।

इसके आगे सब प्रकार के स्रावों को कहते हैं—

आगन्तुज कारणवश त्वचा पर रगड़ लगने से या कट जाने से, अथवा अन्तःकारण से त्वचा के फटने से, व्रण के विदीर्ण होने से पानी के समान पतला कुछ आमगन्धि और पीले रंग का सा स्राव होता है। मांसगत व्रण का स्राव-घी के समान, सान्द्र (घना), श्वेत और पिच्छिल होता है। आगन्तुज कारण से शिरा के तुरन्त कट जाने से रक्त बहुत बहता है। शिरा के अन्तःकारण से पक्क होकर विदीर्ण होने पर पानी के समान पूय बहती है, स्राव—पतला, थोड़ा थोड़ा, पिच्छिल, अवलम्बनशील (रुकनेवाला), काला-सा एवं ओस के कणों के समान बूंद-बूंद होता है। स्नायुगत व्रणों का स्राव स्निग्ध, घन, नासिका के मल के समान और रक्तमिश्रित होता है। अस्थिगत व्रण में अस्थि पर चोट लगने से अस्थि फटती है, टूटती है। दोष के कारण अस्थि के विदीर्ण होने पर अस्थि साररहित हो जाती है- क्योंकि दोष के कारण अस्थि खाई जाती है। इसलिये अस्थि-सीप के समान, धुले वस्त्र के समान सफेद चमकती है। और अस्थि का स्राव-मज्जा एवं रक्तमिश्रित, स्निग्ध होता है। सन्धियों में स्राव होने से दबाने से बाहर नहीं आता, परन्तु अङ्ग को सिकोड़ने फैलाने, ऊपर उठाने, नीचे करने, दौड़ने, खाँसने और प्रवाहण (खींचने) से बाहर आता है। इसमें स्राव का रंग-पिच्छिल, अवलम्बी (रुकनेवाला), झाग और पूयमिश्रित एवं कुछ रक्त, मथित (मथा सा) होता है। कोष्ठगत व्रण में— रक्त, मूत्र, मल, पूय और जल रस क्लेद (या पानी) स्रवित होता है। मर्मगत स्राव का अन्तर्भाव त्वग् आदि के स्राव में ही हो जाता है, इसलिये अलग नहीं कहते।

इनमें त्वग् आदि स्थानों के स्राव वात आदि दोषों के क्रमानुसार निम्न हैं। यथा—

वायु के कारण—कठोरता, कालापन, ओस के समान बूंद, दधि, मस्तु, क्षारोदक, मांस के धोवन के समान, पुलाकोदक (गवेधुक के या धान की पुराली के पानी) के समान वायु से स्राव होता है, पित्त के कारण स्राव गोमेद के समान, गोमूत्र, शंख भस्म, कषायोदक के समान, माध्वीक (महुवे) के, तैल के समान होता है। रक्त के कारण स्राव पित्त की भांति होता है और बहुत दुर्गन्ध युक्त होता है। कफ के कारण मक्खन, कासीस, मज्जा के, पिष्ट (पीसे) तिल के नारियल के पानी के, वराह की बसा के समान होता है। सन्निपात के कारण स्राव नारियल के पानी, ककड़ी के रस के, काँजी के ऊपर के स्वच्छ भाग के, आरुक (आरू), प्रियंगु के फल, यकृत् और मूङ्ग के यूष के समान होता है ।।८।।

श्लोकौ चात्र भवतः—

पक्वाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसन्निभः।
क्षारोदकनिभः स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात्स्रवन् ।।९।।
आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिजः।
स्रावानेतान् परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरेद् भिषक् ।।१०।।

दो श्लोक भी कहे हैं—

पुलाकोदक (पुराली के पानी) के समान-पक्वाशय से होने वाला स्राव असाध्य है। और जो स्राव रक्ताशय से—क्षारोदक के समान बहता है, वह भी असाध्य है। आमाशय से और त्रिक (कटि के अधोभाग) प्रदेश से जो स्राव मटर के पानी के समान बहता है—वह भी असाध्य है। वैद्य को चाहिये कि पहिले इन स्रावों की परीक्षा करके फिर चिकित्सा कर्म में हाथ लगाये ।। ९,१० ।।

अत ऊर्ध्वं सर्वव्रणवेदना वक्ष्यामः—तोदनभेदनताडनच्छेदनायमनमन्थनविक्षेपणचुमुचुमायननिर्दहनावभञ्जनस्फोटनविदारणोत्पाटनकम्पनविविधशूलविश्लेषणविकिरणस्तम्भनपूरणस्तम्भनस्वप्नाकुञ्चनाङ्कुशिकाः संभवन्ति, अनिमित्तविविधवेदनाप्रादुर्भावो वा मुहुर्मुहुर्यत्रागच्छन्ति वेदनाविशेषास्तं वातिकमिति विद्यात्; ओषचोषपरिदाहधूमायनानि यत्र गात्रमङ्गारावकीर्णमिव पच्यते यत्र चोष्माभिवृद्धिः क्षते क्षारावसिक्तवच्च वेदनाविशेषास्तं पैत्तिकमिति विद्यात्, पित्तवद्रक्तसमुत्थं जानीयात्, कण्डूर्गुरुत्वं सुप्तत्वमुपदेहोऽल्पवेदनत्वं स्तम्भः शैत्यं च यत्र तं श्लैष्मिकमिति विद्यात्, यत्र सर्वासां वेदनानामुत्पत्तिस्तं सान्निपातिकमिति विद्यात् ।।११।।

इसके आगे सब व्रणों की वेदना कहते हैं—

जिन व्रणों में निम्न प्रकार की वेदना हो उनको वातिक व्रण समझना चाहिये। यथा—सूई के समान चुभने की, भेदन (त्वचा आदि के फटने की), ताड़न (दण्ड आदि से अभिहनन की), छेदन (काटने की), आयमन (तानने की), मन्थन (मथने की), विक्षेपण (फेंकने की), चुमचुमायन (राई या सरसों के लेप की भाँति चुमचुमाने की सी), (निर्दहन वह्नि से जलने की), अवभंजन (वायु से टूटने की), स्फोटन (फूटने की), विदारण (नख आदि से फाड़ने की), उत्पाटन (उखाड़ने की), कम्पन (काँपने की), विविध-शूल, विश्लेषण (नाना प्रकार की पीड़ाओं की), विकिरण (व्रण के भिन्न २ अवयवों में वेदन), पूरण (भरना), स्तम्भन (स्तब्धता), स्वप्न (स्पर्शज्ञान की हानि), आकुंचन (संकोच), अंकुशिका (खल्ली-बालों का गिरना), विना कारण के नाना प्रकार की वेदनायें उत्पन्न होने लगती हैं, और बार बार जहाँ पर वेदनायें हों उस व्रण को वातिक समझना चाहिये।

जिन व्रणों में निम्न लक्षण हों उनको पैत्तिक समझना, यथा—ओष (एक देश में दाह), चोष (चूसने के समान पीड़ा), परिदाह (जलन), धूमायन (धूमप्रतीति), जिन में शरीर अङ्गारों से जलता-सा प्रतीत हो, जहाँ पर उष्णिमा बढ़ी हो, क्षत में क्षार लगने के समान पीड़ा हो-उनको पैत्तिक व्रण समझना चाहिये पित्त के समान रक्तजन्य व्रणों को समझना चाहिये।

जिन व्रणों में निम्न लक्षण हों उनको कफजन्य व्रण समझना चाहिये। यथा—कण्डू (खाज), गुरुत्व (भारीपन), सुप्तत्व (स्पर्शज्ञान का नाश), थोड़ी वेदना, स्तम्भ (जड़ता) और शीतलता हो, उसे श्लैष्मिक व्रण जानना चाहिये। और जिन व्रणों में सब प्रकार की वेदनायें उत्पन्न होती हों-उन व्रणों को सन्निपातजन्य समझना चाहिये[1] ॥११॥

अत ऊर्ध्वं व्रणवर्णान् वक्ष्यामः—भस्मकपोतास्थिवर्णः परुषोऽरुणः कृष्ण इति मारुतजस्य, नीलः पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः पिङ्गलः इति रक्तपित्तसमुत्थयोः श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य, सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति ॥१२॥

इसके आगे व्रण के रङ्गों को कहते हैं। वायु के कारण व्रण का रङ्ग-भस्म (राख), कबूतर की अस्थि के समान, कठोर, लाल, काला, होता है। पित्त के कारण एवं रक्तजन्य व्रण का रङ्ग—नीला, पीला, हरा, काला, श्याव, लाल, कपिल, पिङ्गल (धूसर) होता है। कफजन्य व्रण का रङ्ग—श्वेत, स्निग्ध, पाण्डु होता है। सन्निपातजन्य व्रण में सब दोषों के रङ्ग मिलते हैं॥

भवति चात्र—

न केवलं व्रणेषूक्तो वेदनावर्णसंग्रहः।
सर्वशोफविकारेषु व्रणवल्लक्षयेद्भिषक् ॥१३॥

कहा भी है—

यहाँ पर जो वेदना एवं वर्ण के विषय में कहा है, यह केवल व्रणों के लिये ही नहीं है, अपितु शोफजन्य सब रोगों में व्रण के समान ही (वेदना एवं वर्ण) वैद्य को समझना चाहिये॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्रणास्रावविज्ञानीयो
नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः

अथातः कृत्याकृत्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

इसके आगे कृत्याकृत्य विधि (साध्यासाध्य विधि) नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

तत्र, वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्त्ववतां (आत्मवतां) च सुचिकित्स्या व्रणाः, एकस्मिन् वा पुरुषे यत्रैतद्गुणचतुष्टयं तस्य सुखसाधनीयतमाः। तत्र, वयःस्थानां प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति, दृढानां स्थिरबहुमांसत्वाच्छस्त्रमवचार्यमाणं सिरास्नाय्वादिविशेषान्न प्राप्नोति, प्राणवतां वेदनाभिघाताहारयन्त्रादिभिर्न ग्लानिरुत्पद्यते, सत्त्ववतां दारुणैरपि क्रियाविशेषैर्न व्यथा भवति, तस्मादेतेषां सुखसाधनीयतमाः ॥३॥

वयःस्थ (तरुण), दृढ (गूढ़-सिरा-सन्धिवाले संहत शरीर), प्राणवान् (शक्तिशाली), और सत्त्ववान् (व्यसन में भी न घबरानेवाले) पुरुषों के व्रण सुगमता से चिकित्स्य किये जाते हैं। अथवा यदि एक ही पुरुष में उपर्युक्त चारों गुण हों तो उसके व्रण अतिशय सुखसाध्य हैं। इनमें—तरुण पुरुषों में—धातु के नवीन होने से व्रण शीघ्र भरते हैं। दृढ पुरुषों में—मांस के स्थिर एवं बहुत होने से—चलाया हुआ शास्त्र सिरा—स्नायु आदि तक नहीं पहुँचता। शक्तिशाली पुरुषों में—वेदना,

---

१ दूषितव्रण—

श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूलवर्त्माऽतिपिञ्जरः।
नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः॥
रोप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः॥

व्रण के स्राव—

लसीकाजलपूयासृग्हारिद्रारुणपिञ्जराः।
कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः॥

व्रण के रूप—

कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च।
संवृतो दारुणस्रावी सविषो विषमास्थितः॥
उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च व्रणान् विद्यात् विपर्य्ययात्।
इति नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः॥

व्रण की गन्ध—

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः।
व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्त्तिताः॥

दोषों से—

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रण्यो मारुतसंभवः॥
तृष्णामोहज्वरस्वेददाहदुष्ट्यवदारणैः।
व्रणं पित्तकृतं विद्यात् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः॥
बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धो स्तिमितो मन्दवेदनः।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदः चिरकारी कफव्रणः॥

साध्यासाध्य—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः।
धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः॥
गुणैरन्यतमैर्हीनः ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः।
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः॥

चरक० चि० अ० २५।

अभिघात अथवा आहार के नियमन से ग्लानि उत्पन्न नहीं होती। सत्त्वशाली पुरुषों में—दुःसह क्रिया कर्मों से पीड़ा नहीं होती, इसलिये इन पुरुषों के व्रण अतिशय सुखसाध्य हैं ॥ ३ ॥

त एव विपरीतगुणा वृद्धकृशाल्पप्राणभीरुषु द्रष्टव्याः ॥४॥

ये ही व्रण वृद्ध, कृश, अल्पप्राण एवं भीरु पुरुषों में विपरीत गुण होने से कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं। एक गुण के अभाव में कृच्छ्रतमसाध्य हैं ॥ ४ ॥

स्फिक्पायुप्रजननललाटगण्डौष्ठपृष्ठकर्णफलकोषोदरजत्रुमुखाभ्यन्तरसंस्थाः सुखरोपणीया व्रणाः ॥ ५ ॥

निम्न स्थानों के व्रण सुखपूर्वक रोहण हो जाते हैं। यथा—स्फिग् (नितम्ब), पायु (गुदा), प्रजनन (गुह्यप्रदेश), ललाट (माथा), गण्ड (गण्डस्थल), ओठ, पीठ, कान, फलकोष (अण्डकोष), उदर, जत्रु (अंस और वक्षः सन्धि) और मुख के अन्दर स्थित व्रण सुखसाध्य हैं ॥ ५ ॥

अक्षिदन्तनासापाङ्गश्रोत्रनाभिजठरसेवनीनितम्बपार्श्वकुक्षिवक्षःकक्षास्तनसन्धिभागगताः सफेनपूयरक्तानिलवाहिनोऽन्तःशल्याश्च दुश्चिकित्स्याः, अधोभागाश्चोर्ध्वभागनिर्वाहिणो, रोमान्तोपनखमर्मजंघास्थिसंश्रिताश्च, भगंदरमपि चान्तर्मुखं सेवनीकुटकास्थिसंश्रितम् ॥ ६ ॥

साध्य के भेद कृच्छ्रसाध्य व्रण—आँख, दन्तमूल, नासिका अपांग (भ्रू की कोर प्रान्त), श्रोत्र, नाभि, जठर, सेवनी, नितम्ब, पार्श्व, कुक्षि, वक्ष, कक्षा, स्तन, सन्धि भाग में स्थित व्रण कष्टसाध्य हैं। जिन व्रणों में से झाग युक्त पूय रक्त, वायु का प्रवाह होता हो, एवं व्रण के अन्दर शल्य हो तो व्रण कष्टसाध्य है। अधोभागस्थित व्रण जो कि ऊपर की ओर मुख किये हों (ऊपर की ओर बढ़ रहे हों), बालों की जड़ों में, नख के पास में, मर्म स्थान में, जङ्घास्थि (पिण्डलियों की अस्थि) में, अस्थिव्रण तथा गुदा के अन्दर मुख किया हुआ भगन्दर, इसी प्रकार से बनी (Perinium) के समीप कुटकास्थि (श्रोणीकाण्डास्थि कटि की अस्थि) में स्थित अन्तःभगन्दर रोग असाध्य है[1]।

वि० मन्तव्य—अधोभागाश्चोर्ध्वभागनिर्वाहिणो—अर्थात् वे अन्तर्विद्रधि जो नाभि से निचले अवयवों में उत्पन्न हों परन्तु मुखमार्ग से बहते हों वे। यथा—नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्ति ऊर्ध्वं इतरे तु अधः। जीवति अधो निःसुतेषु, स्रुतेषु ऊर्ध्वे न जीवति ॥ सु० नि० अ० ६ श्लो० २४ ॥ ६ ॥

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ॥७॥

कुष्ठ रोगियों के, दूषी विषयुक्त रोगियों के, शोषरोगियों के, मधुमेही पुरुषों के और जिन पुरुषों के व्रण में दूसरे व्रण हों, उनके व्रण कठिनाई से अच्छे होते हैं ॥ ७ ॥

अवपाटिकानिरुद्धप्रकशसन्निरुद्धगुदजठराणि, ग्रन्थिक्षतक्रमयः प्रतिश्यायजाः कोष्ठजाश्च त्वग्दोषिणां प्रमेहिणां वा ये परिक्षतेषु दृश्यन्ते, शर्करा सिकतामेहो वातकुण्डलिकाऽष्ठीला दन्तशर्करोपकुशः कण्ठशालूकं निष्कोषणदूषिताश्च दन्तवेष्टा विसर्पास्थिक्षतोरःक्षतव्रणग्रन्थिप्रभृतयश्च याप्याः ॥ ८ ॥

असाध्य भेद को (याप्य) कहते हैं—अवपाटिका, विरुद्धप्रकाश, सन्निरुद्ध गुद, सन्निरुद्ध जठर (आंत्र), ग्रन्थि से उपलक्षित क्षत में जब कृमि हों, प्रतिश्यायजन्य कृमियाँ, कोष्ठजन्य कृमियाँ, त्वचा के दोष या प्रमेहरोगियों के क्षतों में जो कृमि दिखाई देते हैं, शर्करा (अश्मरी), सिकतामेह, वातकुण्डलिका, अष्ठीला, दन्तशर्करा, उपकुश, कण्ठशालूक, दाँतों के कुरेदने के लिये जो विषयुक्त काष्ठ प्रयुक्त होते हैं—उनसे दूषित दन्तवेष्ट (मसूढ़े), विसर्प, अस्थिक्षत, उरःक्षत, व्रणग्रन्थि आदि में होनेवाले व्रण याप्य हैं। अवपाटिका आदि रोगों में होनेवाले व्रण याप्य हैं, रोग याप्य नहीं ॥ ८ ॥

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां यथा ।
घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ॥ ९ ॥

क्रिया के न करने अथवा विरुद्ध क्रिया करने से साध्य रोग याप्य हो जाते हैं, याप्य रोग असाध्य हो जाते हैं। और असाध्य रोग प्राणों को शीघ्र नष्ट कर देते हैं। जैसा कहा है—

सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः ।
ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥९॥

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम् ।
क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥ १० ॥
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम् ।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधुयोजितः ॥ ११ ॥

याप्य का लक्षण—जिस रोगी पुरुष को चिकित्साक्रिया धारण करती है उसको 'याप्य' समझना चाहिए। चिकित्साक्रिया के हट जाने से पुरुष उस रोग से शीघ्र नष्ट हो जाता है। याप्य व्याधि से आक्रान्त रोगी को चिकित्सा-क्रिया बचाती है। जिस प्रकार कि गिरते हुए घर को भली प्रकार से लगाया स्तम्भ रोक देता है ॥ १०,११ ॥

अत ऊर्ध्वमसाध्यान् वक्ष्यामः—मांसपिंडवदुद्गताः प्रसेकिनोऽन्तःपूयवेदनावन्तोऽश्वापानतदुद्वृत्तौष्ठाः, केचित् कठिना गोश्रृंगवदुद्गतमृदुमांसप्ररोहाः, अपरे दुष्टरुधिरास्राविणस्तनुशीतपिच्छिलास्राविणो वा मध्योन्नताः, केचिद् वसन्नशुषिरपर्यन्ताः शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दर्शनाः,

---

[1] कहीं कहीं पर कुटकास्थि के स्थान में 'उपस्थ' पाठ है। उपस्थ मार्ग में मुखवाला भगन्दर रोग असाध्य है।

वसामेदोमज्जमस्तुलुङ्गस्राविणश्च दोषसमुत्था पीतासितमूत्रपुरीषवातवाहिनश्च कोष्ठस्थाः, त एवोभयतोभागव्रणमुखेषु पूतरक्तनिर्वाहिणः, क्षीणमांसानां च सर्वतोगतयश्चाणुमुखा मांसबुद्बुदवन्तः, सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः, क्षीणमांसानां च पूयरक्तनिर्वाहिरोचकाविपाककासश्वासोपद्रवयुक्ताः, भिन्ने वा शिरःकपाले यत्र मस्तुलुंगदर्शनं त्रिदोषलिंगप्रादुर्भावःकासश्वासौ वा यस्येति ॥ १२ ॥

इसके आगे असाध्य रोगों को कहते हैं। मांसपिण्ड के ऊपर उठे, प्रसेकी (स्राव बहुल), अन्दर पूय-वेदना युक्त, घोड़ी की योनि की भांति उन्नत मुखवाले (किनारोंवाले), कुछ कठिन गाय के सींग के समान ऊपर उठे मांसांकुरोंवाले, दूषित रक्तस्राव करनेवाले, पतला-शीतल-पिच्छिल स्राव बहानेवाले, अथवा बीच से उन्नत या बीच से अन्दर को दबे, सन की रूई के समान-स्नायुजाल युक्त—देखने में बुरे, दोष के कारण—वसा मेद मज्जा मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क का द्रव भाग) का स्राव करनेवाले, कोष्ठ में स्थित व्रणों में—पीला, काला, मूत्र, मल, वायु का स्राव होने से, कोष्ठ स्थित व्रणों का मुख दोनों पार्श्वों में (ऊपर मुख की ओर और नीचे गुदा की ओर) हों, पूय-रक्त को स्रवित करनेवाले, चारों ओर गतिवाले—सूक्ष्म मुखवाले-मांस के समान बुलबुलेवाले, शिर एवं कण्ठ में स्थित व्रणों में से—शब्द के साथ वायु का स्राव हो, क्षीण मांसवाले पुरुषों में पूय रक्त का स्राव होता हो, एवं अरुचि, अविपाक, कास, श्वास—ये उपद्रव साथ में हों, शिर की खोपड़ी के फटने पर जब मस्तिष्क दीखने लगे या तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो जायें, कास-श्वास हो, तो व्रण असाध्य समझना चाहिये॥

भवति चात्र—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुंगं च यः स्रवेत्।
आगन्तुस्तु व्रणः सिध्येन्न सिध्येद्दोषसंभवः ॥ १३ ॥
अमर्मोपहिते देशे सिरासन्ध्यस्थिवर्जिते।
विकारो योऽनुपर्येति तदसाध्यस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥

कहीं भी है—

जिस आगन्तुज व्रण में से वसा, मेद, मज्जा अथवा मस्तुलुङ्ग का स्राव होता है, वह व्रण साध्य है। दोषजन्य व्रण इस प्रकार के स्राव होने से असाध्य है शिरा-सन्धि एवं अस्थि से रहित, मर्मरहित प्रदेश में यदि विकार हो और वह चिकित्सा करने पर भी सब धातुओं में फैलता जाये, तो उसको असाध्य समझना चाहिए ॥ १३,१४ ॥

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ॥ १५ ॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा ॥ १६ ॥

रोग धातुओं का सहारा लेकर धीरे २ वृद्धि को प्राप्त हुआ करता है। उस समय बढ़ने पर रोग (साध्य) जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता, जिस प्रकार बड़ा वृक्ष जड़ से नहीं उखाड़ा जा सकता। इसमें कारण—रोग की स्थिरता रोग के बढ़ जाने से और धातुओं का सहारा पकड़ने से रोग औषध के वीर्य को निष्फल कर देता है, जिस प्रकार दुष्टग्रह (स्कन्दापस्मार आदि) मन्त्र की शक्ति निष्फल कर देता है ॥ १५,१६ ॥

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते।
अबद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः ॥ १७ ॥

जो व्रण धातुओं में नहीं फैलता, वह सुखसाध्य है, क्योंकि इस व्रण की जड़ स्थिर नहीं होती। जिस प्रकार कि एक छोटा पौधा मूलके स्थिर न होने से सुगमता से उखाड़ा जा सकता है ॥ १७ ॥

त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकीसमः।
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥ १८ ॥

शुद्ध व्रण का लक्षण—वात आदि दोषों से रहित (अथवा व्रण की आकृति-गन्ध वर्ण स्राव-वेदनासे रहित, या शीत-उष्ण, मृदु-कठिन, संवृत-विवृत रहित), काले किनारोंवाला, पिडकी (मांसांकुर), समतल, वेदनारहित, स्राव से रहित व्रण को शुद्ध व्रण कहते हैं ॥ १८ ॥

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः।
स्थिराश्च पिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ॥ १९ ॥

जिस व्रण के अन्तर्भाग (किनारे)—कबूतर के सदृश धूसर वर्णवाले हों और क्लेद (सड़न-पन्छा) से रहित हों, स्थिर (स्थिरतायुक्त) हो और पिड़का (छोटी फुन्सियों) से युक्त—व्याप्त हों वह व्रण "भर रहा है—रोपित हो रहा है" समझा जाता है। जब व्रण उचित प्रकार से भर रहा होता है तब ये लक्षण होते हैं ॥ १९ ॥

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम्।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

सम्यक् रूढ़ के लक्षण—व्रण वस्तु भर जावे, किसी प्रकार की गाँठ या सूजन न हो, दर्द न हो, त्वचा के समान रङ्ग हो व्रण समतल हो, उस व्रण को भली प्रकार से रोहण हुआ समझना चाहिये ॥ २० ॥

दोषप्रकोपाद्व्यायामादभिघातादजीर्णतः।
हर्षात् क्रोधाद् भयाद्वाऽपि व्रणो रूढोऽपि दीर्यते ॥ २१ ॥

दोष के प्रकोप से, व्यायाम से, चोट लगने से, अजीर्ण से,

अतिहर्ष से, क्रोध से, भय से रोहण हुआ व्रण भी पुनः फट जाता है[१] ॥२१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कृत्याकृत्यविधिर्नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथातो व्याधिसमुद्देशीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'व्याधिसमुद्देशीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसाकि धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

द्विविधास्तु व्याधयः—शस्त्रसाध्याः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते ॥३॥

विधि भेद से रोग दो प्रकार के हैं। एक—शस्त्र-साध्य और दूसरे स्नेह-स्वेदन आदि क्रियासाध्य। इन से शस्त्रसाध्य रोगों में स्नेहादि क्रियाओं का निषेध नहीं है। परन्तु स्नेहादिक्रियासाध्य रोगों में शस्त्रकर्म निषिद्ध है[२] ॥३॥

अस्मिन् पुनः शास्त्रे सर्वतन्त्रसामान्यात्, सर्वेषां व्याधीनां यथास्थूलमवरोधः क्रियते। प्रागभिहितं 'तद्दुःखसंयोगा व्याधयः' (सू० अ० १) इति तच्च दुःखं त्रिविधम्—आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकमिति। तत्तु सप्तविधे व्याधावुपनिपतति। ते पुनः सप्तविधा व्याधयः, तद्यथा—आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, देवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति ॥४॥

इस सौश्रुततन्त्र में शालाक्य आदि सब तन्त्रों के सिद्धान्त से सब रोगों का संग्रह किया जाता है। पहिले कह चुके हैं कि शरीर-शरीरी (शरीर और मन) के साथ दुःख का संयोग होने से व्याधियाँ हैं। यह दुःख तीन प्रकार का है। यथा—आध्यात्मिक, अधिभौतिक और आधिदैविक। इस तीन प्रकार के दुःख का अन्तर्भाव सात प्रकार की व्याधियों में हो जाता है। सात प्रकार की व्याधियाँ, यथा—आदिबलप्रवृत्ता, जन्मबलप्रवृत्ता, दोषबलप्रवृत्ता, संघातबलप्रवृत्ता, कालबलप्रवृत्ता, दैवबलप्रवृत्ता, स्वभावबलप्रवृत्ता ॥४॥

तत्र, आदिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः तेऽपि द्विविधाः—मातृजाः, पितृजाश्च। जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पङ्गुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते, तेऽपि द्विविधाः—रसकृताः दौहृदापचारकृताश्च। दोषबलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च, तेऽपि द्विविधाः—आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च, पुनश्च द्विविधाः-शारीरा, मानसाश्च। त एते आध्यात्मिकाः ॥५॥

इनमें आदिबल प्रवृत्ता (दुष्टशोणितबलजाता), जो कि दूषित शुक्र-आर्त्तव के दोष के कारण उत्पन्न होती है, यथा—कुष्ठ, अर्श आदि। ये भी दो प्रकार की हैं। एक—मातृजन्य और दूसरी—पितृजन्य। जन्मबल प्रवृत्ता जो कि माता के दूषित आहार-विहार के कारण उत्पन्न होती है। यथा—पंगुपन, अन्धत्व, बधिरत्व, मूकत्व, मिन्मिन, वामन (नाटा कद) आदि। वे भी दो प्रकार की हैं। एक—रसजन्य (गर्भिणी के आधार-रस से उत्पन्न) और दूसरी—दौहृदावस्था (देखिये शा० अ० ३ सू० १८ में २६) में किये गये अपचार के कारण उत्पन्न। दोषबलप्रवृत्ता—(रज-तम-शक्ति से उत्पन्न—तथा दोष की शक्ति से उत्पन्न रोग), ये मिथ्या-आहार-विहार के कारण उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं, एक—आमाशय से उत्पन्न और दूसरी—पक्वाशय से उत्पन्न। फिर इनके दो भेद हैं—एक शारीरिक और दूसरे मानसिक। ये तीनों (आदिबल जन्मबल और दोषबल से प्रवृत्त) आध्यात्मिक (शरीरस्थ—वातादि—रजप्रभृति दोषजन्य होने से) हैं[१] ॥५॥

संघातबलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्, तेऽपि द्विविधाः—शस्त्रकृताः, व्यालकृताश्च। एते आधिभौतिकाः ॥६॥

संघातबल प्रवृत्ता (प्रहार शक्ति से उत्पन्न) ये आगन्तुज रोग हैं दुर्बल पुरुष का बलवान् के साथ लड़ाई करना। ये भी दो प्रकार के हैं। यथा—शस्त्रजन्य और व्याल—(सर्पादि) आदि से उत्पन्न। ये आधिभौतिक हैं ॥६॥

कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षातपप्रभृतिनिमित्ताः, तेऽपि द्विविधाः—व्यापन्नर्तुकृताः, अव्यापन्नर्तुकृताश्च। दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशप्तका अथर्वणकृता उप-

---

१ स्नायुक्लेदात् सिराक्लेदात् गाम्भीर्यात् कृमिभक्षणात्।
अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वाच्च सर्पणात्॥
नखकाष्ठप्रभेदाच्च चर्मलोमातिघट्टनात्।
मिथ्याबन्धादतिस्नेहात् अतिभैषज्यकर्षणात्॥
अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात्।
शोकात् क्रोधाद् दिवास्वप्नात् व्यायामान्मैथुनात्तथा॥
व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम्॥
चरक०।

२ शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशः त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं, बहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानञ्चेति।

१ देखिये चरक विमान आठवें में—प्रकृतितश्च परीक्षेत।

सर्गजाश्च, तेऽपि द्विविधाः—विद्युदशनिकृताः पिशाचादिकृताश्च, पुनश्च द्विविधाः—संसर्गजाः, आकस्मिकाश्च। स्वभावबलप्रवृत्ता ये क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः, तेऽपि द्विविधाः—कालजाः, अकालजाश्च, तत्र परिरक्षणकृताः कालजाः, अपरिरक्षणकृता अकालजाः। एते आधिदैविकाः। तत्र सर्वव्याध्यवरोधः ॥७॥

कालबल प्रवृत्ता—जो कि शीत, उष्ण, वायु, वर्षा आदि के कारण उत्पन्न होते हैं। ये भी दो प्रकार के हैं। यथा—एक—व्यापन्नर्तुकृत (दूषित ऋतु के कारण उत्पन्न—जनपदध्वंस आदि रोग) दूसरे-अव्यापन्नर्तुकृत (अदूषित ऋतुजन्य)। दैवबल प्रवृत्ता (दैवशक्ति से उत्पन्न)—जो कि देवता, गुरु, सिद्ध पुरुषों के साथ द्रोह करने के या गुरुओं के अभिशाप से उत्पन्न या अथर्ववेदप्रणीत आभिचारिक मन्त्रों द्वारा उत्पन्न अथवा रुग्ण मनुष्य के समीप रहने से उपसर्ग द्वारा उत्पन्न संक्रामक ज्वर आदि। ये भी दो प्रकार के हैं। एक—विद्युत् जन्य और अशनिकृत (विद्युत्-लता के आकार में तिरछी-आग के समान गिरनेवाली, अशनि-मूसल के समान सीधी नीचे गिरनेवाली), दूसरा-पिशाचादिजन्य। ये (पिशाचादिजन्य) भी दो प्रकार के हैं। यथा—संसर्गजन्य (रोगी के पास रहने से), दूसरा—आकस्मिक (देव-द्रोह आदि के कारण से उत्पन्न)। स्वभावबल प्रवृत्ता—भूख, प्यास, जरा, मृत्यु आदि (ये भी दो प्रकार के हैं)। यथा—कालजन्य और अकालजन्य। रक्षा करने पर भी जो रोग होते हैं, वे कालजन्य हैं। बिना रक्षा (प्रयत्न) करने पर जो होते हैं, वे—अकालजन्य हैं। ये आधिदैविक रोग हैं। इनमें सब रोगों का समावेश हो जाता है ॥७॥

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं; तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा—रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयं, अस्थिजोऽयं, मज्जाजोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति ॥८॥

सब रोगों का मूल कारण वात-पित्त-कफ ही है। क्योंकि—तल्लिंगत्वात्, रोगों में - वातादि के लक्षण दिखाई देते हैं। दृष्टफलत्वात्, वातादिहर औषधियों से चिकित्सा करने पर—लाभ होता देखा जाता है, आगमात्—शास्त्र से भी ज्ञात होता है कि वात आदि ही सब रोगों के कारण हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण (महद् आदि चौबीस तत्त्व) विकार समूह-जगत रूप में स्थित होते हुए भी—सत्त्व, रज, तम से पृथग् नहीं होता, उसी प्रकार सब रोग भी वात-पित्त कफ से पृथग् नहीं जाते। दोष (वातादि), धातु, (रसादि), मल (मूत्रादि) के संयोग की भिन्नता से, स्थानभेद से और करणभेद से—रोग में भेद आ जाते हैं। दोषों द्वारा धातुओं के दूषित होने से रसादि की 'दूष्य' यह संज्ञा हो जाती है। दोषजन्य रोगों में—रसजन्य, रक्तजन्य, मांसजन्य, मेदोजन्य, अस्थिजन्य, मज्जाजन्य शुक्रजन्य—यह रोग है, ऐसा व्यवहार हो जाता है। जिस प्रकार-'घी से जल गया, लोहे से जल गया'—ऐसा कहने पर 'घी-में स्थित अग्नि से जला' ऐसा ज्ञात होता है, उसी प्रकार रक्तजन्य यह रोग है, ऐसा कहने पर समझना चाहिये कि रक्त को किसी दोष ने दूषित किया होगा ॥८॥

तत्र, अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालजवलीपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः; कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृति रक्तदोषजाः, गुदमुखमेढ्रपाकाश्च, अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः, अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः, तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः, क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः, त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वेन्द्रियायतनदोषजाः इत्येष समास उक्तः, विस्तरं निमित्तानि चैषां प्रतिरोगं वक्ष्यामः ॥९॥

अन्न में-द्वेष, अरुचि, अविपाक, अङ्गों का टूटना, ज्वर, हृल्लास (वमन की इच्छा), तृप्ति (बिना भोजन के) भारीपन, हृदयरोग, पाण्डुरोग, मार्गों की रुकावट, कृशता, मुख के स्वाद में परिवर्तन, अङ्गों में पीड़ा, बिना समय के चेहरे पर झुर्रियाँ आना—बालों का सफेद होना आदि रसजन्य विकार हैं। कुष्ठ, वीसर्प, पिडिका, मशक, नीलिका, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, इन्द्रलुप्त, प्लीहा, विद्रधि, गुल्म, वात-रक्त, अर्श, अर्बुद अङ्गों का टूटना, रक्त-प्रदर, रक्तपित्त आदि रक्तदोषजन्य रोग हैं। गुदा का पाक, मुख का पाक, शिश्न का पाक, अधिमांस, अर्बुद, अर्श, अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश, गलशुण्डिका, अलजी, मांससंघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला आदि मांसजन्य रोग हैं। ग्रन्थि, वृद्धि, गलगण्ड, मेदोजन्य अर्बुद, ओष्ठप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थूलता, अतिस्वेद—आदि मेद-दोषजन्य रोग हैं। अधिक अस्थि, अधिक दन्त, अस्थि में पीड़ा, शूल, कुनख आदि अस्थि दोषजन्य रोग हैं। आँखों के सामने अन्धेरा आना, मूर्छा, भ्रम, पर्वो में मोटी जड़ोंवाली फुन्सियों की

उत्पत्ति, ऊरु और जङ्घा, का मोटा एवं भारी होना, नेत्राभिष्यन्द आदि-मेददोषजन्य रोग हैं। क्लीवता, अप्रहर्ष (मैथुन के विषय में अनिच्छा) शुक्राश्मरी, शुक्रमेह और शुक्रजन्य दोष-शुक्रदोष से उत्पन्न होते हैं। त्वचा के दोष (कुष्ठ-आदि), कान नासिका-आँख में मल का अवरोध या मलों का अधिक आना, अथवा दूषित रूप में बाहर आना ये-मलस्थान-दोषजन्य हैं। इन्द्रियों की अप्रवृत्ति (अपने कार्य में प्रवृत्त न होना) या मिथ्या रूप से प्रवृत्त होना-इन्द्रियस्थानजन्य विकार हैं।

यहाँ पर यह सब संक्षेप में कहा है। विस्तार से इनके कारणों को प्रत्येक रोग में कहेंगे ॥९॥

भवति चात्र—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥१०॥

कहा भी है—

प्रकुपित दोष जब शरीर में इधर उधर दौड़ने लगते हैं, उस समय स्रोतसों के विकार के कारण जिस स्थान पर ये दोष रुक जाते हैं, उसी स्थान पर रोग उत्पन्न हो जाता है ॥१०॥

भूयोऽत्र जिज्ञास्यं किं वातादीनां ज्वरादीनां च नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वा ? इति, यदि नित्यः संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्व एव प्राणिनः स्युः, अथाप्यन्यथा वातादीनां ज्वरादीनां च, 'अन्यत्र वर्तमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवति' इति कृत्वा यदुच्यते वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति तन्न। अत्रोच्यते—दोषान् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति, अथ च न (नित्यः) संबन्धः, यथाहि विद्युद्वाताशनिवर्षाण्याकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यप्याकाशे कदाचिन्न भवन्ति, अथ च निमित्ततस्तत एवोत्पत्तिरिति, तरङ्गबुद्बुदादयश्चोदकविशेषा इव, वातादीनां ज्वरादीनां च नाप्येवं संश्लेषो न परिच्छेदः शाश्वतिकः, अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति ॥११॥

यहाँ पर एक बात जाननी है कि—क्या वात आदि दोषों का ज्वर आदि रोगों के साथ नित्य सम्बन्ध (समवाय) बना रहता है, या नहीं ? यदि इनका नित्यसम्बन्ध है (जिस प्रकार-चन्द्रमा और ज्योत्स्ना का), तो सब प्राणियों को सदा ही रोगी रहना चाहिये और यदि इनका परिच्छेद (पृथक्त्व) मानते हो (जैसा कि-घड़े और कुम्हार का, वस्त्र और जुलाहे में मानते हो) तो वातादि प्रकृतिवाले पुरुषों में ज्वर आदि रोग का या बात रोग का कोई लक्षण नहीं दीखता। अन्यत्र वर्त्तमान भावों के लक्षण अन्यत्र नहीं होते-इस नियम से वात आदि ज्वर आदि के कारण नहीं हैं। इसलिये जो ऊपर कहा कि वात आदि ज्वर आदि का कारण है, यह ठीक नहीं।

इसका उत्तर—ज्वर आदि रोग, दोषों का (वात आदि) परित्याग करके उत्पन्न नहीं होते। और न इनका नित्य सम्बन्ध है। जिस प्रकार विद्युत्, अशनित, वायु और वर्षा आकाश के बिना नहीं रह सकते, और आकाश के रहने पर भी कभी नहीं भी होते और कारणों से ये ही उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरा उदाहरण—पानी में उत्पन्न होनेवाली तरङ्ग एवं बुलबुले भी न तो सदा उत्पन्न रहते हैं और न सदा अनुत्पन्न रहते हैं, कारण से उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार से वात आदि दोषों का ज्वर आदि रोगों के साथ न तो नित्य संश्लेष (सम्बन्ध) ही है और न नित्य पृथक्त्व ही है। कारण से ही इनकी उत्पत्ति हो जो जाती है ॥११॥

भवति चात्र—

विकारपरिमाणं च संख्या चैषां पृथक् पृथक्।
विस्तरेणोत्तरे तन्त्रे सर्वा बाधा च वक्ष्यते ॥१२॥

विकार परिमाण (रोगों की समुदाय-संख्या), इन रोगों की पृथक् पृथक् संख्या (अट्ठारह कुष्ठ, बीस प्रमेह आदि) सब प्रकार की बाधायें (रोग—ज्वर-अतिसार आदि)—विस्तार से उत्तर तन्त्र में कहेंगे ॥१२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने व्याधिसमुद्देशीयो नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः

अथातोऽष्टविधशस्त्रकर्मीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'अष्टविध शस्त्रकर्मीय' अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था। (चरक में शस्त्रकर्म छः[1] कहे हैं-और एकस्थान पर नौ गिने हैं-यथा—छेदन, भेदन, व्यधन, दारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छन, सीवन और एषण) ॥२॥

छेद्या भगन्दरा ग्रन्थिः श्लैष्मिकस्तिलकालकः।
व्रणवर्त्मार्बुदान्यर्शांश्चर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥३॥
शल्यं जतुमणिर्मांससंघातो गलशुण्डिका।
स्नायुमांससिराकोथो वल्मीकं शतपोनकः ॥४॥
अध्रुषश्चोपदंशाश्च मांसकन्द्यधिमांसकः।

निम्न रोग छेदन करने के योग्य हैं। यथा—भगन्दर, कफजन्य (आम) ग्रन्थि, तिलकालक (क्षुद्ररोगाधिकारस्थ); व्रणवर्त्म (क्लिन्न व्रणौष्ठ), अर्बुद (सब), अर्श, चर्मकील, (मांसांकुर), अस्थिगत शल्य, जतुमणि, मांससंघात, गलशुण्डिका, गलित स्नायु, गलितमांस, गलित सिरा, वल्मीक, शतपोनक (व्रण-

---

१ छः शस्त्रकर्म यथा-पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा।
पच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ॥
चरक चि० अ० २५।

विशेष), अध्रुष (मुख रोग), उपदंश, मांसकन्दी (कन्दाकार-मांस) और अधिमांस-इनमें छेदन करना चाहिये ॥३,४॥

भेद्या विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद् ग्रन्थयस्त्रयः ॥५॥
आदितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः ।
प्रमेहपिडकाः शोफः स्तनरोगोऽवमन्थकः ॥६॥
कुम्भीकाऽनुशयी नाड्यो वृन्दौ पुष्करिकाऽलजी ।
प्रायशः क्षुद्ररोगाश्च पुप्पुटौ तालुदन्तजौ ॥७॥
तुण्डिकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाकिणः ।
वस्तिस्तथाऽश्मरीहेतोर्मेदोजा ये च केचन ॥८॥

निम्न रोगों में भेदन करना चाहिये । सान्निपातिक विद्रधि को छोड़कर शेष सब विद्रधियाँ, वात-पित्त-कफजन्य तीनों ग्रन्थियाँ, वात-पित्त-कफजन्य—प्रथम तीन विसर्प, सब वृद्धियाँ, विदारिका, प्रमेहपिड़िका, व्रणशोफ, स्तनविद्रधि, अवमन्थक (शूकदोष में), कुम्भिका, अनुशयी, नाड़ीव्रण, वृन्द (एक वृंद और द्वन्द्वकण्ठरोगों में), पुष्करिका, अलजी, प्रायः सब क्षुद्ररोग, तालुपुप्पुट, दन्तपुप्पुट, तुण्डिकेरी, गिलायु और मुखरोगों में कण्ठशालूक आदि जो रोग पकनेवाले हैं, उनकी पच्यमानावस्था में ही, अश्मरी के निकालने के लिये ही (वैसे-नहीं) वस्ति का और जो मेदोजन्य रोग हैं- उनमें भेदन करना चाहिये ॥५-८॥

लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिह्विका ।
मेदोजो दन्तवदर्भो ग्रन्थिर्वर्त्माधिजिह्विका ॥९॥
अर्शांसि मण्डलं मांसकन्दी मांसोन्नतिस्तथा ।

निम्न रोगों में लेखन करना चाहिये--वात-पित्त-कफ-रक्त-जन्य चार रोहिणी, किलास, उपजिह्विका, दुष्टमेदजन्य ग्रन्थि आदि, दन्तवैदर्भ, नेत्रग्रन्थि, नेत्रवर्त्म अधिजिह्विका, अर्श, मण्डल (कुष्ठ), मांसकन्दी और मांस की वृद्धि (व्रण आदि) में लेखन करना चाहिये ॥९॥

वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्दकोदरम् ॥१०॥

नाना प्रकार की सिराओं, मूत्रवृद्धि और जलोदर में वेधन करना चाहिये ॥१०॥

एष्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये

नाड़ीव्रण, शल्ययुक्त व्रणों में, ऊपर-नीचे-तिरछे (विमार्ग) जानेवाले व्रणों में शलाका द्वारा एषण कार्य करना चाहिये ॥

आहार्याः शर्करास्तिस्रो दन्तकर्णमलोऽश्मरी ॥११॥
शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निचितं गुदे ।

निम्न रोगों में 'आहरण' करना चाहिये । यथा—तीन शर्करायें (मूत्रशर्करा, पादशर्करा और दन्तशर्करा), दाँत का मैल, कान का मैल, अश्मरी, मूढ़गर्भ, शल्य, गुदा में संचित मल का आहरण करना चाहिये ॥११॥

स्राव्या विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादृते ॥१२॥
कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः ।
पाल्यामयाः श्लीपदानि विषजुष्टं च शोणितम् ॥१३॥
अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितश्च ते ।
त्रयस्त्रयश्चोपदंशाः स्तनरोगा विदारिका ॥१४॥
सु (शु) षिरो गलशालूकं कण्टकाः कृमिदन्तकः ।
दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुप्पुटः ॥१५॥
पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयशः ।

निम्न रोगों में स्रावण (स्राव) करना चाहिये । यथा—सन्निपात विद्रधि को छोड़कर शेष पाँचों विद्रधियाँ, कुष्ठ, पीड़ा के सहित वायु, एकदेशजन्य शोफ (अम्ल भोजन निमित्त), पालि के रोग, श्लीपद, विषदूषित रक्त, अर्बुद, विसर्प, पूर्वोक्त (वात-पित्त-कफज) तीन ग्रन्थियाँ, तीन (वात, पित्त, कफजन्य) उपदंश, स्तनविद्रधि, विदारिका, शौषिर, गलशालूक, तालुकण्टक, कृमिदन्त, दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद, दन्तपुप्पुट, पित्त-रक्त एवं कफजन्य ओष्ठरोग एवं बहुत से क्षुद्ररोग स्राव हैं[1] ॥ जैसे कहा भी है—

"कर्म्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा । विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्म्मभिः ॥

सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः ॥१६॥
सद्योव्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः ।

निम्न रोग सीने योग्य हैं—जो रोग मेदोजन्य हों, जो फट गये हों और जिन रोगों में सम्पूर्ण रूप में लेखन कार्य हो चुका हो, चलसन्धि (movable हिलनेवाली) का आश्रय करके जो सद्योव्रण हों—उनको सीना चाहिये ॥१६॥

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मारुतवाहिनः ॥१७॥
नान्तर्लोहितशल्याश्च

निम्न अवस्थाओं में सीना नहीं चाहिये—क्षार या अग्नि अथवा विष से दूषित, मारुतवाही (फुप्फुस आदि में) जिन में अन्दर दूषित रक्त या शल्य हों—उन व्रणों को नहीं सीना चाहिये ॥१७॥

तेषु सम्यग्विशोधनम् ।
पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत् ॥१८॥
अहृतानि यतोऽमूनि पाचयेयुर्भृशं व्रणम् ।
रुजश्च विविधाः कुर्युस्तस्मादेतान् विशोधयेत् ॥१९॥

इनमें भली प्रकार से संशोधन करना चाहिये । क्योंकि—व्रण में जो धूलि, बाल, नख आदि वस्तुयें या हिलती हुई अस्थि होती हैं, इनको यदि बाहर न निकाला जाये तो ये वस्तुयें व्रण को बहुत अधिक पका देती हैं । एवं नाना प्रकार

१ एक रोग में कई कार्य बताये हैं, यथा—अर्बुद में लेखन भेदन, छेदन आदि आवश्यकतानुसार है ।

की तीव्र वेदनायें उत्पन्न करती हैं। इसलिये इन वस्तुओं का शोधन करना चाहिये ॥१६॥

ततो व्रणं समुन्नम्य स्थापयित्वा यथास्थितम् ।
सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा ॥२०॥
शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा बालेन वा पुनः ।
मूर्वागुडूचीतानैर्वा सीव्येद्वेल्लितकं शनैः ॥२१॥

सीने की विधि—व्रण को ऊँचा उठाकर, यथास्थान में स्थित करके (किनारों को पास में मिलाकर), बारीक धागे से अश्मन्तक वृक्ष (अम्ल लोटक) वल्कल से, सन के या रेशम के धागे से, स्नायु (Cat Cut) से अथवा बाल से सीना चाहिये (सीने से पूर्व इनको भी Asputic कर लेना चाहिये)। या मूर्वा, गिलोय की बेल के धागों से धीरे धीरे सीना चाहिये ॥२०,२१॥

सीव्येद् गोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम् ।
ऋजुग्रन्थिमथो वाऽपि यथायोगमथापि वा ॥२२॥

सीना चार प्रकार का है। यथा—वेल्लित, गोफणिका, तुन्नसेवनी, या ऋजु ग्रन्थि[1]। अथवा जैसा उचित समझें, उसी प्रकार से सीना चाहिये ॥२२॥

देशेऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृत्ताङ्गुलद्वयम् ।
आयता त्र्यङ्गुला त्र्यस्रा मांसले चाऽपि पूजिता ॥२३॥
धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोदरोपरि ।
इत्येतास्त्रिविधाः सूचीस्तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः ॥२४॥
कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताग्रपरिमण्डलाः ।
नातिदूरे निकृष्टे वा सूचीकर्मणि पातयेत् ॥२५॥
दूराद् रुजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवलुञ्चनम् ॥२६॥

सूई के भेद—सूईयाँ तीन प्रकार की हैं-यथा-अल्प मांसवाले प्रदेशों में तथा सन्धियों में सीने के लिये सूई गोल-दो अंगुल लम्बी होनी चाहिये। २-मांसल स्थानों के लिये तिकोनी तीन अंगुल लम्बी सूई उत्तम है। ३-मर्मस्थान, फलकोश (अण्डकोष) और उदर पर सीने के लिये धनुष के समान वक्राकार सूई प्रशस्त है। ये तीनों प्रकार की सूइयां आगे से खूब तीक्ष्ण, सुगमता से पकड़ने योग्य होनी चाहिये। मालती-पुष्प के समान इनका वृन्त तथा अग्रभाग गोल होना चाहिये। सीवनकार्य में सूई को व्रणमुख से न तो बहुत दूर और न बहुत समीप त्वचा में प्रविष्ट करना चाहिये। क्योंकि दूर में प्रविष्ट करने से व्रण के किनारे में दर्द होगा, पास में प्रविष्ट करने से व्रण का किनारा कट जायेगा।

वि० मन्तव्य—सूची का अग्र तीक्ष्ण होता है और उसके मूलभाग में धागा डालने के लिये छिद्र होता है। यद्यपि सूई में पृथक् वृन्त नहीं होता परन्तु, जहाँ से वह पकड़ी जाती है वह भाग "वृन्त" कहलाता है ॥२३-२६॥

अथ क्षौमपिचुच्छन्नं सुस्यूते प्रतिसारयेत् ।
प्रियङ्ग्वञ्जनयष्टयाह्वरोध्रचूर्णैः समन्ततः ॥२७॥
शल्लकीफलचूर्णैर्वा क्षौमध्यामेन वा पुनः ।
ततो व्रणं यथायोगं बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥२८॥

सीने के पश्चात् क्रम-भली प्रकार से सीने के पश्चात् रेशम के वस्त्र से और रूई से ढाँप देना चाहिये। इसके ऊपर प्रियंगु (फूल प्रियंगु गावहला), रसांजन, मुलहठी, लोध्र (पठानी लोध) इनका चूर्ण अथवा शल्लकी फल (बीज) के चूर्ण को अथवा क्षौमध्याम (रेशम के वस्त्र की राख) से व्रण के चारों ओर प्रतिसारण कर देना चाहिये। इसके पश्चात् व्रण को यथाविधि बाँधकर व्रणितोपासनीय अध्याय में कहे आहार बिहार को बता देना चाहिये।

वि० मन्तव्य—यहाँ प्रतिसारण का तात्पर्य बुरकना है ॥

एतदष्टविधं कर्म समासेन प्रकीर्तितम् ।
चिकित्सितेषु कार्त्स्न्येन विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥२९॥

यहाँ पर संक्षेप से आठ प्रकार का शस्त्रकर्म कह दिया है। चिकित्सास्थान में सम्पूर्ण रूप से इसको विस्तार से कहेंगे ॥२६॥

हीनातिरिक्तं तिर्यक् च गात्रच्छेदनमात्मनः ।
एताश्चतस्रोऽष्टविधे कर्मणि व्यापदः स्मृताः ॥३०॥

आठ प्रकार के कर्मशास्त्र में चार प्रकार की व्यापद (दोष) हैं। यथा-हीनछेदन (आवश्यकता से सम छेदन करना), अतिरिक्त छेदन (अधिक छेदन करना), तिर्यक्छेदन (तिरछा छेदन), और अपने शरीर (अंगों) का छेदन करना-ये चार दोष हैं।

१ वेल्लित का लक्षण—
"अल्पान्तरन्तु कुटिलं सीव्यते बहु वेष्टनम् ।
यत्तद् वेल्लितकं नाम शाखादौ युज्यते बुधैः ॥"
गोफणिका लक्षण—
"पाटितं योनिगुदयोरन्तरं वा तथाविधम् ।
देशं स्यूत्वा यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया ॥
नातिस्थूले नातिसूक्ष्मे शलाके द्वे निपात्य च ।
तदा सक्तेन सूत्रेण संवेष्ट्य सेवनी कृता ॥
नाम्ना गोफणिका प्रोक्ता दुष्करा मन्दबुद्धिभिः ॥"
तुन्नसेवनी का लक्षण—
"पृथक् पृथक् तु सच्छिन्नं सीव्यते तुन्नसेवनी ।
या योज्या पक्ष्मकोपादौ ॥"
ऋजुग्रन्थि का लक्षण—
"पार्श्वात् पार्श्वान्तरं यावत् ऋजुसूचीं निपात्य च ।
संवेष्ट्याकृष्य सूत्रेण ग्रन्थिर्यैः सन्धिहेतवे ।
क्रियते स ऋजुग्रन्थिरोष्ठादिषु विधीयते ॥"
कविराज हाराणचन्द्र जी की टीका से ।

वि० मन्तव्य--गात्रच्छेदनं, चात्मनः-चिकित्सक का अपने ही अंगुली आदि किसी अवयव पर शस्त्राघात कर बैठना।।३०।।

अज्ञानलोभाहितवाक्ययोगभयप्रमोहैरपरैश्च भावैः।
यदा प्रयुञ्जीत भिषक्कुशस्त्रं तदा स शोषान् कुरुते विकारान्॥

यदि वैद्य अज्ञान के कारण, लोभवश या अहित की दृष्टि से अथवा वाक्ययोग से (यह तो बचा है—इसमें जो-मात्र शस्त्र लगाना चाहिये-ऐसे बचन से), भय से, शस्त्रकर्म में मोह आ जाने से, किसी अन्य प्रयोजन में व्यग्र होने से या इसी प्रकार के अन्य कारणों से, जब वैद्य शस्त्र को बुरी तरह (थोड़ा) प्रयोग करता है, तब दोष अवशेष रह जाते हैं ॥३१॥

तं क्षारशस्त्राग्निभिरौषधैश्च भूयोऽभियुञ्जानमयुक्तियुक्तम्।
जिजीविषुर्दूरत एव वैद्यं विवर्जयेदुग्रविषाहितुल्यम्॥३२॥

जीवन की अभिलाषा करनेवाला रोगी-क्षार, शस्त्र, अग्नि अथवा औषध के अयुक्तियुक्त (विधिरहित) तथा बार-बार (असफल होने पर भी पुनः पुनः) प्रयोग करनेवाले वैद्य को-उग्रविषवाले सर्प के समान (समझकर) दूर से ही परित्याग कर देवे अर्थात् उससे चिकित्सा न करावे।

उक्त ४ व्यापदों में से यह हीन कर्म की व्यापद का वर्णन है। सू० ३३ में अतिकर्म की व्यापद् का वर्णन है। श्लो० ४१ में गात्रच्छेदनं चात्मनः तथा श्लो० ४२ तिर्यक्छेदन का वर्णन है ॥३२॥

तदेव युक्तं त्वति मर्मसन्धीन्
हिंस्यात् सिराः स्नायुमथास्थि चैव।
मूर्खप्रयुक्तं पुरुषं क्षणेन
प्राणैर्वियुञ्ज्यादथवा कदाचित् ॥३३॥

शस्त्र के अतियोग होने पर मर्म सन्धि, सिरा-स्नायु और अस्थि की हानि होती है। मूर्ख वैद्य से प्रयुक्त शस्त्र, कभी-कभी एक क्षण में पुरुष को प्राणों से पृथक् कर देता है ॥३३॥

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो
विचेष्टनं संलयनोष्णते च।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववात-
स्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः॥३४॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत्
सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव।
दशार्धसंख्येष्वपि विक्षतेषु
सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥३५॥

शस्त्र के अतियोग से निम्न लक्षण होते हैं। यथा—भ्रम (चक्कर आना), प्रलाप (बकवाद), पतन (गिरना), प्रमोह (चित्तनाश), विचेष्टन (हाथ-पाँव का चलना), संलयन (सुप्तावस्था में—बे भान रहना), उष्णता (शरीर का परिताप), स्रस्तांगता (शरीर की शिथिलता), मूर्च्छा, ऊर्ध्ववात (श्वास), वात जन्य पूर्वोक्त तीव्र वेदनायें (मन्यास्तम्भ आदि) होती हैं। मांस के धोवन के समान रक्त स्रवित होता है, सब इन्द्रियाँ अपने विषयों में निश्चेष्ट हो जाती हैं। ये मर्मसन्धि, सिरा, स्नायु और अस्थि इन पाँच के व्रणों के सामान्य लक्षण हैं, विशेष लक्षण आगे कहेंगे।

वि० मन्तव्य—दशार्धसंख्य—दश से आधे अर्थात् ५ मर्म अधिष्ठान भेद से ५ प्रकार के हैं, यथा—१—मांस मर्म, २—सिरामर्म, ३—स्नायुमर्म, ४-अस्थिमर्म, ५—सन्धिमर्म। इन पर क्षत—आघात होने से भ्रम आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, हो सकते हैं ॥३४,३५॥

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
रक्तं स्रवेद्वै क्षततश्च वायुः।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तां-
श्छिन्नासु भिन्नास्वथवा सिरासु ॥३६॥

मर्मविद्ध सिरा आदि के लक्षण—

सिरा के विंधने पर—व्रण में से वीरबहूटी के समान रंग का, बहुत-सा रक्त बहता है। वायु नाना प्रकार के रोग (शिरोरोग, अधिमन्थ आदि) उत्पन्न करती है, सिराओं के छिन्न या भिन्न होने पर भी ये विकार होते हैं ॥३६॥

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः
क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि
तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३७॥

स्नायु के विद्ध होने पर—मनुष्य कुबड़ा हो जाता है, शरीर के अवयव अपने काम में असमर्थ हो जाते हैं, क्रियाओं में अशक्ति, तीव्र वेदना, व्रण देर में भरता है ॥३७॥

शोफातिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च
बलक्षयः पर्वसु भेदशोफौ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु
स्यात् सन्धिकर्मोपरतिश्च लिङ्गम् ॥३८॥

सन्धि के विद्ध होने पर—सूजन बहुत बढ़ जाता है, तीव्र वेदना होती है, बल का ह्रास, सन्धियों का सूजन तथा सन्धियाँ टूटती प्रतीत होती हैं। सन्धि का कार्य रुक जाता है, ये लक्षण चलसन्धि और अचलसन्धि-दोनों के क्षतों के हैं ॥३८॥

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु
सर्वास्ववस्थासु न शान्तिरस्ति।
तृष्णाऽङ्गसादौ श्वयथुश्च रुक् च
तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३९॥

अस्थि के विद्ध होने पर—रात-दिन तीव्र (मरणान्त) वेदना रहती है। किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं पड़ती। प्यास, अङ्गों में पीड़ा, शोथ और रूक्षता (रुक्-दर्द) रहती है॥

यथास्वमेतानि विभावयेच्च
लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।
स्पर्शं न जानाति विपाण्डुवर्णो
यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ॥ ४० ॥

शिरादि मर्म के विद्ध होने पर—ये ही पूर्वोक्त लक्षण (अपने-अपने) समझने चाहिए। मांस-मर्म के पीड़ित होने पर रोगी का स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है और मांस का रङ्ग धूसरवर्ण हो जाता है ॥ ४० ॥

आत्मानमेवाथ जघन्यकारी
शस्त्रेण यो हन्ति हि कर्म कुर्वन् ।
तमात्मवानात्महनं कुवैद्यं
विवर्जयेदायुरभीप्समानः ॥ ४१ ॥

जो गर्हित कर्म करनेवाला चिकित्सक-शस्त्र द्वारा छेदन आदि कर्म करता हुआ अपने ही किसी अवयव पर आघात कर बैठता है, उस आत्मघाती कुवैद्य (कुत्सित-निन्दित चिकित्सक) को—आयु-जीवन चाहनेवाला, आत्मवान् (मनस्वी) रोगी अवश्य त्याग देवे—उससे चिकित्सा न करावे ॥४१॥

तिर्यक् प्रणिहिते शस्त्रे दोषाः पूर्वमुदाहृताः ।
तस्मात् परिहरन् दोषान् कुर्याच्छस्त्रनिपातनम् ॥४२॥

शस्त्र के तिर्यक् चलने पर अग्रोपहरणीय अध्याय में कहे—शिरा-स्नायु छेदन आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये दोषों का परिहार करते हुए शस्त्र चलाना चाहिए। (दोष-मांसकन्दी, अतिमात्र वेदना आदि) ॥

मातरं पितरं पुत्रान् बान्धवानपि चातुरः ।
अप्येतानभिशङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥ ४३ ॥
विसृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्कते ।

रोगी मनुष्य माता, पिता, पुत्र एवं सम्बन्धी जनों को भी शंका की दृष्टि से देखता है। परन्तु वैद्य में विश्वास करके अपने शरीर को उसे सौंप देता है, किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं करता ॥ ४३ ॥

तस्मात् पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक् ॥ ४४ ॥

इसलिये वैद्य को चाहिए कि रोगी की पुत्र के समान रक्षा करे ॥ ४४ ॥

धर्मार्थौ कीर्तिमित्येवं सतां ग्रहणमुत्तमम् ।
प्राप्नुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥ ४५ ॥

इस रक्षा का फल—हितकारी कार्यों के करने से, धर्म, अर्थ, कीर्त्ति, सज्जनों से अत्यन्त सत्कार तथा स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित् त्रिभिस्तथा ।
विकारः साध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥ ४६ ॥

कोई रोग एक (छेद्य या स्नेहन) कर्म से सिद्ध होता है, कोई दो कर्मों से, कोई तीन से, और कोई चार से सफल होता है ॥ ४६ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽष्टविधशस्त्रकर्मीयो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः

अथातः प्रनष्टशल्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके अनन्तर 'प्रनष्टशल्य विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं—जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिए कहा था।

वि० मन्तव्य—जो शल्य दीखता नहीं उसको जानने का उपाय है जिस अध्याय में, उसको ॥ १,२ ॥

'शल' 'श्वल' आशुगमने धातुः, तयोराद्यस्य शल्यमिति रूपम् ॥ ३ ॥

'शल' और 'श्वल' ये दो धातु शीघ्रगमन अर्थ में प्रयुक्त होती हैं, इनमें पहले से 'शल्य' शब्द बनता है[१] ॥ ३ ॥

तद् द्विविधं शारीरमागन्तुकं च ॥ ४ ॥

शल्य दो प्रकार के हैं। यथा १—शारीरिक और २—आगन्तुक।

सर्वशरीराबाधकरं शल्यं, तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण शरीर में जिससे पीड़ा होती है, वह शल्य और उसका इस शास्त्र में व्याख्यान है, इसलिए इसको 'शल्यशास्त्र' कहते हैं। यहाँ पर शरीर मन के साथ है। जैसा—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्याय० ॥ ५ ॥

तत्र शारीरं दन्तरोमनखादि-धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः, आगन्त्वपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो भावा दुःखमुत्पादयन्ति ॥ ६ ॥

उनमें शारीरिक शल्य हैं, यथा-दुष्ट-विकृत-दन्त-रोम, नख, श्मश्रु आदि, रसादि धातु, अन्न-मल (पुरीषकर्णमल आदि), और दूषित वात आदि दोष। आगन्तु—जितने पदार्थ (तृण, काष्ठ, पाषाण, लोह, लोष्ट आदि) दुःख उत्पन्न करते हैं, शारीरिक शल्य से पृथक् हैं वे सब आगन्तु शल्य हैं ॥ ६ ॥

अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु, तत्रापि विशेषतो लौहेष्वेव, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य, लोहानामपि दुर्वारत्वादणुमुखत्वाद् दूरप्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः। स च द्विविधः कर्णी, श्लक्ष्णश्च, प्रायेण विविधवृक्षपत्रपुष्पफलतुल्याकृतयो व्याख्याताः, व्यालमृगपक्षिवक्त्रसदृशाश्च ॥ ७ ॥

शल्य के प्रसिद्ध भेद—लोह (स्वर्ण, लोह, चांदी आदि), बांस, वृक्ष, तृण, शृङ्ग अस्थि से बने पदार्थों में 'शल्य' शब्द प्रयुक्त होता है, इनमें भी विशेषकर (स्वर्ण-लोह-त्रपु-चांदी

---

१ कोई आचार्य—'शल' धातु का अर्थ 'हिंसा' मानते हैं, और कोई 'पीड़ा' अर्थ मानते हैं।

आदि धातु) में ही शल्य शब्द व्यवहृत होता है। क्योंकि— इन धातुओं का उपयोग हिंसा कार्य के लिए होता है, इनकी चोट दुर्वार होती है, या सूक्ष्ममुख होने से भी दूर से ही प्रयुक्त करने के द्वारा कार्यसिद्ध होने से बाण ही शल्य पद के लिये विशेष करके गिना है। यह शर--दो प्रकार का है। यथा एक-कर्णी (कर्णवान् बडिश के समान—कांटों से युक्त मुखवाला) और दूसरा—श्लक्ष्ण (चिकना)। ये दो प्रकार के बाण प्रायः नाना प्रकार के वृक्षों के पत्र फलों के आकारवाले तथा सांप, मृग, पक्षी-इनके मुख के समान होते हैं। इस प्रकार से शल्यों की आकृतियाँ कह दीं ॥ ७ ॥

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा पञ्चविधो गति-विशेष ऊर्ध्वमधोऽर्वाचीनस्तिर्यगृजुरिति ॥ ८ ॥

सब प्रकार के छोटे-बड़े शल्यों की गति पाँच प्रकार की होती है। यथा—ऊपर, नीचे, अर्वाचीन, तिरछी और सीधी। अर्वाचीन का अर्थ विपर्यस्त रूप में शरीर में घुसना ॥ ८ ॥

तानि वेगक्षयात् प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु व्रणवस्तुष्व-वतिष्ठन्ते, धमनीस्रोतोऽस्थिविवरपेशीप्रभृतिषु वा शरीरप्रदेशेषु ॥ ९ ॥

ये शल्य वेग में घट जाने से अथवा वेग के प्रतिघात (निवृत्ति) से—त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु आदि व्रण वस्तु में रह जाते हैं। अथवा धमनीछिद्र, स्रोतों में या अस्थिविवर में, या पेशी (मांसखण्ड) आदि शरीरप्रदेशों में रुकते हैं ॥९॥

तत्र शल्यलक्षणमुच्यमानमुपधारय। तत्त द्विविधं— सामान्यं वैशेषिकं च। श्यावं पिडकाचितं शोफवेदनान्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुन्नत मृदुमांसं च व्रणं जानीयात् सशल्योऽयमिति, सामान्यमेतल्लक्षणमुक्तम्। वैशेषिकं तु-त्वग्गते विवर्णः शोफो भवत्यायतःकठिनश्च। मांसगते शाकाभि (ति) वृद्धिः शल्यमार्गानुपसंरोहः पीडनासहिष्णुता चोषपाकौ च; पेश्यन्तरस्थेऽप्येतदेव चोषशोषवर्जं; सिरागते सिराध्मानं सिराशूलं सिराशोफश्च; स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षेपणं संरम्भश्चोग्रा रुक् च, स्रोतोगते स्रोतसां स्वकर्मगुणहानिः, धमनीस्थे सफेन-रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छत्यङ्गमर्दः पिपासा-हृल्लासश्च, अस्थिगते विविधवेदनाप्रादुर्भावः शोफश्च, अस्थिविवरगतेऽस्थिपूर्णताऽस्थिनिस्तोदः संहर्षो बलवांश्च; सन्धिगतेऽस्थिवच्चेष्टोपरमश्च, कोष्ठगत आटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखात्, मर्मगते मर्मविद्धवच्चेष्टते। सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव लक्षणान्यस्पष्टानि भवन्ति ॥ १० ॥

शल्य का लक्षण कहते हैं—शल्य के लक्षण दो प्रकार के हैं। एक सामान्य (साधारण) और दूसरे विशेष। इसमें साधारण लक्षण—श्यावता (कालापन), पिडिकाओं से व्याप्त, शोफ एवं वेदनावान्, बार बार रक्तस्राव होना, बुलबुले आना और मांस का कोमल होना, इन लक्षणों से व्रण को शल्य युक्त समझना चाहिए। ये सामान्य लक्षण हैं। विशेष लक्षण— त्वचा में शल्य होने पर—रङ्ग का परिवर्त्तन, सूजन होती है, जो लम्बी (दीर्घाकार) एवं कठिन होती है। मांस में शल्य होने पर–शोफ की वृद्धि, शल्य मार्गों का न भरना, दबाने पर असहनशीलता, चोष (चूषण की प्रतीति) और पाक होता है। दो पेशियों के मध्य-मांस में शल्य के समान सब लक्षण होते हैं, परन्तु चोष और सूजन नहीं होती। शिरा में शल्य होने पर—सिरा में आध्मान, शिरा में शूल और सिरा में सूजन होती है। स्नायु में शल्य होने पर—स्नायुसमूह ऊपर को उठ जाता है, सूजन और तीव्र वेदना होती है। स्रोतों में शल्य होने पर—स्रोतसों के अपने कार्य एवं गुण नष्ट हो जाते हैं। धमनी में शल्य होने पर—झागमिश्रित रक्त को बाहर निकालते समय वायु बाहर आती है, अङ्गमर्द, पिपासा और वमन की अभिरुचि होती है। अस्थि में शल्य होने पर—नाना प्रकार की वेदनायें उत्पन्न होती हैं और सूजन होती है। अस्थि-च्छिद्र में शल्य होने पर—अस्थि में पूर्णता और अस्थि में पीड़ा होती है, बेचैनी होती है, अथवा संघट्ट होता है। सन्धि में शल्य होने पर—अस्थि के समान लक्षण और चेष्टाओं की हानि होती है। कोष्ठ में शल्य होने पर—आटोप (पीड़ा युक्त वायु का विक्षोभ), आनाह (वात-मूत्रमल का अवरोध), और व्रण के मुख से मूत्रमल और आहार आता है। मर्म में शल्य होने पर–मर्म विद्ध पुरुष के समान चेष्टा करता है। जिन शल्यों की गति सूक्ष्म होती है, उनमें ये ही लक्षण अस्पष्ट रहते हैं ॥१०॥

[1]महान्त्यल्पानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निविष्टानि रोहन्ति, विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्पेश्यस्थिविवरेषु, दोषप्रकोपव्यायामाभिघाताजीर्णेभ्यः प्रचलितानि पुनर्बाधन्ते ॥ ११ ॥

वात आदि दोषों से अदूषित–शुद्ध शरीरवाले पुरुषों में-रोग के अनुकूल प्रविष्ट हुए छोटे या बड़े सब प्रकार के शल्य युक्त व्रण भर जाते हैं। खासकर—गला, स्रोतस्, सिरा त्वचा पेशी एवं अस्थिच्छिद्रों में प्रविष्ट हुए शल्यों के व्रण भर जाते हैं। परन्तु दोष के प्रकोप से, व्यायाम से, चोट के लगने से, अजीर्ण से वे शल्य चलायमान होकर शरीर को पुनः पीड़ित करते हैं ॥ ११ ॥

तत्र, त्वक्प्रनष्टे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोधूम-गोमयमृदितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति

१ कहीं २ पर—'महान्ति' के स्थान पर 'मृदूनि' पाठ है।

तत्र शल्यं विजानीयात्, स्त्यानघृतमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति चालेपो यत्र तत्र शल्यं विजानीयात्, मांसप्रनष्टे स्नेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरुद्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतमनवबद्धं क्षुभ्यमानं यत्र संरम्भं वेदनां च जनयति तत्र शल्यं विजानीयात्, कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरेष्ववस्थितमेवमेव परीक्षेत, सिराधमनीस्रोतःस्नायुप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुते याने व्याधितमारोप्याशु विषमेऽध्वनि यायात्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, अस्थिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान्यस्थीनि बन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसरणाकुञ्चनबन्धनपीडनैर्भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, मर्मप्रनष्टे त्वनन्यभावान्मर्मणामुक्तं परीक्षणं भवति ॥१२॥

त्वचा में शल्य छिपे रह जाने पर—त्वचा को तैल से स्निग्ध एवं स्वेद से स्विन्न करके—मिट्टी, उड़द, जौ, गेहूँ, गोबर, इनको पीसकर मर्दन करने पर जहाँ पर सूजन, लाली या वेदना प्रतीत हो वहाँ पर शल्य समझना चाहिये। अथवा जमा हुआ घी, मिट्टी या चन्दन को घिसकर लेप कर देना चाहिये, जहाँ पर शल्य की उष्णिमा से घी शीघ्र पिघलने लगता है, लेप शुष्क होने लगता है, वहाँ पर शल्य समझना चाहिये। मांस में शल्य नष्ट होने पर—रोगी की स्नेह एवं स्वेदन आदि अविरोधी उपचारों से चिकित्सा करनी चाहिये। स्नेह स्वेदन आदि अविरोधी कार्यों से रोगी को कृश करके—जहाँ पर सूजन या वेदना का अनुभव हो, वहाँ पर ढीले हुए अलग हुए शोथ एवं पीड़ा करनेवाले शल्य को जानना चाहिये। कोष्ठ, अस्थिविवर, सन्धिविवर और पेशियों के मध्य में स्थित शल्य की परीक्षा इसी प्रकार करनी चाहिये। सिरा, धमनी, स्रोत और स्नायु में नष्ट हुए शल्य को जानने के लिये रोगी को टूटे पहियेवाले रथ पर चढ़ाकर ऊँचे-नीचे रास्ते ले जाना चाहिये। इससे जहाँ पर सूजन या वेदना हो, वहाँ पर शल्य समझना चाहिये[1]। अस्थि में शल्य के नष्ट हो जाने पर अस्थि पर स्नेहन और स्वेदन कार्य पर्याप्त समय तक करके इनको बन्धन एवं पीडन (दबाव) से जहाँ पर सूजन या पीड़ा प्रतीत हो, वहाँ पर शल्य समझना। सन्धि में शल्य नष्ट होने पर सन्धियों को स्नेहन एवं स्वेदन से नरम करके, आकुञ्चन, प्रसारण, बन्धन, पीडन आदि कार्यों का उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार करने से जहाँ पर सूजन या वेदना हो, वहाँ पर शल्य समझना चाहिये। मर्म में फँसे शल्य को उपर्युक्त परीक्षा विधि से ही जानना चाहिये। क्योंकि मर्म—मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धि के संयोग का नाम है॥१२॥

सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्कन्धाश्वपृष्ठपर्वतद्रुमारोहणधनुर्व्यायामद्रुतयाननियुद्धाध्वगमनलङ्घनप्लवनप्रतरणव्यायामैर्जृम्भोद्गारकासक्षवथुष्ठीवनहसनप्राणायामैर्वातमूत्रपुरीषशुक्रोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात् ॥१३॥

सामान्य विज्ञानीय उपाय—

हाथी के ऊपर चढ़ने में, घोड़े की पीठ पर, पहाड़ या वृक्ष के ऊपर चढ़ने में, धनुष के तानने में, शीघ्र गमन में, बाहुयुद्ध में, रास्ते की यात्रा में दीवार आदि के लाँघने में, नदी के तैरने में, कूदने में, व्यायाम में, जम्भाई—उद्गार—कास—छींक—थूकने—हँसने—प्राणायाम में, वायु-मूत्र-मल शुक्र के प्रवाहण में, जहाँ पर वेदना या सूजन हो, वहाँ पर शल्य को समझना चाहिये ॥१३॥

भवन्ति चात्र—

यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुताऽपि च ।
घट्टते बहुशो यत्र शूयते रुज्यतेऽपि च ॥१४॥
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति ।
संबाध्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत् ॥१५॥

कहा भी है—

जिस शरीरावयव में—सूई के चुभने की सी व्यथा आदि हों, सुप्तता (स्वाप या शून्यता) हो, भारीपन प्रतीत हो, रोगी बार २ दबाता-छूता हो, शोथ एवं वेदना हो, और जिस स्थान पर दूसरे जन द्वारा दबाने पर रोगी उस स्थान की रक्षा करता हो अर्थात् दबाने से रोकता हो या वेदना का अनुभव करता हो उस शरीरावयव में शल्य समझना चाहिये॥१४,१५॥

अल्पाबाधमशूनं च नीरुजं निरुपद्रवम् ।
प्रसन्नं मृदुपर्यन्तं निराघट्टमनुन्नतम् ॥१६॥
एषण्या सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः ।
प्रसाराकुञ्चनान्नूनं निःशल्यमिति निर्दिशेत् ॥१७॥

निःशल्य के लक्षण—

थोड़ी पीड़ा नहीं होती, सूजन भी नहीं होती, किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता, रोगी प्रसन्नचित्त होता है, अन्त तक कोमल, अनिश्चल और उठा हुआ नहीं होता, ऐसे व्रण को एषणी के द्वारा भली प्रकार से देखकर एवं आकुञ्चन-प्रसारण आदि चेष्टाओं से परीक्षा करके—देश को शल्य रहित समझे॥

अस्थ्यात्मकं भज्यते तु शल्यमन्तश्च शीर्यते ।
प्रायो निर्भुज्यते शार्ङ्गमायसं चेति निश्चयः ॥१८॥

[1] आजकल तो X Ray का साधन सब से उत्तम उपाय है। मर्म—मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपातः।

अस्थि रूप शल्य अन्दर दो-तीन भागों में टूट जाता है, और अन्दर शीर्ण हो जाता है। शृङ्ग एवं लोह (धातु) का शल्य प्रायः कुटिल (टेढ़ा) हो जाता है ॥१८॥

वार्क्षवैणवतार्णानि निर्ह्रियन्ते तु नो यदि।
पचन्ति रक्तं मांसं च क्षिप्रमेतानि देहिनाम् ॥१९॥

वृक्षजन्य, वेणुजन्य या तृणजन्य शल्यों को यदि शरीर से बाहर न निकाला जाये, तो मनुष्यों के रक्त एवं मांस को शीघ्र पका देते हैं ॥१९॥

कानकं राजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकम्।
चिरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात् ॥२०॥

स्वर्ण, चाँदी, ताम्बा, पीतल, सीस-कलई-इनके शल्य बहुत समय तक शरीर में रहने से पित्त-अग्नि के ताप से घुल जाते हैं। इसलिये इनके न निकालने में कोई दोष नहीं है। (विलीयन्ते—का अर्थ घाणेकर जी ने सात्म्य हो जाते हैं' किया है) ॥२०॥

स्वभावशीता मृदवो ये चान्येऽपीदृशा मताः।
द्रवीभूताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः ॥२१॥

कांसी आदि अन्य धातुवों के शल्य भी जो कि स्वभाव से शीतल एवं कोमल हैं वे सब शरीर में द्रव रूप होकर धातुओं के साथ मिलकर एक हो जाते हैं—कुछ हानि नहीं करते।

वि० मन्तव्य—उक्त शल्य पर्याप्त समय तक शरीर में—पूर्ण स्वस्थ शरीर में पड़े रह जाने से विलीन हो जाते हैं। परन्तु तब जब कि ये शल्य अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, अन्यथा नहीं। जैसे गन्धक के योग से अथवा स्वर्ण माक्षिक योग से पुट देने पर स्वर्ण आदि धातु भस्म हो जाते हैं और खाने पर शरीर में विलीन हो जाते हैं—पच जाते हैं, वैसे ही पित्त जिसमें गन्धक आदि पदार्थ होते हैं और रक्त, जिसमें लोह आदि होते हैं—उनके संयोग से शारीरिक ऊष्मा की पुट मिल जाने पर विलय के योग्य होकर विलीन हो जाते हैं। यह स्मरणीय एवं विश्वसनीय है कि जो वस्तु उदर में पित्त के प्रभाव से पच सकती है वह शरीर के किसी अवयव में पित्त का प्रभाव पड़ने पर पच जाती है और शरीर पर क्रिया भी वैसी ही करती है जैसी उदर में पचने पर। काष्ठ एवं मिट्टी उदर में भी नहीं पचते और शल्य रूप में भी नहीं पचते ॥२१॥

विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारूपलानि तु।
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥२२॥

विषाण (सींग), दान्त, केश, अस्थि, बाँस, दारु (काष्ठ), उपल (पाषाण) और मृन्मय (मिट्टी से बने) शल्य शरीर में नहीं टूटते—वैसे के वैसे बने रहते ॥२२॥

द्विविधं पञ्चगतिमत्त्वगादिव्रणवस्तुषु।
यो वेत्ति विष्ठितं शल्यं स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥२३॥

जो वैद्य दो प्रकार के (कर्णी और श्लक्ष्ण) शल्यों को, शल्य की पाँच प्रकार की गति (ऊपर, नीचे, तिरछी, सामने, सीधी), एवं त्वचा आदि व्रण वस्तुओं में शल्य की विविध प्रकार की स्थिति को जानता है, वह वैद्य राजा की चिकित्सा करने योग्य है ॥२३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रनष्टशल्यविज्ञानीयो नाम षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः

अथातः शल्यापनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'शल्यापनयनीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—शल्य के अपनयन—निकालने के उपाय हैं जिसमें ॥१,२॥

शल्यं द्विविधमवबद्धमनवबद्धं च ॥३॥

शल्य दो प्रकार के हैं। एक—अस्थि आदि में विशेषरूप से आसक्त और दूसरा विशेषरूप से आसक्त नहीं—ढीला ॥३॥

तत्र समासेनानवबद्धशल्योद्धरणार्थं पञ्चदश हेतून् वक्ष्यामः। तद्यथा—स्वभावः, पाचनं, भेदनं, दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्ध्मापनं, वमनं, विरेचनं, प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अयस्कान्तो, हर्षश्चेति ॥४॥

इनमें अनवबद्ध (विशेषरूप से न आसक्त) शल्य को निकालने के लिये निम्नलिखित पन्द्रह उपाय हैं। यथा—स्वभाव (प्रकृति), पाचन (अपक्व शल्य का पाचक द्रव्यों से पाक), भेदन (विधारा या वृद्धिपत्र आदि शस्त्रों से फाड़ना), दारण (मिश्रक अध्याय में कहे चिरबिल्व आदि द्रव्यों से), पीड़न, प्रमार्जन (बाल या वस्त्र से पोंछना), निर्ध्मापन (पिप्पली, कट्फल आदि के चूर्ण का नाक में प्रधमन), वमन, विरेचन, प्रक्षालन (पानी आदि से), प्रतिमर्ष (अंगुली आदि से घर्षण), प्रवाहण (विकुन्थन बलपूर्वक बाहर प्रवाह करना), आचूषण (मुख या सींग से चूसना), अयस्कान्त, (चुम्बक) और हर्ष (प्रसन्नता) ये—पन्द्रह उपाय शल्य को निकालने के हैं ॥४॥

तत्राश्रुक्षवथूद्गारकासमूत्रपुरीषानिलैः स्वभावबलप्रवृत्तैर्नयनादिभ्यः पतति। मांसावगाढं शल्यमविदह्यमानं पाचयित्वा प्रकोथात्तस्य पूयशोणितवेगाद् गौरवाद्वा पतति। पक्वमभिद्यमानं भेदयेद्दारयेद्वा। भिन्नमनिरस्यमान पीडनीयैः पीडयेत् पाणिभिर्वा। अणून्यक्षिशल्यानि परिषेचनाध्मापनैर्बालवस्त्रपाणिभिः प्रमार्जयेत्, आहारशेषश्लेष्महीनाणुशल्यानि श्वसनोत्कासनप्रधमनैर्निर्धमेत्, अन्नशल्यानि वमनाङ्गुलिप्रतिमर्शप्रभतिभिः। विरेचनै:

पक्वाशयगतानि। व्रणदोषाशयगतानि प्रक्षालनैः। वातमूत्रपुरीषगर्भसङ्गेषु प्रवाहणमुक्तम्। मारुतोदकसविषरुधिरदुष्टस्तन्येष्वाचूषणमास्येन विषाणैर्वा। अनुलोममनवबद्धमकर्णमनल्पव्रणमुखमयस्कान्तेन। हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेणेति॥ ५॥

इनमें आँसू, छींक, उद्गार, कास, मूत्र, मल और वायु—इन स्वाभाविक शारीरिक शक्ति के कारण—रज आदि शल्य आँख आदि अवयवों से अपने पास बाहर आ जाते हैं। मांस में अन्दर घुसे शल्य—जो कि स्वयं न पकता हो, उसको औषधियों से पकाकर गला देना चाहिये। गल जाने पर पूय—रक्त वेग के कारण अथवा भारीपन से शल्य गिर पड़ता है और जो शल्य स्थान पक जाये, परन्तु स्वयं विदीर्ण न होता हो, उसका शस्त्रों द्वारा भेदन अथवा दारण कर देना चाहिये। जो शल्य भिन्न हो जाये परन्तु शल्य स्वयं बाहर न आता हो, उसको—पीड़न द्रव्यों से या हाथ से दबाकर बाहर करना चाहिए। इन्द्रियों के सूक्ष्म शल्यों को परिषेचन, आध्मापन से अथवा बाल-वस्त्र-हाथों से साफ करना चाहिये। खाते समय कण्ठ नासिका आदि में प्रविष्ट आहार शेष को, श्लेष्मा को, हीनपतित-भ्रष्ट शल्यों को तथा अल्पावयववाले अणु शल्यों को—श्वसन (श्वास), कास, प्रधमन द्वारा बाहर निकालना चाहिये। अन्नशल्य को वमन द्वारा अंगुली आदि से घर्षण करके निकालना चाहिए। पक्वाशय में स्थित शल्यों को विरेचन द्वारा, व्रण दोष (पूय) एवं व्रण की गुहा में प्रविष्ट अन्य शल्यों को प्रक्षालन द्वारा, वायु-मूत्र-मल और गर्भ की अप्रवृत्ति में प्रवाहण करना चाहिए। वायु-पानी, विष युक्त रक्त को, दूषित दूध को मुख या सींग द्वारा चूसकर बाहर करना चाहिये। ऋजुस्थित अनवबद्ध, (विशेष रूप से न फँसे), अकर्ण (अनुत्तुण्डित, कण्टकवाले मुखों से रहित), विस्तृत मुखवाले व्रण में से शल्य को अयस्कान्त द्वारा निकालना चाहिए। अनेक कारणों से उत्पन्न, हृदय में स्थित शोकशल्य को हर्ष द्वारा बाहर करना चाहिये।

वि० मन्तव्य—अक्षशल्यानि—अक्षों-इन्द्रियों के अधिष्ठानों (नेत्र, कर्णच्छिद्र नासारन्ध्र आदि) में से—बाल—बालों की कूची या वेणी, वस्त्र की बत्ती आदि पाणि-अंगुली-नख से। अन्नशल्य आमाशयगत अन्नशल्य को वमन से, दन्त या कण्ठ में फँसे अन्नशल्य को अंगुली से या नख से॥५॥

सर्वशल्यानां तु महतामणूनां वा द्वावेवाहरणहेतू भवतः—प्रतिलोमोऽनुलोमश्च॥ ६॥

सब प्रकार के बड़े—या छोटे शल्यों को निकालने की विधियाँ दो ही प्रकार की हैं—एक प्रतिलोम और दूसरी अनुलोम॥ ६॥

तत्र प्रतिलोममर्वाचीनमानयेत्, अनुलोमं पराचीनम्।

इनमें जो शल्य शरीर के अन्दर दूर तक प्रविष्ट नहीं हुआ हो (अर्वाचीन)—उसको उसी प्रवेश-मार्ग से बाहर निकालना चाहिए। क्योंकि दूसरे मार्ग से निकालने पर अविद्ध मार्ग भी विद्ध हो जाता है। और जो शल्य शरीर में बहुत दूर चला गया हो (पराचीन)—उनको अगले पराचीन प्रदेश में लाकर बाहर करना चाहिए। अनुलोमन-सीधा।

वि० मन्तव्य—अर्वाचीन जो अवयव में उआर रहता है और पराचीन जो पार चला जाता है। अर्वाचीन को-प्रतिलोम—उल्टा अर्थात् जिधर से धँसा है उधर ही से निकाले और पराचीन को—जिधर जा निकला है अर्थात् पार से ही निकाले॥ ७॥

उत्तुण्डितं छित्त्वा निर्घातयेच्छेदनीयमुखम्॥८॥

उत्तुण्डित (उन्नत काँटों से व्याप्त) मुखवाले शल्य को निकालने के लिए दूसरी ओर काटकर फिर हाथ-मुद्गर से इधर-उधर हिलाकर अनुलोम या प्रतिलोम मार्ग से इसी प्रकार बाहर करना चाहिये॥८॥

छेदनीयमुखान्यपि कुक्षिवक्षःकक्षावंक्षणपर्शुकान्तरपतितानि च हस्तशक्यं यथामार्गेण हस्तेनैवापहर्तुं प्रयतेत॥ ९॥

कुक्षि, वक्ष, कक्षा, वंक्षण, पर्शुकाओं के बीच में फँसे शल्य को हाथ से ही निकालने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ९॥

हस्तेनवापहर्तुमशक्यं विशस्य शस्त्रेण यन्त्रेणापहरेत्।

यदि हाथ से बाहर न निकाला जा सके तो शस्त्र या यन्त्र से काटकर बाहर निकालना चाहिये॥ १०॥

भवति चात्र—

शीतलेन जलेनैनं मूर्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्च तम्॥११॥

कहा भी है—

मूर्च्छित होते हुए पुरुष को शीतल जल से सिंचन करना चाहिये। क्षीर तर्पण आदि से इस रोगी के मर्मों (मस्तिष्क) की रक्षा करते हुए—बार-बार आश्वासन देते रहना चाहिये।

वि० मन्तव्य—जब शल्य को खींचकर निकाला जाता है तब इतना कष्ट होता है कि रोगी मूर्च्छित हो जाता है। उस समय उक्त उपचार करे॥ ११॥

ततः शल्यमुद्धृत्य निलोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदार्हमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्यावदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां बद्ध्वाऽऽचारिकमुपदिशेत्। (सिरास्नायुविलग्नं शलाकादिभिर्विमोच्यापनयेत्, श्वयथुग्रस्तवारङ्गं समवपीड्य श्वयथुं, दुर्बलवारङ्गं कुशादिभिर्बद्ध्वा।)॥१२॥

इसके पश्चात् शल्य को निकालकर व्रण को रक्तरहित बनाकर, स्वेदयोग्य (व्रण) को अग्नि, घी आदि से स्वेद देकर,

आग से जलाने योग्य को जलाकर, अस्वेद्य एवं रक्तरहित व्रण पर घी मधु का लेप लगाकर पट्टी बाँधकर—आहार-विहार का उपदेश कर देना चाहिए। (सिरा-स्नायु में फँसे शल्य को शलाका आदि द्वारा पृथक् करके निकालना चाहिये। हाथ से ग्रहण करने योग्य शल्यको, सूजन को दबाकर, बाहर निकालना चाहिये। और जो शल्य से ग्रहण करने योग्य न हो, निर्बल हो—उसको कुशादि से बांधकर बाहर करना चाहिये)।

वि० मन्तव्य—शल्य के गात्र का नाम "वारङ्ग" है। यदि शोथ—सूजन से वारङ्ग आच्छादित हो गया हो अर्थात् ढंक गया हो तो शोथ को दबाकर उसे नगा कर लो और फिर पकड़कर निकाल लो। यदि खींचने में वारङ्ग के टूट जाने का भय हो तो उसे डोरा से बाँधकर निकालो ॥१२॥

हृदयमभितो वर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिरुद्वेजितस्यापहरेद्यथामार्गं; दुरुपहरमन्यतोऽपबाध्यमानं पाटयित्वोद्धरेत् ॥१३॥

उद्विग्न हृदयवाले पुरुष के हृदय के समीप स्थित शल्यको निकालते समय—रोगी को शीतल जल से सान्त्वना देकर—शल्य को प्रवेश मार्ग द्वारा बाहर निकालना चाहिये ॥१३॥

अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत, अशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुपरिगृहीतस्य यन्त्रेण ग्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविभज्य धनुर्गुणैर्बद्ध्वैकतश्चास्य पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकावके बध्नीयात्, अथैनं कशया ताडयेद्यथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्धरति, दृढां वा वृक्षशाखामवनम्य तस्यां पूर्ववद् बद्ध्वोद्धरेत ॥ १४ ॥

अस्थिच्छिद्र में प्रविष्ट या अस्थि में जोर से आसक्त शल्य को निकालने के लिये रोगी को पांव से थामकर यन्त्र द्वारा निकालना चाहिए। यदि इस प्रकार से शल्य बाहर न आये तो रोगी को बलवान् पुरुषों द्वारा पकड़वाकर, यन्त्र द्वारा शल्य के ग्रहण करने योग्य भाग को पकड़कर, टेढ़ा करके मौर्वी (तांत) या धागे से एक पार्श्व में बाँधकर, धागों के दूसरे प्रान्त को पञ्चाङ्गी[१] बन्धन से बंधे घोड़े के मुख में लगाम लगाकर उसमें बाँध देना चाहिये। अब घोड़े को चाबुक से मारना चाहिये। जिससे कि घोड़ा सिर को जोर से ऊँचा उठाये। इस प्रकार करने से शल्य बाहर निकल आता है। अथवा वृक्ष की मजबूत शाखा को झुकाकर धागों का एक पार्श्व इसमें बाँध देना चाहिये और शाखा को छोड़ देना चाहिये। शाखा ऊपर जायेगी, उसके झटके से शल्य बाहर आ जायेगा।

वि० मन्तव्य—भीमसेन जैसे अस्थिसार मानवों तथा हस्ती आदि की अस्थि में धँसे—खुभे शल्य को यदि मानव के हाथ न निकाल सकें तो उक्त विधियों का उपयोग किया जाता है॥

अदेशोत्तुण्डितमष्ठीलाश्ममुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव यन्त्रेण ॥१५॥

कुक्षि आदि अच्छेदनीय प्रदेशों में अस्थि के अन्दर प्रविष्ट उत्तुण्डित शल्य को निकालने के लिये पत्थर अष्ठीला (शिला), मुद्गर इनमें से किसी एक द्वारा चोट लगाकर हिलाना चाहिये, फिर यन्त्र से पकड़कर यथामार्ग (उचित रास्ते) से बाहर कर लेना चाहिये।

वि० मन्तव्य— तुण्ड अर्थात् मुख (शल्य का मुख)—अग्रभाग—यदि उत्—उधर—पार चला गया हो और वह अदेश—अमार्ग (वाग्भट्ट सू० अ० २८ श्लो० ४३ देखिये) स्रोतोमय देश (कुक्षि वक्षस् आदि) से भिन्न देश में अर्थात् सक्थि बाहु आदि अवयव में स्थित हो तो उस शल्य को पत्थर आदि के प्रहार से ठोककर जिधर से धँसा है उधर से निकालो। उत्तुण्डित शल्य वह है जिसका तुण्ड पार चला गया हो। इसके मुखपर एकमुखी लोह नाली रखकर प्रहार करे, अन्यथा तीखा मुख मुड़ जाता है और उस ओर से निकलने में कठिनाई—कष्ट होता है, यह वाग्भट्ट की सम्मति है। उक्त अ० २८ श्लो ४१ देखिये ॥१५॥

विमृदितकर्णानि कर्णवन्त्यनाबाधकरदेशोत्तुण्डितानि पुरस्तादेव ॥१६॥

कर्णवाले शल्य जो कि पीड़ा न करनेवाले प्रदेशों में लगे हों, उनके कर्ण को रगड़ करके, प्रवेश मार्ग से (प्रतिलोम) बाहर निकालना चाहिये।

वि० मन्तव्य—कर्णवन्ति—कर्ण—कानवाले या पक्षवाले शरशल्य कर्णवान् कहे जाते हैं। यदि कर्णवान् शर उस पार निकल गया हो तो उन कर्णों को रेती से रगड़ दो, साफ हो जाने पर प्रवेश मार्ग से निकाल दो ॥१६॥

जातुषे कण्ठासक्ते कण्ठे नाडीं प्रवेश्याग्नितप्तां च शलाकां, तयाऽवगृह्य शीताभिरद्भिः परिषिच्य स्थिरीभूतं शल्यमुद्धरेत् ॥१७॥

जिस समय लाख आदि वस्तु गले में फँस जाये, उस समय गले में एक नलिका को डालकर उसमें तामे

---

१ पञ्चाङ्गी का लक्षण-(१) पञ्चानामङ्गानां चतुर्णां पादानां मुखसमाहितानां समाहारः पञ्चाङ्गी-बन्धविशेषः ॥

(२) त्वक्पत्रकुसुमं मूलं फलमेकस्य शाखिनः।
एकत्र मिलितञ्चैतत् पञ्चाङ्गमिति संज्ञितम् ॥

इन पाँचों अङ्गों का समाहार—पञ्चाङ्गी—इनसे बांधना चाहिये। हाराणचन्द्र जी ने इसका सम्बन्ध मनुष्य के साथ किया है।

आदि की शलाका को (अग्नि में) गरम करके, रोगी के गले में प्रविष्ट करके, लाख आदि को उससे पकड़कर-शीतल जल से सिंचन करके, स्थिर होने पर बाहर निकाल लेना चाहिये।

वि० मन्तव्य—ताम्र की अग्नितप्त शलाका लाख में धँस जाती है, शीतल जल के सिंचन से शीतल होकर शलाका में लाख सट जाती है, शलाका के साथ बाहर आ जाती है॥१७॥

अजातुषं तु जतुमधूच्छिष्टप्रलिप्तया शलाकया पूर्वकल्पेनेत्येके ॥१८॥

यदि लाख आदि वस्तु न हो तो, शलाका पर मोम या लाख लगाकर आग में गरम करके, पूर्व की भाँति गले में प्रविष्ट करके वस्तु निकालनी चाहिये। गरम लाख के साथ वह वस्तु चिपक जायेगी ॥१८॥

अस्थिशल्यमन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्तमवेक्ष्य केशोण्डुकं दृढैकदीर्घसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं पाययेदाकण्ठात् पूर्णं कोष्ठं च वामयेत्, वमतश्च शल्यैकदेशसक्तं ज्ञात्वा सूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्; मृदुना वा दन्तधावनकूर्चकेनापहरत् प्रणुदेद्वाऽन्तः। क्षतकण्ठाय च मधुसर्पिषी लेढुं प्रयच्छेत त्रिफलाचूर्णं वा मधुशर्कराविमिश्रम् ॥१९॥

अस्थिशल्य (मछली का शल्य आदि) या अन्य इसी प्रकार का शल्य जब गले में तिरछा फंस जाये, तब बालों से बनी कूर्ची के एक पार्श्व में दृढ़ सूत्र बांधकर रोगी को गले तक द्रव भोजन के साथ पिला देना चाहिये। पेट भर जाने पर रोगी को वमन कराना चाहिये। वमन करते समन शल्य को एक देश में फंसा समझकर धागे को जोर से सहसा बाहर खींचना चाहिये, इससे शल्य बाहर आ जायेगा। मृदुशल्य को करञ्ज आदि दातन की कूची से अटकाकर निकालना चाहिए। शल्य बाहर न निकले तो इसको अन्दर की ओर धकेल देना चाहिए। यदि गले में व्रण हो जाये तो रोगी को घी और शहद अथवा मधु एवं शर्करा के साथ त्रिफला का चूर्ण चाटने के लिये देना चाहिए ॥१९॥

उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेद् धुनीयाद्वामयेद् वा भस्मराशौ वा निखनेदामुखात् ॥२०॥

पानी में डूबने आदि से जब जल पेट में भर जाये तब रोगी का शिर नीचे की ओर करके दबाना चाहिये। उदर को हिलाना चाहिये, वमन कराना चाहिये। मुखपर्य्यन्त राख में प्रविष्ट करना चाहिये। नासिका श्वास के लिये खुली रहनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—गले तक राख में दबाने से पानी सूख जाता है। देखा गया है कि पाँव एवं उदर के शोथ भी उक्त विधि से उतर जाते हैं। उलटा करने से उदर का पानी गल २ कर के निकल जाता है ॥२०॥

ग्रासशल्ये तु कण्ठासक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात्, स्नेहं मद्यं पानीयं वा पाययेत् ॥२१॥

यदि गुप्तशल्य (भोजन का ग्रास) कण्ठ में फंस जाय तो दूसरा मानव-निःशंक होकर बतलाए बिना ही ग्रीवा के पिछली ओर मुक्का से प्रहार करे। इस प्रकार ग्रास शल्य बाहर निकल जाता है। यदि गले में फंसा हो तो द्रव घृत अथवा तैल अथवा मद्य अथवा जल पिला देवे। कण्ठ—श्वास मार्ग का नाम है और गल आहार मार्ग का नाम है। ग्रीवा में दोनों मार्ग आगे पीछे स्थित हैं। श्वास मार्ग में ग्रास अथवा जल आदि द्रव पदार्थ जाने पर स्वतः भी बाहर आ जाता है और शल्य निकल जाता है। ये भी शल्य ही कहे जाते हैं, क्योंकि मनस् एवं शरीर को बाधा पहुँचानेवाला कोई भाव शल्य कहलाता है॥

बाहुरज्जुलतापाशैः कण्ठपीडनाद् वायुः प्रकुपितः श्लेष्माणं कोपयित्वा स्रोतो निरुणद्धि, लालास्रावं फेनागमनं संज्ञानाशं चापादयति, तमभ्यज्य संस्वेद्य शिराविरेचनं तस्मै तीक्ष्णं विदध्याद्रसं च वातघ्नं दद्यादिति ॥२२॥

बाहु, रस्सी या लता द्वारा गला घोटने पर-(गला दबाने पर) वायु कुपित होकर कफ को कुपित करके स्रोतों को रोक देती है। इससे-मुख में लालास्राव, झाग का आना, सज्ञानाश उत्पन्न होता है। चिकित्सा-रोगी की तैल आदि से मालिश करकें, स्वेदन देकर, तीक्ष्ण शिरोविरेचन देना चाहिये। वातनाशक मांसरस देना चाहिये[1]।

वि० मन्तव्य—उक्त कारणों से कण्ठश्वास मार्ग का पीड़न होने पर श्वासवाही मार्ग पर शोथ हो जाने से अवरोध हो जाता है। पाश आदि निकाल देने पर भी उक्त लक्षण हो जाते हैं और उक्त उपचार करने पर जीवन बच जाता है और यदि कण्ठ घुटने पर मृत्यु ही हो गई हो तो........॥२२॥

भवन्ति चात्र—

शल्याकृतिविशेषांश्च स्थानान्यावेक्ष्य बुद्धिमान्।
तथा यन्त्रपृथक्त्वं च सम्यक् शल्यमथाहरेत् ॥२३॥
कर्णवन्ति तु शल्यानि दुःखाहार्याणि यानि च।
आददीत भिषक् तस्मात्तानि युक्त्या समाहितः ॥२४॥
एतैरुपायैः शल्यं तु नैव निर्यात्यते यदि।
मत्या निपुणया वैद्यो यन्त्रयोगैश्च निर्हरेत् ॥२५॥
शोथपाकौ रुजश्चोग्राः कुर्याच्छल्यमनाहृतम्।
वैकल्यं मरणं चापि तस्माद्यत्नाद्विनिर्हरेत् ॥२६॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि विशेष आकृति शल्यों को, शल्य के स्थानों (आंख, कान, नासिका आदि) को देखकर-

१ इनकी चिकित्सा के लिये--लेखक की न्यायवैद्यक पुस्तक या Medical-jurisprudence देखिये।

भिन्न भिन्न यन्त्रों से शल्य को बाहर निकाले। कर्णवाले शल्य या जो अन्य शल्य कठिनाई से बाहर निकलते हैं, उनको सावधानी से एवं युक्तिपूर्वक बाहर निकाले। यदि इन उपर्युक्त उपायों से शल्य बाहर न निकलता हो, तो वैद्य को चाहिये कि अपनी चतुर बुद्धि द्वारा अनुक्त यन्त्रों की सहायता से बाहर निकाले। क्योंकि यदि शल्य बाहर नहीं निकलता तो सूजन, पाक, तीव्र-वेदना, बेचैनी और मृत्यु उत्पन्न कर देता है। इसलिये यत्नपूर्वक शल्य को बाहर निकालना चाहिये ॥२३-२६॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने शल्यापनयनीयो नाम सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः

अथातो विपरीताविपरीतव्रणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'विपरीत अविपरीत व्रणविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा।
ख्यापयन्ति भविष्यत्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥३॥

जिस प्रकार फूल—फल के, धूम--अग्नि के, मेघ-जलवृष्टि के भविष्य को बता देते हैं, उसी प्रकार रिष्ट (जिन लक्षणों के प्रकट होने पर मृत्यु निश्चित है--उन लक्षणों को रिष्ट कहते हैं) लक्षण मृत्यु को बता देते हैं।

वि० मन्तव्य—मृत्यु सूचक लक्षण या लक्षणों का नाम 'रिष्ट' तथा 'अरिष्ट' है ॥३॥

तानि सौक्ष्म्यात् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमात्।
गृह्यन्ते नोद्गतान्यज्ञैर्मुमूर्षोर्न त्वसंभवात् ॥४॥

मुमूर्षु (मरनेवाले) प्राणी के रिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं, पर मूर्खों द्वारा वे—सूक्ष्म होने से अथवा व्यक्त लक्षण भी प्रमाद से (ध्यान न देने से), अथवा शीघ्र ही लुप्त हो जाने से जाने नहीं जाते, यह नहीं कि रिष्ट-लक्षणों की उत्पत्ति ही नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के पूर्व रिष्ट लक्षण उत्पन्न अवश्य होते हैं, भले ही किसी के ध्यान में आवे अथवा न आवे। अरिष्ट शास्त्र का कथन है कि मृत्यु के पूर्व अरिष्ट लक्षण अवश्य उत्पन्न होते हैं ॥४॥

ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥५॥

रिष्ट लक्षणों की उत्पत्ति होने पर मृत्यु अवश्य होती है, परन्तु कभी २–राग-द्वेष रहित ब्राह्मणों द्वारा अथवा रसायन सेवन में, तप तथा जप में तत्पर रहने से मृत्यु का निवारण—(रोक थाम) किया जा सकता है ॥५॥

नक्षत्रपीडा बहुधा यथा काले विपच्यते।
तथैवारिष्टपाकं च ब्रुवते बहवो जनाः ॥६॥

जिस प्रकार से सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्रों का फल बहुत समय पीछे होता है, उसी प्रकार से रिष्ट लक्षणों का फल-कालान्तर में होता है, ऐसा बहुत विद्वानों का मत है[1] ॥६॥

असिद्धिमाप्नुयाल्लोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः।
अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक् ॥७॥

जिस व्यक्ति की आयु चली गई ऐसे पुरुष की चिकित्सा करने से वैद्य को लोक में असफलता (धर्म, अर्थ, काम की हानि) होती है। इसलिये कुशल वैद्य को चाहिये कि यत्नपूर्वक रिष्ट लक्षणों की परीक्षा करे ॥७॥

गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभावतः।
वैकृतं यत् तदाचष्टे व्रणिनः पक्वलक्षणम् ॥८॥

जब व्रणी पुरुष के गन्ध, वर्ण, रस आदि पंचेन्द्रियों के स्वाभाविक (प्राकृत) विषयों में परिवर्त्तन (विकृति) आ जाये, तब व्रणी पुरुष-पक गया--अतः गिरने (मरने) वाला है, ऐसा कहना चाहिये। क्योंकि पकने के पश्चात् गिरने की ही अवस्था आती है ॥८॥

कटुस्तीक्ष्णश्च विस्रश्च गन्धस्तु पवनादिभिः।
लोहगन्धि तु रक्तेन व्यामिश्रः सान्निपातिकः ॥९॥
लाजातसीतैलसमाः किंचिद्विस्राश्च गन्धतः।
ज्ञेयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतोऽन्यद् गन्धवैकृतम् ॥१०॥

प्राकृतिक गन्ध – कटुगन्ध--वायु से, तीक्ष्ण गन्ध पित्त से, विस्र गन्ध-कफ से, लोह की गन्ध-रक्त से तीनों की सम्मिलित गन्ध-सन्निपात से, लाज गन्ध—वातपित्त से, अलसी के तेल की गन्ध-वातकफ से, और कुछ कुछ विस्र (आमगन्ध) गन्ध-पित्त-कफ से होती है—ये स्वाभाविक गन्ध हैं ॥९,१०॥

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ॥११॥
श्ववाजिमूषिकध्वाङ्क्षपूतिवल्लूरमत्कुणैः।
सगन्धाः पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गर्हिताः ॥१२॥

इन प्राकृत गन्धों से दूसरी सब गन्ध-वैकृत समझनी चाहिये। यथा-मद्य, अगुरु, घी, जाति (चमेली), कमल, चन्दन और चम्पा के समान गन्ध, एवं दिव्य (उत्तम) गन्ध, मरणासन्न पुरुषों के व्रणों

---

१ "होरायां नवमे सूर्यः सप्तमे च शनैश्चरः।
एकादशे गुरुः शुक्रो मासमेकं न जीवति ॥
अशुभं लग्नसम्प्राप्तं षष्ठाष्टमे निशाकरः।
शनैश्चरो हि बन्धुस्थो द्विमासे मृत्युमृच्छति ॥"

में होती है । श्वा (कुत्ते), वाजी (घोड़ा) मूषिका (चूहा), ध्वांक्ष (कौवा), पूतिवल्लूर (सड़ा-शुष्क मांस), मत्कुण (खटमल), इनके समान गन्ध या कीचड़ की गन्ध अथवा भूमि की गन्ध जिन व्रणों में से आती हो, वे भी व्रण निन्दित हैं ॥११,१२॥

कुङ्कुमध्यामकङ्कुष्ठसवर्णाः पित्तकोपतः ।
न दह्यन्ते न चूष्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१३॥
कण्डूमन्तः स्थिराः श्वेताः स्निग्धाः कफनिमित्ततः ।
दूयन्ते वाऽपि दह्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१४॥
कृष्णास्तु ये तनुस्रावा वातजा मर्मतापिनः ।
स्वल्पामपि न कुर्वन्ति रुजं तान् परिवर्जयेत् ॥१५॥

कुंकुम (केशर), ध्याम (ईषत् कृष्ण), कंकुष्ठ (स्वर्णक्षीरी का निर्यास) के समान व्रण पित्त के प्रकोप से व्रणों में होता है । इस प्रकार के व्रणों में न तो दाह होता है और न चूषण के समान वेदना होती है, अतः वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर दे । कफ के प्रकोप से व्रण कण्डूयुक्त, स्थिर, श्वेत और स्निग्ध होते हैं । इन व्रणों में पीड़ा होती है, अथवा जलन भी होती है, वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर देवे । वायु के कारण व्रण काले, पतले स्राववाले एवं मर्मस्थान को पीड़ित करते हैं । यदि इन वातजन्य व्रणों में थोड़ी-सी भी वेदना न हो तो वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर दे ॥

क्ष्वेडन्ति घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः ।
त्वङ्मांसस्थाश्च पवनं सशब्दं विसृजन्ति ये ॥१६॥
ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥

शब्द वैकृत्य—जिन व्रणों में खट-खट शब्द हो या घुर्घुराहट होती हो, या जो व्रण जलते हुए प्रतीत हों, त्वचा-मांस में स्थित व्रणों में यदि वायु शब्द के साथ निकले, मर्म-स्थानों में न उत्पन्न होने पर भी जिन व्रणों में अत्यन्त वेदना हो वे असाध्य हैं ॥१६॥

दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिःशीताश्च ये व्रणाः ॥१७॥
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ।

स्पर्श वैकृत—जो व्रण अन्दर से बहुत जलते हों, और बाहर से शीतल हों, या जो व्रण बाहर से बहुत जलते हों और अन्दर से शीतल हों—वे असाध्य है ॥१७॥

शक्तिध्वजरथाः कुन्तवाजिवारणगोवृषाः ॥१८॥
येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादकृतयस्तथा ।
चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति चानवचूर्णिताः ॥१९॥

आकृतिविशेष वैकृत--जिन व्रणों में, शक्ति, कुन्त (भाला), ध्वजा, रथ, घोड़ा, हाथी, गाय, बैल अथवा महल की आकृतियाँ दिखाई देती हों और जो व्रण विना चूर्ण (प्रक्षेप) के—चूर्ण किये (प्रतिसारण किये) प्रतीत हों वे भी असाध्य हैं ॥१८,१९॥

प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥२०॥

उपद्रव—जिन रोगियों के प्राण क्षीण हो गये हों, मांस क्षीण हो गया हो, श्वास-कास-अरोचक रोग से जो पीड़ित हों, जिन व्रणों में पूय-रक्त बहुत बढ़ा हो, एवं मर्म स्थानों में जो व्रण हों वे असाध्य हैं ॥२०॥

क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिद्ध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेत्तानपि प्राज्ञः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥२१॥

उचित रीति से प्रारम्भ में चिकित्सा क्रम करने पर भी जो व्रण अच्छे न होते हों, बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि अपने यश की रक्षा के कारण इनका भी परित्याग कर दे[1] ॥२१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतव्रण-विज्ञानीयो नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनविंशत्तमोऽध्यायः

अथातो विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इनके आगे विपरीताविपरीत दूत-शकुन स्वप्न-निदर्शनीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं । जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में अशुभ तथा शुभदूत, दूत की चेष्टाएँ, वैद्य की चेष्टाएँ, दूत तथा वैद्य के शकुन तथा स्वप्नों का वर्णन है ॥१,२॥

दूतदर्शनसंभाषा वेषाश्चेष्टितमेव च ।
ऋक्षं वेला तिथिश्चैव निमित्तं शकुनोऽनिलः ॥३॥
देशो वैद्यस्य वाग्देहमनसां च विचेष्टितम् ।
कथयन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥४॥

दूत के दर्शन, दूत का सम्भाषण, दूत का वेश, दूत की चेष्टायें, ऋक्ष—(आर्द्रा आदि नक्षत्र), वेला—मध्याह्न आदि, तिथियाँ—चतुर्थी आदि, निमित्त—सर्प आदि का दर्शन, शकुन—पक्षी आदि की आवाज, अनिल—मृदु स्वर वायु, देश—वैद्य का भूमिभाग, वैद्य की वाणी दैहिक एवं मानसिक चेष्टायें—रोगी के शुभ, अशुभ भावों को कह देती हैं ॥३,४॥

पाख(ष)ण्डाश्रमवर्णानां सपक्षाः कर्मसिद्धये ।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥५॥
नपुंसकं स्त्री बहवो नैककार्या असूयकाः ।
गर्दभोष्ट्ररथप्राप्ताः प्राप्ता च स्युः परम्पराः ॥६॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

पाषण्ड (कापालिक), आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास), वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र), ये यदि रोगी

---

[1] यहाँ पर केवल निदर्शनमात्र है । जहाँ पर भी प्राकृत लक्षण से वैकृत दिखाई दे, वहीं पर रिष्ट लक्षण समझना चाहिये । कहा भी है—

"अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः ।
विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत् ॥"

के अपने पक्ष में (कापालिक का कापाली, ब्रह्मचारी आदि) हों तो चिकित्साकार्य में सफलता मिलती है। और यदि ये अपने पक्ष में विपरीत हों (कापालिक का ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी का कापालिक) तो दूत चिकित्साकर्म में विपरीत होते हैं। नपुंसक, स्त्री, बहुत से दूत और जो अनेक दूत एक ही अभिप्राय से न आयें, परस्पर निन्दा करते हुए, गधे या ऊँट की सवारी पर चढ़कर, या एक-दूसरे के पीछे लगातार पंक्ति बनाकर—जो दूत वैद्य के समीप आते हैं, वे सब निन्दित हैं॥

पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः ॥७॥
आर्द्रजीर्णापसव्यैकमलिनोद्ध्वस्तवाससः।
न्यूनाधिकाङ्गा उद्विग्ना विकृता रौद्ररूपिणः ॥८॥

पाश (पशुओं को बाँधनेवाले रज्जु), दण्ड (डण्डा), आयुध (खड्ग, शक्ति आदि) को धारण किये, काले पीले-लाल वस्त्र धारण किये हुए, आर्द्र (गीले), जीर्ण (पुराने), अपसव्य (दक्षिण कन्धे पर पड़ा अपसव्य), मलिन (मैले), उद्ध्वस्त (फटे) वस्त्र पहिने, न्यून (हाथ आदि से हीन) या अधिक (इक्कीस अंगुलियाँ आदि) अंगोंवाले, उद्विग्न (घबराये), विकृत (काणा-लंगड़ा आदि) रौद्ररूप (भैरव आकृति) दूत निन्दित हैं ॥७,८॥

रूक्षनिष्ठुरवक्तारस्त्वमङ्गल्याभिधायिनः।

रूक्ष (मैत्री रहित), निष्ठुर (कठोर) वाणी एवं अमंगल वचन बोलते हुए दूत अप्रशस्त हैं॥

छिन्दन्तस्तृणकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ॥९॥
वस्त्रान्तानामिकाकेशनखरोमदशास्पृशः।
स्रोतोवरोधहृद्गण्डमूर्धोरःकुक्षिपाणयः ॥१०॥
कपालोपलभस्मास्थितुषाङ्गारकराश्च ये।
विलिखन्तो महीं किंचिन्मुञ्चन्तो लोष्टभेदिनः ॥११॥
तैलकर्दमदिग्धाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः।
फलं पक्वमसारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्विधम् ॥१२॥
नखैर्नखान्तरं वाऽपि करेण चरणं तथा।
उपानच्चर्महस्ता वा विकृतव्याधिपीड़िताः ॥१३॥
वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः।
याम्यां दिशि प्राञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः ॥१४॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः।

चेष्टायें—

तिनके या लकड़ियों को तोड़ते हुए, नासिका या स्तन को छूते हुए, वस्त्र के प्रान्त को—अनामिका को—केश-नख-रोम (शरीर के बाल), दशा (दीपक की बत्ती) का स्पर्श करते हुए, स्रोत (कान आदि छिद्रों का), अवरोध (स्कन्ध देश)[1], हृदय, गण्डस्थल, शिर, उर, कुक्षि, हाथों को, कपोल उपल (पाषाण), भस्म (जली लकड़ियों का क्षार), अस्थि (हड्डी), तुष और अंगारों का स्पर्श करते हुए, भूमि को कुरेदते हुए, हाथों से कुछ गिराते हुए तथा मिट्टी के ढेले को हाथों से फोड़ते हुए दूत निन्दित हैं—तैल या कीचड़ को अङ्गों पर लगाये हुए, लाल माला एवं लाल आलेप लगाये हुए, पके या सार रहित फल को या अन्य इसी प्रकार की वस्तु को हाथ में लेकर, नखों से नख के मध्य में, या हाथों से पांवों को विदारण करते हुए, हाथ में जूता या चमड़ा लेकर अथवा गलित कुष्ठ आदि विकृत रोग से पीड़ित, विपरीत व्यवहारवाले, रोते हुए, श्रमजनित श्वासयुक्त, विकृत आँखवाले (आँख में फुल्ला हो), दक्षिण दिशा में अंजलि फैलाये हुए, निम्नोन्नत स्थान में सीधे खड़े हुए दूत—जो वैद्य के पास आते हैं, वे निन्दित हैं॥

दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम्।
ज्वलयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्मणि चोद्यतम् ॥१५॥
नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽशुचिम्।
प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्लवमेव वा ॥१६॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः।

निम्न कार्य करते हुए वैद्य के पास जो दूत आते हैं—वे निन्दित हैं। यथा—वैद्य के दक्षिण दिशा में मुख किये होने पर, अपवित्र स्थान में, जलती हुई अग्नि को जलाते हुए, कुछ पाक करते हुए, क्रूर कर्म करने में तत्पर हुए, नग्नावस्था में भूमि पर शयन करते हुए, मूत्र-पुरीष के उत्सर्ग में, अपवित्र स्थिति में, विमुक्त केश की अवस्था में, तैल आदि मलने पर, प्रस्वेद सहित विह्वल (बेचैन) अवस्था में जो दूत वैद्य के पास आते हैं, वे निन्दित हैं ॥१५,१६॥

वद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने ॥१७॥
मध्याह्ने चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च।
आर्द्राश्लेषामघामूलपूर्वासु भरणीषु च ॥१८॥

वेला—वैद्य के पितृकार्य में प्रवृत्त होने पर, देवकार्य में तत्पर होने पर, उत्पात (भूमि, दिव्य-अन्तरिक्ष) के दर्शन में, मध्याह्न में, आधी रात के समय और सन्ध्याकाल में आये दूत निन्दित हैं।

नक्षत्र—कृत्तिका, आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल, पूर्वाषाढ़ा-पूर्वाभाद्रपदा—पूर्वा फाल्गुनी में तथा भरणी नक्षत्री में आये दूत निन्दित हैं ॥१७,१८॥

चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा षष्ठ्यां सन्धिदिनेषु च।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ॥१९॥

तिथि—चतुर्थी, नवमी, षष्ठी, देव-प्रेत कार्यों में, सन्ध्याकाल में, वैद्य के पास जो दूत आते हैं, वे निन्दित हैं ॥१९॥

---

१ स्रोतोवरोध का अर्थ—'मार्ग को रोकना' भी है। यदि मार्ग को रोककर खड़े हों तो अशुभ है।

स्विन्नाभितप्ता मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः ।
गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता वैद्यमुपागताः ॥२०॥
त एव कफरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृताः ।
एतेन शेषं व्याख्यातं बुद्ध्वा संविभजेत्तु तत् ॥२१॥
रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च ।
प्रशस्तो जलरोधेषु दूतवैद्यसमागमः ॥२२॥

आग के समीप बैठने से उत्पन्न स्वेदवाले दूत मध्याह्न के समय जब वैद्य के पास आते हैं, तब पित्तरोगों में निन्दित होते हैं। ये ही दूत जब कफरोगों में आते हैं, तो चिकित्सा में सफलता करते हैं। इस प्रकार वातरोगों में शीत वायु आदि निन्दित हैं। इस तरह शेष (वात) को समझकर विभाग करना चाहिये। रक्तपित्त, अतिसार, प्रमेह रोगों में जो दूत—पानी के अवरोध (बान्ध) के समीप वैद्य के पास पहुँचते हैं, वे प्रशस्त हैं। इसी प्रकार शेष—(उदावर्त्तमूत्रकृच्छ्र आदि में जलवेग का दर्शन आदि) लक्षण प्रशस्त गिनने चाहिये ॥२०-२२॥

विज्ञायैवं विभागं तु शेषं बुध्येत पण्डितः ।
शुक्लवासाः शुचिर्गौरः श्यामो वा प्रियदर्शनः ॥२३॥
स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कार्यकरः स्मृतः ।
गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः ॥२४॥
स्मृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान् ।
अलङ्कृतो मङ्गलवान् दूतः कार्यकरः स्मृतः ॥२५॥
स्वस्थं प्राङ्मुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम् ।
उपसर्पति यो वैद्यं स च कार्यकरः स्मृतः ॥२६॥

श्वेत वस्त्र धारण किये, पवित्र—गौरवर्ण या श्यामवर्ण, मनोहर दर्शनवाला, अपनी (रोगी की) जाति या अपने गोत्र में उत्पन्न दूत चिकित्साकार्य में उत्तम है। वृषभ युक्त (घोड़े आदि प्रशस्त पशु पर) यान पर चढ़कर आया, प्रसन्नचित्त, पैदल चढ़कर आया, उत्तम चेष्टाओं से युक्त, स्मृतियुक्त, विधि एवं काल को जाननेवाला, स्वतन्त्र, उत्तम प्रतिभावाला, शोभन वेश से भूषित, मंगलकारी दूत कार्य को सफल करनेवाला होता है। स्वस्थ, पूर्व दिशा की ओर मुख किये—बैठे, समान एवं पवित्र देश में, पवित्रावस्था में वैद्य के समीप जो दूत आते हैं, वे कार्य करनेवाले होते हैं ॥२३-२६॥

मांसोदकुम्भातपत्रविप्रवारणगोवृषाः ।
शुक्लवर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः ॥२७॥
स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौर्वर्धमानमलंकृता ।
कन्या मत्स्याः फलं चामं स्वस्तिकं मोदका दधि ॥२८॥
हिरण्याक्षतपात्रं वा रत्नानि सुमनो नृपः ।
अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चाषः शिखी तथा ॥२९॥
ब्रह्मदुन्दुभिजीमूतशङ्खवेणुरथस्वनाः ।
सिंहगोवृषनादाश्च ह्रे (हे) षितं गजबृंहितम् ॥३०॥
शस्तं हंसरुतं नृणां कौशिकं चैव वामतः ।
प्रस्थाने यायिनः श्रेष्ठा वाचश्च हृदयङ्गमाः ॥३१॥
पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरान्नीरुजो द्रुमान् ।
आश्रिता वा नभोवेश्मध्वजतोरणवेदिकाः ॥३२॥
दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगाः ।
वामा वा दक्षिणा वाऽपि शकुनाः कर्मसिद्धये ॥ ३३ ॥
शुष्केऽशनिहतेऽपत्रे वल्लीनद्धे सकण्टके ।
वृक्षेऽथवाऽश्मभस्मास्थिविट्तुषाङ्गारपांशुषु ॥ ३४ ॥
चैत्यवल्मीकविषमस्थिता दीप्तखरस्वराः ।
पुरतो दिक्षु दीप्तासु वक्तारो नार्थसाधकाः ॥ ३५ ॥
पुन्नामानः खगा वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः ।
दक्षिणाद्वामगमनं प्रशस्तं श्वशृगालयोः ।
वामं नकुलचाषाणां नोभयं शशसर्पयोः ॥ ३६ ॥
भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम् ।
दर्शनं वा रुतं वाऽपि न गोधाकृकलासयोः ॥ ३७ ॥
दूतैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्शनं नृणाम् ।
कुलत्थतिलकार्पासतुषपाषाणभस्मनाम् ॥ ३८ ॥
पात्रं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम् ।
प्रसन्नेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्षपैः ॥ ३९ ॥
शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि सङ्गमाः ।
नेष्यन्ते पतितान्तस्थदीनान्धरिपवस्तथा ॥ ४० ॥

शुभ-अशुभ-शकुनों को कहते हैं—

मांस (सद्यःक्षत—कच्चा मांस), उदकुम्भ—पानी का घड़ा—(रोगी के घर में घुसते समय भरा हुआ घड़ा, रोगी के घर से निकलते समय खाली घड़ा), आतपत्र (छाता), विप्र (ब्राह्मण), वारण (हाथी), गाय, वृषभ (बैल), और श्वेत वर्ण—(श्वेत फूल, दधि, अक्षत, मोती आदि) वस्तुयें रोगी के दर्शन के लिये प्रस्थान करते समय मिलना उत्तम है। पुत्र के साथ स्त्री, बछड़े के साथ गाय, अलंकृत यौवनावस्था में पहुँचती कन्या, मछलियाँ, कच्चा फल, स्वस्तिक (माला या स्वस्तिक चिह्न), मोदक, दही, स्वर्ण, अक्षत (लाजा वा यव) चावल से भरा पात्र, रत्न (माणिक्य आदि), सुमन—फूल, राजा, प्रज्वलित अग्नि, घोड़ा, हंस, चाष, मोर ब्रह्म (वेद), दुन्दुभि (नगाड़ा), जीमूत (बादल), शङ्ख, वेणु (बांस) और रथ की ध्वनि का होना, शेर, गाय और बैल की आवाज घोड़ा तथा हाथी का आनन्द से चिघाड़ना, हंस का शब्द तथा उल्लू का वामपार्श्व में बोलना, राजभवन में जानेवाले वैद्य के लिये श्रेष्ठ हैं। हृदय को प्रिय लगनेवाली वाणियों का सुनना भी उत्तम है। पत्ते-फूल-फल एवं दूधवाले वृक्षों पर आश्रित, या आकाश-घर-ध्वजा, तोरण-वेदी पर बैठे, अथवा शान्त दिशाओं में मधुर वाणी को बोलते हुए, पीछे या साथ २ अथवा वाम या दक्षिण दिशा में चलनेवाले पक्षी कार्य में सफलता देते हैं। शुष्क या बिजली से जले पत्तोंवाले, बेल चढ़े हुए, कांटोंवाले वृक्ष पर या पत्थर, राख, अस्थि, मल, तुष, अङ्गारे या धूल, चैत्य, वल्मीक या विषम स्थान पर बैठे, तेज-ऊँची खर-कर्कश स्वर बोलनेवाले, सामने आते हुये या जलती हुई दिशाओं में बोलनेवाले पक्षी कार्यमें असफलता बताते हैं। पुरुषलिंगवाले पक्षियों

का वाम पार्श्व में होना और स्त्रीलिंग पक्षियों का दक्षिण पार्श्व में होना श्रेष्ठ है। कुत्ते और गीदड़ का दक्षिण से वाम दिशा में जाना उत्तम है। नकुल और चाष पक्षी का वाम दिशा में जाना श्रेष्ठ है। शशक, सर्प, भास एवं उल्लू का किसी भी पार्श्व में होना उत्तम नहीं। गोधा या कृकलासिका (किरला) की आवाज या दर्शन दोनों बुरे हैं। इसी प्रकार निन्दित दूतों के समान गुणवाले पुरुषों का दर्शन भी बुरा है। कुलत्थी, तिल, कपास, तुष, पाषाण, भस्म, (राख), अङ्गारे, तैल, कीचड़ से भरे या प्रसन्ना-नामक मद्य को छोड़कर शेष मद्यों से या रक्त से या सरसों से भरा पात्र मिलना निन्दित है। शव के साथ ले जाई जाती हुई लकड़ियाँ, सूखे ढाकों का रास्ते में मिलना (या शुष्क शब्द से-तृण आदि का भी), पतित अन्तःस्थ (चाण्डाल आदि), दीन, अन्धे या शत्रुओं का मार्ग में मिलना उत्तम नहीं है ॥ २७-४० ॥

मृदुः शीतोऽनुकूलश्च सुगन्धिश्चानिलः शुभः ।
खरोष्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः ॥ ४१ ॥

कोमल, शीतल और अनुकूल, सुगन्धित वायु शुभकारी है। खर, उष्ण, प्रतिलोम और बुरी गन्धवाली वायु निन्दित है ॥

ग्रन्थ्यर्बुदादिषु सदा छेदशब्दस्तु पूजितः ।
विद्रध्युदरगुल्मेषु भेदशब्दस्तथैव च ॥ ४२ ॥
रक्तपित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते ।
एवं व्याधिविशेषेण निमित्तमुपधारयेत् ॥ ४३ ॥
तथैवाक्रुष्टहाकष्टमाक्रन्दरुदितस्वनाः ।
छर्द्या वातपुरीषाणां शब्दो वै गर्दभोष्ट्रयोः ॥ ४४ ॥
प्रतिषिद्धं तथा भग्नं क्षुतं स्खलितमाहतम् ।
दौर्मनस्यं च वैद्यस्य यात्रायां न प्रशस्यते ॥ ४५ ॥
प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादावेद्यं च यथाऽऽतुरे ।
प्रतिद्वारं गृहे चास्य पुनरेतन्न गण्यते ॥ ४६ ॥
केशभस्मास्थिकाष्ठाश्मतुषकार्पासकण्टकाः ।
खट्वोर्ध्वपादा मद्यापो वसा तैलं तिलास्तृणम् ॥४७॥
नपुंसकव्यङ्गभग्ननग्नमुण्डासिताम्बराः ।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा नेष्यन्ते दर्शनं गताः ॥ ४८ ॥
भाण्डानां संकरस्थानां स्थानात् संचरणं तथा ।
निखातोत्पाटनं भङ्गः पतनं निर्गमस्तथा ॥ ४९ ॥
वैद्यासनावसादो वा रोगी वा स्यादधोमुखः ।
वैद्यं संभाषमाणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा ॥ ५० ॥
प्रमृज्याद्वा धुनीयाद्वा करौ पृष्ठं शिरस्तथा ।
हस्तं चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेच्छिरसि चोरसि ॥ ५१ ॥
यो वैद्यमुन्मुखः पश्यन्नुन्मार्ष्टि स्वाङ्गमातुरः ।
न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते ॥ ५२ ॥
भवने पूज्यते वाऽपि यस्य वैद्यः स सिध्यति ।
शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च ॥ ५३ ॥
आतुरस्य ध्रुवं तस्माद् दूतादीन् लक्षयेद्भिषक् ।

ग्रन्थि, अर्बुद आदि में सदा छेद शब्द सुनाई देना उत्तम है। विद्रधि, उदर एवं गुल्मों में भेदन शब्द, रक्तपित्त और अतिसार में रुद्ध शब्द प्रशस्त है। इस प्रकार से रोग विशेष में शुभ—अशुभ लक्षणों का निश्चय करना चाहिये, (शर्करा रोग में आहरण शब्द उत्तम है)। इसी प्रकार आक्रुष्ट (जोर से चिल्लाना), हा कष्ट, आक्रन्द (जोर से रोना), रुदित (रोने) का शब्द, छर्दि रोग में, वायु-मल का शब्द, गर्दभ या ऊँट का स्वर निन्दित है। भग्न (टूने) का, क्षुत (छींक) का, स्खलित (स्खलन-गिरने) का, आहत (चोट लगने) का शब्द, वैद्य के मन की बेचैनी यात्रा में प्रशस्त नहीं है। इन दूतादि के लक्षणों को प्रवेशकाल में, रोगी को देखने के समय एवं द्वार भाग में समझ लेना चाहिये, इसलिये पुनः इनको नहीं कहा जाता। वाल, भस्म, अस्थि, काष्ठ, पत्थर, तुष, कपास, काँटे, खाट—चारपाई उल्टी हुई (पाये ऊपर को), मद्यपायी, वसा, तैल, तिल, तृण, नपुंसक, हीनाङ्ग, भग्नशरीर, नग्न, सिर मुंडाये, काले वस्त्र पहिने हुए-इन वस्तुओं का दर्शन घर से प्रस्थान करने में या रोगी के घर में प्रवेश करने के समय उत्तम नहीं है। भण्डार में रक्खे पात्रों का नीचे गिरना, भूमि का खोदना, उखाड़ना, मोड़ना, गिराना या निकलना, वैद्य के आसन का टूट जाना, रोगी नीचे की ओर मुख किये रहे, वैद्य के साथ बातचीत करते हुऐ—अङ्गों को, दिवार को, बिछौने को रगड़ता हुआ रहे, हाथों को—सिर को या पीठ को हिलाये, वैद्य के हाथ को खींचकर अपने सिर या छाती पर रक्खे, जो रोगी वैद्य के सामने मुख उठाकर पूछे या अपने अङ्गों को साफ करे, और जिस घर में वैद्य का सत्कार नहीं होता, वह रोगी नहीं बचता[1]। जिस रोगी के घर में वैद्य का आदर होता है, वह रोगी बचता है। शुभ दूतों में रोगी का शुभ होता है, अशुभ दूतों में रोगी का अशुभ होता है। इसलिये वैद्य को चाहिये कि दूत आदि की परीक्षा निश्चय रूप में करे ॥

वि० मन्तव्य—ग्रन्थि आदि की चिकित्सा करने जाते समय यदि मार्ग में किसी के मुख से छेद वाचक शब्द 'काट डालो' 'काट दिया' आदि सुनाई पड़े तो अच्छा है। इस प्रकार विद्रधि आदि के लिये भेद-वाचक शब्द 'फाड़ दो' आदि तथा रक्तपित्त एवं अतिसार आदि के लिये 'रोधवाचक' 'रोक दिया-बन्द कर दो' आदि शब्द शुभ हैं ॥४२-५३॥

स्वप्नानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च ॥५४॥

१—चरक में भी कहा है। यथा—
आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा ।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥
प्रवेशपूर्णकम्पाग्निमद्‌दूर्वीजफलसर्पिषाम् ।'
वृषब्राह्मणरत्नानां देवतानाञ्च निर्गतिम् ॥

सुहृदो यांश्च पश्यन्ति व्याधितो वा स्वयं तथा ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्तु करभव्यालगर्दभैः ॥५५॥
वराहैर्महिषैर्वाऽपि यो यायाद्दक्षिणामुखः ।
रक्ताम्बरधरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमूर्धजा ॥५६॥
यं चाकर्षति बद्ध्वा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ।
अन्तावसायिभिर्यो वाऽऽकृष्यते दक्षिणामुखः ॥५७॥
परिष्वजेरन् यं वाऽपि प्रेताः प्रव्रजिता (न) स्तथा ।
मुहुराघ्रायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः ॥५८॥
पिबेन्मधु च तैलं च यो वा पङ्केऽवसीदति ।
पङ्कप्रदिग्धगात्रो वा प्रनृत्येन प्रहसेत्तथा ॥५९॥
निरम्बरश्च यो रक्तां धारयेच्छिरसा स्रजम् ।
यस्य वंशो नलो वाऽपि तालो वोरसि जायते ॥६०॥
यं वा मत्स्यो ग्रसेद्यो वा जननीं प्रविशेन्नरः ।
पर्वताग्रात् पतेद्यो वा श्वभ्रे वा तमसाऽऽवृते ॥६१॥
ह्रियेत स्रोतसा यो वा यो वा मौण्ड्यमवाप्नुयात् ।
पराजीयेत बध्येत काकाद्यैर्वाऽभिभूयते ॥६२॥
पतनं तारकादीनां प्रणाशं दीपचक्षुषोः ।
यः पश्येद् देवतानां वा प्रकम्पमवनेस्तथा ॥६३॥
यस्य छर्दिर्विरेको वा दशनाः प्रपतन्ति वा ।
शाल्मलीं किंशुकं यूपं वल्मीकं पारिभद्रकम् ॥६४॥
पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चितां वा योऽधिरोहति ।
कार्पासतैलपिण्याकलोहानि लवणं तिलान् ॥६५॥
लभेताश्नीत वा पक्वमन्नं यश्च पिबेत् सुराम् ।
स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमृच्छति ॥६६॥

स्वप्न—

स्वप्नों से मरण एवं शुभ (जीवन) के लक्षण कहते हैं। जो रोगी स्वयं या जिस रोगी के मित्र निम्न स्वप्नों को देखते हैं—उसकी मृत्यु निश्चित है। शरीर पर स्नेह-तैल की मालिश किये, ऊँट के बच्चे सांप या गधे पर अथवा सुअर या भैंस पर चढ़कर दक्षिण दिशा की ओर जाता हो; लाल, या काले वस्त्र पहिनकर—हँसती हुई, सिर के बालों को बिखराये हुए, नाचती हुई—जिस रोगी को बाँधकर या खींचकर दक्षिण दिशा में ले जाती हुई स्त्री प्रतीत हो, अथवा अन्तावसायी (निषादस्त्री में चाण्डाल द्वारा श्मशान में उत्पन्न पुत्र) द्वारा जो रोगी दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जाता हो, जिसके साथ प्रेत एवं संन्यासी लोग आलिंगन करें, विकृत, मुखवाले कुत्ते जिसके शिर को सूँघते हों, शहद या तैल पीता हो, कीचड़ में नहाता हो, अङ्गों पर कीचड़ लपेट लिया हो, नाचे या हंसे, नङ्गा होकर सिर में लाल माला को धारण करे, जिसकी छाती पर बाँस या नल अथवा ताल वृक्ष उत्पन्न होता हो, जिसको मछलियाँ निगलें, जो कि अन्धकार युक्त गर्त्त में गिरता हो, पर्वत की चोटी से गिरे, जिसका सिर मुंड जाये, जो मनुष्य माता के शरीर में घुसता हो, स्रोतस् बन गये हों, कौवे आदि पक्षियों से पराजित हो, मारा जाता हो या तिरस्कृत हो रहा हो, तारे चन्द्रमा आदि का गिरना, दीपक एवं आँख का नाश होना, जो देवताओं की प्रतिमाओं में या पृथिवी में कम्पन देखे, जिसे स्वप्न में वमन या विरेचन हो जाये, दांत गिर जायें, सिम्बल—ढाक—यूप (यज्ञ—पशु—बलि काष्ठ) वल्मीक, पारिभद्र (नीम), कोविदार, (कचनार) ये वृक्ष फूल से लदे प्रतीत हों, जो चिता पर चढ़ा हो; कपास, तैल, पिण्याक (खली), लौह (लोहमय वस्तु), नमक, तिल इनको प्राप्त करे, या पक्के अन्न को खाये, मद्य का पान करे—इस प्रकार के स्वप्न यदि स्वस्थ व्यक्ति देखे तो वह रोगी होता है और यदि रुग्ण व्यक्ति इन स्वप्नों को देखता है तो मर जाता है।५४-६६।

विफल स्वप्न—

यथास्वं प्रकृतिस्वप्नो विस्मृतो विहतस्तथा ।
चिन्ताकृतो दिवा दृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते ॥६७॥

अपनी प्रकृति के अनुकूल प्राकृतिक स्वप्न (वातप्रकृति का—संभ्रम से चलना, पित्तप्रकृति का आग, बिजली में प्रविष्ट होना, कफप्रकृति का—कमल, हंस, चक्रवाकों को देखना), विस्मृत (जो स्वप्न बहुत कुछ भूल गये), विहत (पहिले बुरा देखा और फिर अच्छा देखा[1]), चिन्ता से उत्पन्न और दिन में देखे हुए स्वप्न फलरहित होते हैं।।६७।।

ज्वरितानां शुना सख्यं कपिसख्यं तु शोषिणाम् ।
उन्मादे राक्षसैः प्रेतैरपस्मारे प्रवर्तनम् ॥६८॥
मेहातिसारिणां तोयपानं स्नेहस्य कुष्ठिनाम् ।
गुल्मेषु, स्थावरोत्पत्तिः कोष्ठे मूर्ध्नि शिरोरुजि ॥६९॥
शष्कुलीभक्षणं छर्द्यामध्वा श्वासपिपासयोः ।
हारिद्रं भोजनं वाऽपि यस्य स्यात् पाण्डुरोगिणः ॥७०॥
रक्तपित्ती पिबेद्यस्तु शोणितं स विनश्यति ।

उत्तरतन्त्र में पढ़े हुए रोगों के लिये अन्य स्वप्न—

ज्वरवाले पुरुषों की कुत्तों के साथ मैत्री, शोषरोगियों की वानरों के साथ मैत्री, उन्माद रोग में राक्षसों के साथ, अपस्मार में प्रेतों के साथ बैठना, प्रमेही एवं अतिसार-रोगियों का पानी पीना, कुष्ठरोगियों का स्नेह पान करना, गुल्मरोगियों के उदर में तथा शिरोरोग में शिर में वृक्ष की उत्पत्ति, छर्दि रोग में (चने-तिल से बनी शष्कुली) पूरी खाना, श्वास एवं तृष्णा रोगी का मार्ग में जाना, पाण्डुरोगी का हल्दी युक्त भोजन खाना और रक्तपित्त रोगी का रक्त को स्वप्न में पीना—इन स्वप्नोंवाला नष्ट हो जाता है ॥६८-७०॥

---

१. कहा भी है—
"अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः ।
सौम्यं स्वप्ने पुमान् पश्येत्—तस्य विद्यात् शुभं फलम् ॥"

स्वप्नानेवंविधान् दृष्ट्वा प्रातरुत्थाय यत्नवान् ॥७१॥
दद्यान्माषांस्तिलान् लोहं विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा।
जपेच्चापि शुभान् मन्त्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा॥७२॥
दृष्ट्वा तु प्रथमे यामे स्वप्याद् ध्यात्वा पुनः शुभम्।
जपेद्वाऽन्यतमं वेदं ब्रह्मचारी समाहितः॥७३॥
न चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्ट्वा स्वप्नमशोभनम्।
देवतायतने चैव वसेद्रात्रित्रयं तथा।
विप्रांश्च पूजयेन्नित्यं दुःस्वप्नात् प्रविमुच्यते॥७४॥

इस प्रकार के स्वप्नों को देखकर प्रातःकाल उठकर प्रयत्न पूर्वक—ब्राह्मणों को—उड़द, तिल, लोह (धातु आदि), स्वर्ण आदि देना चाहिये। शुभ-मन्त्रों का जप करना चाहिये, त्रिपदा (तीन व्याहृतिवाली) गायत्री का जप करना चाहिये। रात्रि के प्रथम प्रहर में यदि दुःस्वप्न दिखाई दे तो शुभ बातों का ध्यान करके फिर सो जाना चाहिये। सावधान होकर ब्रह्मचारी रहकर किसी एक वेद (मंत्र) का जप करना चाहिये। अशुभ स्वप्न देखकर किसी से उसका जिकर नहीं करना चाहिये। तीन दिन तक मन्दिर में निवास करना चाहिये। नित्य ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार करने से अशुभ स्वप्नों के कुफल से मनुष्य बच जाता है॥७१-७४॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम्।
देवान् द्विजान्गोवृषभान् जीवतः सुहृदो नृपान्॥७५॥
समिद्धमग्निं साधूंश्च निर्मलानि जलानि च।
पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च॥७६॥
मांसं मत्स्यान् स्रजः श्वेता वासांसि च फलानि च।
लभेत धनलाभाय व्याधेरपगमाय च॥७७॥
महाप्रासादसफलवृक्षवारणपर्वतान्।
आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधेरपगमाय च॥७८॥
नदीनदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कलुषोदकान्।
तरेत् कल्याणलाभाय व्याधेरपगमाय च॥७९॥
उरगो वा जलौका वा भ्रमरो वाऽपि यं दशेत्।
आरोग्यं निर्दिशेत्तस्य धनलाभं च बुद्धिमान्॥८०॥
एवं रूपान् शुभान् स्वप्नान् यः पश्येद्व्याधितो नरः।
स दीर्घायुरिति ज्ञेयस्तस्मै कर्म समाचरेत्॥८१॥

अब शुभ स्वप्नों को कहते हैं। देवताओं को, ब्राह्मणों को, गाय बैल को (जीवित), मित्रों को, राजाओं को, प्रज्वलित अग्नि को, साधुओं को, निर्मल जल का देखना कल्याण की प्राप्ति के लिये तथा रोगशान्ति के लिये होता है। मांस को, मछलियों को, श्वेत मालाओं को, वस्त्रों का तथा फलों को प्राप्त करना धनप्राप्ति एवं रोग की शान्ति के लिये है। बड़े भारी महल पर, फल युक्त वृक्षों पर, हाथी पर, पर्वत पर चढ़ना धन के लाभ के लिये और रोगशान्ति के लिये है। बढ़े हुए (प्रचलित) नदी (गङ्गा आदि), नद (सिन्धु आदि) समुद्र को या मैले पानी को तैरना कल्याण के लिये या रोग की शान्ति के लिये होता है। जिसको साँप या जोंक अथवा भ्रमर काटे, उसे आरोग्य लाभ होता है और धन लाभ होता है। रोगी मनुष्य यदि इस प्रकार के शुभ स्वप्नों को देखे—तो उसे दीर्घायु समझकर चिकित्सा कर्म प्रारम्भ करना चाहिये।७५-८१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विपरीताविपरीतस्वप्न-निदर्शनीयो नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः॥२९॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥२॥

अथ 'पंचेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—श्रोत्र, त्वग्, रसना, घ्राण तथा चक्षु नामक ५ इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप नामक अर्थों—विषयों की विपरीत प्रतिपत्ति—समझना। श्रोत्र आदि द्वारा—शब्द आदि का विपरीत ज्ञान भी अरिष्ट ही है॥१,२॥

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्त्वरिष्टं समासेन, व्यासतस्तु निबोध मे॥३॥

शरीर (पाञ्चभौतिक-प्राण काया), शील (मन के भाव या मन), इनकी प्रकृति (स्वाभाविक धर्म) का विकृत (परिवर्त्तित) होना—संक्षेप में अरिष्ट होता है। विस्तार से आगे कहते हैं[1]।

शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः।
समुद्रपुरमेघानामसंपत्तौ च निःस्वनान्॥४॥
तान् स्वनान्नावगृह्णाति मन्यते चान्यशब्दवत्।
ग्राम्यारण्यस्वनांश्चापि विपरीतान् शृणोति च॥५॥
द्विषच्छब्देषु रमते सुहृच्छब्देषु कुप्यति।
न शृणोति च योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम्॥६॥

दि० (किन्नर), सिद्ध, गन्धर्व आदि के अभाव में—नाना प्रकार के (गीत, जल्प पाठ के) शब्दों को सुनता है,

---

१ कई आचार्य शरीर, शील और प्रकृति इन तीन को पृथक् मानते हैं। प्रकृति—छै प्रकार की है—जैसा चरक में कहा है "प्रकृतिर्हि जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च, देशानुपातिनी च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च, प्रत्यात्मनियता च।" जातिप्रसक्ता—मनुष्यादि जाति में स्वभावविशेष, कुलप्रसक्ता—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से तप-प्रियता आदि, देशानुपातिनी—लाट-कर्नाटक देशों में अपने व्यवहार, कालानुपातिनी—देहादि में दुर्बलता आदि, वयोऽनुपातिनी—वात्सल्य, सुकुमारता आदि बाल्यावस्था में। ये—शरीर, वचन और मन में भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। दूसरे आचार्य प्रकृति से वात-पित्त-कफ लेते हैं और कुछ आचार्य सत्त्व, रज और तम प्रकृति का ग्रहण करते हैं।

समुद्र, (नगर), मेघों के अभाव में भी इनके शब्दों को सुनता है, समुद्र, पुर—या मेघों के होने पर इनके शब्द को नहीं सुनता अथवा नहीं पहिचानता (दूसरा शब्द समझता है), ग्राम्य पशुओं के शब्द को अरण्य के पशुओं का शब्द मानता है, अरण्य के शब्द ग्राम्य पशुओं का शब्द मानता है, मित्र के शब्दों से द्वेष करता है, द्वेषी के शब्दों से प्रीति करता है, और कारण के बिना शब्द को जो नहीं सुनता—उस रोगी की आयु समाप्त हुई समझनी चाहिये। (सुहृत्-शब्देषु तथा द्विषच्छब्देषु—के अर्थ—मित्रों के बचनों पर अविश्वास, शत्रु के वचनों पर विश्वास भी है) ॥४-६॥

यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णं च शीतवत्।
संजातशीतपिडको यश्च दाहेन पीड्यते ॥७॥
उष्णगात्रोऽतिमात्रं च यः शीतेन प्रवेपते।
प्रहारान्नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥८॥

जो रोगी शीतल वस्तुओं को उष्ण पदार्थों की भाँति, उष्ण पदार्थों को शीतल पदार्थों की भाँति ग्रहण करता है, जिसके शरीर में कफजन्य शीत पिड़िकाओं के होने पर दाह होता हो, शरीर के अत्यन्त उष्ण होने पर भी जो शीत से काँप रहा हो, जो रोगी आघात को या अंग के काटने को नहीं जानता, वह रोगी असाध्य है ॥७,८॥

पांशुनेवावकीर्णानि यश्च मात्राणि मन्यते।
वर्णान्यता वा राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥९॥

जो रोगी यह समझे कि उसके अङ्ग धूल से व्याप्त हैं। शरीर का रंग परिवर्तित हो गया, जिसके शरीर पर राजि (रेखायें) उत्पन्न हो जायें उसका बचना असम्भव है।

वि० मन्तव्य—सन्निपात आदि में देखा जाता है कि रोगी अपने शरीर को झाड़ता है ॥९॥

स्नातानुलिप्तं यं चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः।
सुगन्धिर्वाऽति योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥१०॥

स्नान करने तथा चन्दन आदि का लेप करने पर भी जिसके शरीर पर मक्खियाँ आकर बैठें अथवा चन्दन कर्पूर आदि के लेप के बिना भी या सुगन्धि तैल के अभ्यङ्ग आदि के बिना भी जिसका शरीर सुगन्धित हो जाय उसको गतायुः (मरनेवाला) कहते हैं। "अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः। अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः" ॥१०॥

विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयोजितान्।
उपयुक्ताः क्रमाद्यस्य रसा दोषाभिवृद्धये ॥११॥
यस्य दोषाग्निसाम्यं च कुर्युर्मिथ्योपयोजिताः।
यो वा रसान्न संवेत्ति गतासुं तं प्रचक्षते ॥१२॥

जो रोगी सेवित रसों का विपरीत रूप में ग्रहण करता है (मधुर रसों को अम्ल, अम्ल को मधुर), और क्रमपूर्वक खाये हुए रस (पूर्वं मधुरमश्नीयात्—पश्चादम्लं—इत्यादि क्रम) जिसमें दोषों को बढ़ायें, मिथ्या रूप से सेवित रस जिस पुरुष के दोषों को एवं अग्नि को समान करते हैं; और जो रसों को भली प्रकार नहीं पहिचानता, उसे मरा हुआ समझना चाहिये ॥११,१२॥

सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम्।
गृह्णीते वाऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे च नीरुजः ॥१३॥
यो वा गन्धं न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत्।

जो मनुष्य सुगन्ध को दुर्गन्ध, दुर्गन्ध को सुगन्ध समझता है, अथवा वास्तविक गन्ध को नहीं पहिचानता, दीपक बुझने के समय पीनस आदि नासारोगों से रहित होने पर भी जिसको गन्ध नहीं आती, उस पुरुष को गतायुष समझना चाहिये।

वि० मन्तव्य—रसों आदि के तैल का दीपक बुझता है तब विशेष प्रकार की गन्ध आती है, जो इसका अनुभव नहीं करता 'दीपगन्धं न जिघ्रति' वा० शा० अ० ५ ॥१३॥

द्वन्द्वाण्युष्णहिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा ॥१४॥
विपरीतेन गृह्णाति भावानन्यांश्च यो नरः।

जो मनुष्य कष्ट देनेवाले द्वन्द्वों को-शीत-उष्ण आदि को, काल की अवस्था को (प्रातः सायं आदि को), [1]दिशाओं को (पूर्व-पश्चिम को), एवं अन्य पदार्थों को—द्रव्य-गुण-कर्मों को विपरीत रूप में ग्रहण करता है, वह मर जाता है ॥१४॥

दिवा ज्योतींषि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति ॥१५॥
रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम्।
अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतडिद्गुणान् ॥१६॥
तडित्वतोऽसितान् यो वा निर्मले गगने घनान्।
विमानयानप्रासादैर्यश्च संकुलमम्बरम् ॥१७॥
यश्चानिलं मूर्तिमन्तमन्तरिक्षं च पश्यति।
धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ॥१८॥
प्रदीप्तमिव लोकं च यो वा प्लुतमिवाम्भसा।
भूमिमष्टापदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ॥१९॥
न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम्।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥२०॥
ज्योत्स्नादर्शोष्णतोयेषु छायां यश्च न पश्यति।
पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वाऽन्यसत्त्वजाम् ॥२१॥
श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम्।
पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥२२॥

---

१ दिश-शब्द से कई आचार्य मानस-स्पर्श मानते हैं। कहा भी है—स्पर्श दो प्रकार है—एक स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य और दूसरा मानस। "स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।"

यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥२३॥

दिन के समय तारे आदि ज्योतियों को जलता हुआ जो देखता है, रात्रि में जलते हुए सूर्य को, दिन में चमकते हुए चन्द्रमा के तेज को, बादलों के न होने पर—इन्द्रधनुष, बिजली आदि को, निर्मल आकाश में बिजली को या घने काले बादलों को, आकाश को विमान, यान अथवा महलों से व्याप्त देखे और जो वायु एवं आकाश को मूर्तिमान देखता हो, पृथ्वी को—धुवें-नीहार, एवं वस्त्र से आवृत जो देखता है, लोक को ग्रीष्म के विना भी जलते हुए देखे, पानी में डूबते हुए लोक को देखे, अष्टापद (खेलने का खिलौना) आकारवाली रेखाओं से व्याप्त भूमि को जो देखे, सप्तर्षि तारों के साथ साथ अरुन्धती नक्षत्र को जो नहीं देखता, ध्रुव तारे को, आकाश गङ्गा को जो व्यक्ति नहीं देखते वे मरणासन्न हैं। ज्योत्स्ना, आदर्श (शीशे) और धूप में, पानी में जो रोगी अपनी छाया (प्रतिबिम्ब) को नहीं देखता, अथवा छाया को एक अङ्ग से हीन, या विकृतावस्था में या अन्य प्राणी की छाया को देखता है, कुत्ता, काक (कौवा), कङ्क (श्वेतचञ्चुश्वेतचरण[१]), गृध्र पक्षियों की, प्रेतों की, यक्षराक्षस की, पिशाच व साँप की, नागों की तथा देवयोनियों की विकृत छाया को जो आदर्श आदि में देखते हैं, धूमरहित आग जो मोर के कण्ठ के समान देखता है, वह रोगी मर जाता है और स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण हो जाता है।

वि० मन्तव्य—इसके लिये देखिये वाग्भट शा० अ० १५-२३

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिर्नाम त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातश्छायाविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'छाया विप्रतिपति नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था। [२]छाया वर्ण को ढाँपती है, और प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है ॥१,२॥

श्यावा लोहितिका नीला पीतिका वाऽपि मानवम्।
अभिद्रवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥३॥

श्याव (काली), लोहितिका (लाल), नीला (नीली), पीतिका (पीली) छाया जिस पुरुष में सहसा उत्पन्न हो जाती है, उसको मरणासन्न समझना चाहिये। 'नाऽच्छायो नाऽप्रभः कश्चिद् विशेषाश्चिह्नयन्ति हि। नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रयाः' ॥३॥

ह्रीरपक्रमते यस्य प्रभास्मृतिधृतिश्रियः।
अकस्माद्यं भजन्ते वा स गतासुरसंशयम् ॥४॥

जिस पुरुष में से लज्जा चली जाती है, और प्रभा, धृति (नियतात्मिका बुद्धि), स्मृति (स्मरण) और श्री (कमनीयता) उपदेश आदि कारणों के बिना ही उत्पन्न हो जाती हैं, वह निश्चय से मरेगा ॥४॥

यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोर्ध्वं तथोत्तरः।
उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥५॥
आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा।
खञ्जनप्रतिमा वाऽपि तं गतायुषमादिशेत् ॥६॥
कृष्णा स्तब्धाऽवलिप्ता वा जिह्वा शूना च यस्य वै।
कर्कशा वा भवेद्यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून् ॥७॥
कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका।
अवस्फूर्जति मग्ना वा न स जीवति मानवः ॥८॥
संक्षिप्ते विषमे स्तब्धे रक्ते स्रस्ते च लोचने।
स्यातां वा प्रस्रुते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् ॥९॥
केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥१०॥

जिस पुरुष का निचला ओठ लटक जाय, ऊपर का चढ़-उठ जाये, अथवा दोनों ओठ जामुन के फल के समान काले हों जायें, उसका बचना कठिन है। जिस रोगी के दाँत लाल या काले पड़ जायें, अथवा गिर जायें, या खञ्जन पक्षी के गले के समान नीले पड़ जायें उसे मरा समझना चाहियें। जिस रोगी की जीभ काली पड़ जाये, जड़ हो जाये, अवलिप्त (प्रमेह आदि में जैसे थूक से लिसड़ी) हो—वह शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है। जिस रोगी की नासिका कुटिल (टेढ़ी) हो जाये, स्फुटिता (फैल जाये), शुष्क हो जाये, या अवस्फुरित (शब्द करने लगे) या मग्ना (बैठ जाये) वह रोगी नहीं बचता। जिस पुरुष की आँखें संकुचित हो जायें, ऊँची-नीची हो जायें, निश्चल-गतिरहित हो

---

१ 'कङ्कः स्यात् कङ्कमल्लाख्यो वाणपक्षार्हपक्षकः। लोहपृष्ठो दीर्घपादः पक्षाधः पाण्डुवर्णभाक् ॥'
'सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम्। संवत्सरान्ते जन्तुः स पश्यत्येव महत्तमः ॥'

२ प्रभा और छाया में अन्तर है यथा—
'वर्णमाक्रामती छाया, प्रभा वर्णप्रकाशिनी। आसन्ना लक्ष्यते छाया, प्रभा दूराच्च लक्ष्यते ॥'
वर्ण चार प्रकार के हैं—गौर, कृष्ण, श्याम और गौरश्याम। प्रभा सात प्रकार की है—रक्ता, पीता, सिता, श्यावा, हरिता, पाण्डुरा और असिता। छाया पाँच प्रकार की है—स्निग्धा, विमला, रूक्षा, मलिना, संक्षिप्ता।

जायें, लाल हो जायें—स्रस्त (नीचे गिर जायें अधोदृष्टि हो जाये) हो जाती हैं—उस मनुष्य को निश्चित रूप में गतायुष समझना चाहिये। जिस पुरुष के बाल सीमन्तवाले (माँग-बाल दो भागों में विभक्त) हो जाते हैं, जिस पुरुष की भ्रुवें संकुचित एवं झुक जाती हैं, आँख की पलकों के बालों को जो नोचता है– वह शीघ्र ही मर जाता है ।।५—१०।।

नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः ।
एकाग्रदृष्टिर्मूढात्मा सद्यः प्राणान् जहाति सः ।।११।।
बलवान् दुर्बलो वाऽपि संमोहं योऽधिगच्छति ।
उत्थाप्यमानो बहुशस्तं पक्वं भिषगादिशेत् ।।१२।।
उत्तानः सर्वदा शेते पादौ विकुरुते च यः ।
विप्रसारणशीलो वा न स जीवति मानवः ।।१३।।
शीतपादकरोच्छ्वासश्छिन्नोच्छ्वासश्च यो भवेत् ।
काकोच्छ्वासश्च यो मर्त्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् ।।१४।।
निद्रा न छिद्यते यस्य यो वा जागर्ति सर्वदा ।
मुह्येद्वा वक्तुकामश्च प्रत्याख्येयः स जानता ।। ५।।
उत्तरौष्ठं च यो लिह्यादुत्कारांश्च करोति यः
प्रेतैर्वा भाषते सार्धं प्रेतरूपं समादिशेत् ।।१६।।

जो मनुष्य मुख में स्थित अन्न को नहीं निगलता, जो शिर को सीधा धारण नहीं करता (गर्दन गिरी रहती है), जिसकी दृष्टि स्थिर हो (पुतली इधर-उधर फिरे नहीं, वह मूढात्मा (जड़ रूपी मनुष्य) शीघ्र ही (उसी दिन) मर जाता हैं। जो बलवान् या दुर्बल मनुष्य बार-बार मूर्च्छित होता है, उठने पर (चेतन करने पर) भी फिर मूर्च्छित हो जाता है—उसकी आयु पूर्ण समझनी चाहिये (वह सात दिन में मर जाता है)। जो सदा पीठ के भार चित्त सोता हो, पांवों को फैलाता-सिकोड़ता रहता हो, और पाँव को पसारनेवाला मनुष्य देर तक नहीं जीता। जिस रोगी के हाथ-पांव और श्वास ये तीनों ठण्डे हो जायें, जो रुक रुककर ऊचा श्वास (गहरा) लेता है या जो कौवे के समान मुख फैलाकर श्वास लेता है, उसका त्याग कर देना चाहिये। जिसकी नींद ही समाप्त नहीं होती अथवा जो सदा जागता रहता है, बोलने के समय जिसको मूर्च्छा आ जाती है, उसे असाध्य समझना चाहिये। जो पुरुष ऊपर के ओठ को चाटता है, जिसको बार-बार उद्गार (डकार) आते हों, जो प्रेतों के साथ बात-चीत करता हो, उसको प्रेतरूप समझना चाहिये ।।११-१६।।

खेभ्यः सरोमकूपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते ।
पुरुषस्याविषार्तस्य सद्यो जह्यात् स जीवितम् ।।१७।।
वाताष्ठीला तु हृदये यस्योर्ध्वमनुयायिनी ।
रुजान्नविद्वेषकरो स परासुरसंशयम् ।।१८।।
अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति, नारीं तु मुखजो, गुह्यजो द्वयम् ।।१९।।
अतिसारो ज्वरो हिक्का छर्दिः शूनाण्डमेढ्रता ।
श्वासिनः कासिनो वाऽपि यस्य तं क्षीणमादिशेत् ।२०।
स्वेदो दाहश्च बलवान् हिक्का श्वासश्च मानवम् ।
बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जन्ति न संशयः ।।२१।।

विष विकार के बिना जिस पुरुष के ऊपर-नीचे के सब छिद्रों से, सब रोमकूपों से रक्त बहता है, वह शीघ्र ही प्राणों का त्याग कर देता है। जिस पुरुष में ऊपर को चढ़नेवाली वायु ऊपर आकर हृदय में शिला के समान बन जाती है, जिससे पीड़ा एवं अन्न में विद्वेष उत्पन्न होता है, वह निश्चित रूप में मरनेवाला है[1]। शोफजन्य उपद्रवों (श्वास, पिपासा, दुर्बलता आदि) से शोफ पांवों में उत्पन्न होकर पुरुष को नष्ट करता है, चेहरे पर शोफ होकर स्त्री को मारता है, गुह्य भाग में उत्पन्न होने से स्त्री-पुरुष दोनों को मारता है। श्वास या कास रोगी को जब अतिसार, ज्वर, हिचकी, वमन, अण्डकोष तथा शिश्न में सूजन हो जाती है, तब उसको क्षीण-मरा समझना चाहिये। बलवान् पुरुष को भी जब प्रभूत, स्वेद, तीव्र दाह, हिचकी, श्वास उत्पन्न हो जाये, वह निश्चय से प्राणों से वियुक्त होगा (तीन रात में मर जायेगा) ।।१७–२१ ।।

श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं चाक्षि निमज्जति ।
मुखं च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत् ।।२२।।
वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणां स्विद्यतश्चरणावुभौ ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः ।।२३।।
अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि गुरुकाणि वा ।
यस्याकस्मात् स विज्ञेयो गन्ता वैवस्वतालयम् ।।२४।।
पङ्कमत्स्यवसातैलघृतगन्धाश्च ये नराः ।
मृष्ठ गन्धांश्च ये यान्ति गन्तारस्ते यमालयम् ।।२५।।
यूका ललाटमायान्ति बलिं नाश्नन्ति वायसाः ।
येषां चापि रतिर्नास्ति यातारस्ते यमालयम् ।।२६।।
ज्वरातिसारशोफाः स्युर्यस्यान्योन्यावसादिनः ।
प्रक्षीणबलमांसस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ।।२७।।
क्षीणस्य यस्य क्षुत्तृष्णे हृद्यैर्मिष्टैर्हितैस्तथा ।
न शाम्यतोऽन्नपानैश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ।।२८।।
प्रवाहिका शिरःशूलं कोष्ठशूलं च दारुणम् ।
पिपासा बलहानिश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ।।२९।।

जिस पुरुष की जीभ काली पड़ जाये, जिसकी बाँई आँख बैठ जाये, और जिसके मुख से दुर्गन्ध आने लगे, वह असाध्य है। जिसका चेहरा आँसुओं से भर जाता है, दोनों पाँव पसीने से तर हो जाते हैं, जिसकी आँखें व्याकुल रहती हैं, वह मरा समझना चाहिये। जिस पुरुष का शरीर एकदम से लघु (हल्का) या भारी हो जाता है, वह शीघ्र ही यमराज के यहाँ

१ 'वाताष्ठी' शब्द से यहाँ पर वातव्याधि में कहा रोग समझना चाहिये। वायु ही शिला के समा बन जाती है।

जायेगा। इसी प्रकार जिसका शरीर स्थूल या कृश सहसा हो जाता है, उसे भी मरणासन्न समझना चाहिये। कीचड़ मछली, वजा, तैल, घी की गन्ध या मरिच अथवा निर्मल दिव्य गन्ध जिनके शरीर में से आने लगती है, वे भी मरनेवाले हैं। जिनके माथे पर जूएँ फिरने लगें, जिसकी दी हुई बलि को कौए न खायें और जिसको कहीं भी शान्ति-सुख नहीं मिलता उसे (एक साल में) मरणासन्न समझना चाहिये। जिस पुरुष में परस्पर एक दूसरे के उपद्रवों के कारण ज्वर-अतिसार और रोगी का बल एवं मांस क्षीण हो गया हो तो वह चिकित्सा के अयोग्य है[1]। जिस क्षीण पुरुष की भूख एवं प्यास हृदय के प्रिय, मधुर एवं हितकारी खान-पान से भी नहीं शान्त होती, उसकी मृत्यु समीप में खड़ी समझनी चाहिये। जिस पुरुष को तीव्र प्रवाहिका, तीव्र शिरःशूल, तीव्र कोष्ठशूल, तीव्र पिपासा हो एवं बल (उत्साह-शक्ति) क्षीण हो तो इन रोगियों का मृत्यु-काल आया समझना चाहिये ॥२२—२९॥

विषमेणोपचारेण कर्मभिश्च पुराकृतैः।
अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं व्रजेत् ॥३०॥

मृत्यु का कारण—

विषमोपचार से (स्वाभाविक बल आदि भावों के विपरीत उपचार से), पूर्वजन्मकृत शरीरस्थापक कर्मों के क्षीण होने से, देहधारियों के अनित्य होने से जीवन का नाश होता है ॥३०॥

प्रेताः भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च।
मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पन्ति मानवम् ॥३१॥
तानि भेषजवीर्याणि प्रतिघ्नन्ति जिघांसया।
तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वा भवन्त्येव गतायुषाम् ॥३२॥

मरणासन्न रोगी के समीप प्रेत (दुर्गति प्राप्त प्राणी), भूत (यम के नौकर), पिशाच (मांस को खानेवाले), रावण आदि नाना प्रकार के बहुत से राक्षस आदि नित्य प्रति मारने की इच्छा से आते हैं। इसलिये ये औषधियों की शक्ति का नाश कर देते हैं, अतः सब प्रकार का चिकित्साकार्य निष्फल होता है। पहिले स्वयं कहा भी है—

"स स्थिरत्वान्महत्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्योषधवीर्याणि मंत्रान् दुष्टग्रहो यथा॥" ३१,३२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने छायाविप्रतिपत्ति-नामैकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

---

[1] चरक में इसी को इस प्रकार से स्पष्ट किया है—
ज्वरातिसारौ शोफान्ते, श्वयथुर्वा तयोः क्षये।
दुर्बलस्य विशेषेण, नरस्यान्ताय जायते॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः स्वभावविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'स्वभाव विप्रतिपत्ति' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था।

वि० मन्तव्य—स्वभाव अर्थात् स्वाभाविक वर्ण आदि की विप्रतिपत्ति अर्थात् परिवर्त्तन-बदल जाना। यह भी अरिष्ट होता है ॥१,२॥

स्वभावसिद्धानां शरीरैकदेशानामन्यभावित्वं मरणाय। तद्यथा—शुक्लानां कृष्णत्वं, कृष्णानां शुक्लता, रक्तानामन्यवर्णत्वं, स्थिराणां मृदुत्वं, मृदूनां स्थिरता, चलानामचलत्वम्, अचलानां चलता, पृथूनां संक्षिप्तत्वं, संक्षिप्तानां पृथुता, दीर्घाणां ह्रस्वत्वं, ह्रस्वानां दीर्घता, अपतनधर्मिणां पतनधर्मित्वं, पतनधर्मिणामपतनधर्मित्वमकस्मात्, शैत्यौष्ण्यस्नैग्ध्यरौक्ष्यप्रस्तम्भवैवर्ण्यावसादनं चाङ्गानाम् ॥३॥

प्रकृति से प्रसिद्ध-शरीर के एक भाग में स्थित अवयवों का—दूसरे रूप में परिवर्त्तित होना मृत्यु के लिये होता है। यथा—श्वेत (दांत आदि का) वस्तुओं का काला होना, (काली आँख की पुतली या बाल) वस्तुओं का श्वेत होना, लाल (होठ आदि) वस्तुओं का अन्य रङ्ग होना, कठोर (कठोर—अस्थि आदि) वस्तुओं का कोमल होना, मृदु (मांस-शोणित आदि) वस्तुओं का कठोर होना, चल (सन्धियों) में स्थिरता, अचल वस्तुओं (नासा आदि) मे चलत्व (गति), पृथु-विस्तीर्ण (उर आदि) वस्तुओं में संकुचितपन, सक्षिप्त संकुचित (आँख की कनीनिका आदि) वस्तुओं में विस्तार का होना, दीर्घ (जंघा आदि) वस्तुओं का छोटा होना, छोटी वस्तुओं (ग्रीवा शिश्न आदि) का लम्बा होना, अपतनशील (नखादि) वस्तुओं का गिरना, गिरनेवाली वस्तुओं का (मूत्र-पुरीष-सिंघाणक आदि का) न गिरना, अकस्मात्-उष्ण स्वभाववाले हाथ-पाँव में ठण्डक आ जाना, फूत्कार आदि में उष्णता, नयनतारकादि स्निग्ध वस्तुओं में रूक्षता, त्वचा आदि रुक्ष वस्तुओं में स्निग्धता, अंगों में प्रस्तम्भ (स्तब्ध), विवर्णता (रङ्ग-परिवर्तन), अवसाद (शिथिलता) होना मृत्यु के लक्षण हैं ॥३॥

स्वेभ्यः स्थानेभ्यः शरीरैकदेशानामवस्रस्तोत्क्षिप्तभ्रान्तावक्षिप्तपतितविमुक्तनिर्गतान्तर्गुरुलघुत्वानि, प्रवालवर्णव्यङ्गप्रादुर्भावो वाऽप्यकस्मात्, सिराणां च दर्शनं ललाटे, नासावंशे वा पिडकोत्पत्तिः, ललाटे वा प्रभातकाले, स्वेदो नेत्ररोगाद्विना वाऽश्रुप्रवृत्तिः, गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे, निलयनं वा कपोतकङ्ककाकप्रभृतीनां, मूत्रपुरीषवृद्धिरभुञ्जानानां, तत्प्रणाशो वा भुञ्जानानां,

स्तनमूलहृदयोरःसु च शूलोत्पत्तयः, मध्ये शूनत्वमन्तेषु परिम्लायित्वं विपर्ययो वा, तथाऽर्धांगे श्वयथुः शोषोऽङ्गपक्षयोर्वा, नष्टहीनविकलविकृतस्वरता वा, विवर्णपुष्पप्रादुर्भावो वा दन्तमुखनखशरीरेषु, यस्य वाऽप्सु कफपुरीषरेतांसि निमज्जन्ति, यस्य वा दृष्टिमण्डले भिन्नविकृतानि रूपाण्यालोक्यन्ते, स्नेहाभ्यक्तकेशाङ्ग इव यो भाति, यश्च दुर्बलो भक्तद्वेषातिसाराभ्यां पीड्यते, कासमानश्च तृष्णाभिभूतः, क्षीणश्छर्दिभक्तद्वेषयुक्तः सफेनपूयरुधिरोद्वामी हतस्वरः शूलाभिपन्नश्च मनुष्यः, शूनकरचरणवदनः क्षीणोऽन्नद्वेषी स्रस्तपिण्डिकांसपाणिपादो ज्वरकासाभिभूतः, यस्तु पूर्वाह्णे भुक्तमपराह्णे छर्दयत्यविदग्धमतिसार्यते वा स श्वासान्म्रियते, बस्तवद्विलपन् यश्च भूमौ पतति स्रस्तमुष्कः, स्तब्धमेढ्रो भग्नग्रीवः प्रनष्टमेहनश्च मनुष्यः, प्राग्विशुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरः, यश्च लोष्टं लोष्टेनाभिहन्ति काष्ठं काष्ठेन, तृणानि वा छिनत्ति, अधरोष्ठं दशति, उत्तरोष्ठं वा लेढि, आलुञ्चति वा कर्णौ केशांश्च, देवद्विजगुरुसुहृद्वैद्यांश्च द्वेष्टि, यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा गर्हितस्थानगताः पीडयन्ति जन्मर्क्षं वा, यस्योल्काशनिभ्यामभिहन्यते होरा वा, गृहदारशयनासनवाहनमणिरत्नोपकरणगर्हितलक्षणनिमित्तप्रादुर्भावो वेति ॥ ४ ॥

शरीर के अङ्गों का अपने स्वाभाविक स्थान से अवस्रस्त (नीचे आना भ्रू आदि का), उत्क्षिप्त (आँख आदि का ऊपर चढ़ना), भ्रान्त (आँख आदि का भ्रमण), अवक्षिप्त (तिरछा होना), पतित (शिर-ग्रीवा आदि का गिरना), विमुक्त (सन्धि आदि का मोक्ष), निर्गत (जीभ-आँख का बाहर निकल आना), अन्तर्गत (आँख का अन्दर धँसना), गुरु (आँख पलकों का भारी होना), लघुता (बाहु-जंघा का हल्का होना), या अचानक प्रवाल (मूँगे) के समान रङ्गवाले व्यङ्गों का उत्पन्न होना मृत्यु का सूचक है। [1]अकस्मात् ललाट में सिरायें दीखने लगें, नासावंश में सहसा पिड़का का उत्पन्न होना, प्रभातकाल में माथे पर पसीना आना, बिना नेत्ररोग के आँखों से आँसू बहें, जिसके सिर पर गोबर के चूर्ण के समान प्रकाश अथवा गोबर के चूर्ण के समान धूल दिखाई देती है, जिसके सिर पर कबूतर, कौआ, कंक आदि पक्षी बैठें, भोजन न करने पर मूत्र-पुरीष की वृद्धि हो, भोजन करने पर मूत्र पुरीष में ह्रास हो, स्तनमूल-हृदय और उर में शूल उत्पन्न हो, शरीर के मध्य भाग में सूजन हो, हाथ-पाँव में शुष्कता, आधे शरीर में सूजन, आधे में शुष्कता, पक्षार्द्ध में म्लानता, स्वर का नष्ट होना, स्वर का निर्बल होना, स्वर का विकल होना (भर्राई आवाज), स्वर का स्वाभाविक रूप में न रहना, दांत-मुख-नख एवं शरीर में विवर्णता एवं पुष्प का उत्पन्न होना, जिस रोगी का कफ, मल एवं शुक्र पानी में डूब जाता है, जिस रोगी के दृष्टिमण्डल में नाना प्रकार के गाय, भैंस आदि अथवा विकृत (तीन सिर, तीन भुजा या एक हाथ आदि) रूप दिखाई देते हैं, बिना तेल के सिर एवं शरीर तैल से चिकना प्रतीत हो, जो दुर्बल व्यक्ति अन्न-द्वेष तथा अतिसार से पीड़ित हो, खांसते हुए तृष्णा से पीड़ित हो जावे, क्षीण हो, यदि वमन, भोजन में द्वेष हो, झाग मिश्रित रक्त का वमन करनेवाला, निर्बलस्वर एवं शूल से पीड़ित मनुष्य, हाथ-पाँव सूज गये हों—क्षीण, अन्न द्वेष करनेवाला, पिण्डलियाँ—कन्धे पाँव हाथ थक गये हों तथा ज्वर एवं कास से पीड़ित मनुष्य मर जाता है, जो कि पूर्वाह्न में खाये भोजन का अपराह्न में वमन कर देता है, बिना पचा भोजन जिसका अतिसार में बाहर आता है, ये असाध्य हैं। ज्वर एवं कास से पीड़ित व्यक्ति श्वास रोग से मरता है।

कसाई से मारा गया बकरा जिस प्रकार भूमि पर गिरते समय शब्द करता है, उस प्रकार का शब्द करनेवाला मनुष्य असाध्य है। जिसके अण्डकोष स्थान से स्खलित हो जायें या जिसका शिश्न स्तब्ध हो, जिसकी ग्रीवा गिर गई अथवा जिसका शिश्न अन्दर को घुस गया, वह मनुष्य असाध्य है।

स्नान एवं लेप आदि करने पर जिस मनुष्य का शरीर तो गीला हो और हृदय प्रथम शुष्क होने लगता है, वह (पन्द्रह दिन में) मर जाता है और जो पुरुष मिट्टी के ढेले से मिट्टी के ढेले को, लकड़ी से लकड़ी को मारता है, तिनकों को तोड़ता रहता है, निचले ओठ को काटता रहता है, ऊपर के ओठ को चाटता है, कानों को या बालों को खींचता रहता है; देवता-ब्राह्मण, गुरु, मित्र एवं वैद्य से जो द्वेष रखता है वह एक साल में मर जाता है। जिसके ग्रह पूर्वभुक्त राशि पर पुनः आ जाते हैं—वे वक्र ग्रह होते हैं, वक्र एवं अनुवक्र ग्रह जिस पुरुष के गर्हित स्थान पर आकर पीड़ा उत्पन्न करते हैं[1]। जिसके जन्म-

१ चरक में भी कहा है—

धमनीनाममूर्ध्नाणां जालमत्यर्थशोभनम् ।
ललाटे दृश्यते यस्य षड्भिर्मासैर्मरिष्यति ॥
बिम्बीविद्रुमवर्णाभा शक्रगोपप्रभाऽपि वा ।
नासावंशे भवेद् यस्य पिडका न स सिध्यति ॥
यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्द्धनि जायते ।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥

१. ग्रह-गति—

"वक्रानुवक्रा कुटिला मन्दा मन्दतरा समा ।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥"

१२ स्थान भावों के नाम—

"लग्नं धनं सोदरश्च बन्धुः पुत्रो रिपुस्तथा ।

नक्षत्र उल्का, अशनि द्वारा नष्ट होता है, जिसकी होरा (जन्म-राशि) उल्का-अशनि-तेज:पुञ्ज से नष्ट होता हो, या घर, स्त्री, शय्या, आसन, यान, वाहन, मणि, रत्न, उपकरणों (घट-पिठर आदि) के निन्दित लक्षणोंका प्रादुर्भाव होते हों वह असाध्य है

वि० मन्तव्य—निन्दित लक्षणोंवाले—गृह दारा आदि के प्रभाव से भी स्वामी की मृत्यु हो जाती है ॥ ४॥

भवन्ति चात्र—

चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते ।
प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद् गतायुषः ॥ ५ ॥
निवर्तते महाव्याधिः सहसा यस्य देहिनः ।
न चाहारफलं यस्य दृश्यते स विनश्यति ॥ ६ ॥

कहा भी है—

जो रोग भली प्रकार चिकित्सा करने पर भी बढ़ता ही जाता हो, रोगी का बल (उत्साह) और मांस निरन्तर क्षीण हो रहा हो तो ये लक्षण मरणासन्न रोगी के हैं, जिस पुरुष के महारोग (वातव्याधि, प्रमेह आदि आठ) सहसा अच्छे हो जाते हैं, और भोजन का कुछ भी फल शरीर में दिखाई न देता हो तो वह मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥ ५,६ ॥

एतान्यरिष्टरूपाणि सम्यग् बुध्येत यो भिषक् ।
साध्यासाध्यपरीक्षाणां स राज्ञः संमतो भवेत् ॥ ७ ॥

जो वैद्य अरिष्ट लक्षणों को भली प्रकार से जानता है, वह साध्य असाध्य रोग की परीक्षा में राजा से प्रशंसित होता है—राजा इसकी सराहना करते हैं ।

वि० मन्तव्य—इस अध्याय में वर्णित अरिष्टों को सम्यक् जानने के लिये—वा० शा० अ० ५ तथा चरक इन्द्रिय स्थान समस्त देखिये ॥ ७ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने स्वभावविप्रतिपत्ति-
र्नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

भार्य्या च निधनं धर्मः कर्म चायो व्ययस्तथा ॥"

१. अनिष्ट-निमित्त—

घर का गुम्बज गिरना, स्त्रियों का पशु आदि करना, हंसती-गाती चार-पाँच कन्याओं का युगपत् पैदा होना, खट्वा और आसन का सहसा गिरना-नष्ट होना, यान की ध्वजा पर कौवे आदि का गिरना, वाहन (पशु आदि) का रोना, मणिरत्न आदिका निष्प्रभ होना ।

विस्तार के लिये—महाभारत के भीष्म-विराट् पर्व देखने चाहिए ।

"नीललोहितपीतश्च भवत्यग्निर्हुतो द्विजैः ।
वामार्च्चिर्दुष्टगन्धश्च मुञ्चन् वै दारुणं स्वनम् ॥"

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातोऽवारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

अब 'अवारणीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था । आयुर्वेद में असाध्य रोगों की पहिचान चार प्रकार की बताई है। यथा—काल, स्वभाव, रिष्ट और उपद्रव । इनमें काल-स्वभाव का संक्षेप में वर्णन करके भी आगे करेंगे, रिष्ट लक्षण कह दिये, अतः अब उपद्रवों के लक्षणों को कहते हैं ।

वि० मन्तव्य—जिन उपद्रव-लक्षणों के उत्पन्न होने पर मृत्यु का निवारण (निरोध) नहीं किया जा सकता ॥ १,२ ॥

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यवार्यताम् ।
रसायनाद्विना वत्स ! तान् शृण्वेकमना मम ॥ ३ ॥

हे वत्स सुश्रुत ! उपद्रवों से युक्त जो रोग रसायन के बिना स्वस्थ नहीं होते उन रोगों का नामसंकीर्त्तन एकमन से सुनो१।

वि० मन्तव्य—केवल रसायन सेवन से जिनका निवारण (निराकरण या निरोध) हो सकता है । केवल व्याधि विपरीत चिकित्सा से निवारण नहीं होता । रसायन सेवन से प्रशस्त-विशुद्ध रस, रक्त एवं मांस आदि धातुओं का लाभ (उत्पत्ति एवं वृद्धि) होता है, फलतः बल लाभ होता है "बलाधिष्ठानम् आरोग्यम्" के अनुसार आरोग्य लाभ हो जाता है । और रस अर्थात् पारदवाले औषध भी रसायन कहे जाते हैं । उनके लिये रस-शास्त्रों में कहा है कि अन्य सब औषधियाँ साध्य रोगों में लाभ करती हैं, परन्तु—'असाध्येष्वपि दातव्यो रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते ।' पारद का प्रयोग असाध्य रोगों पर भी किया जा सकता है, अतः वह अन्य औषधियों से श्रेष्ठ है । यथा—सन्निपात ज्वर में विहित मांसरस, शोथ में दुग्ध, ग्रहणी रोग में तक्र, दधि एवं दूध, यक्ष्मा में अजामांस आदि का प्रयोग और साथमें मकरध्वज, स्वर्ण पर्पटी आदि पर्पटी, तथा वसन्त मालती आदि का प्रयोग ॥ ३ ॥

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम् ।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम् ॥ ४ ॥

---

१. उपद्रव का लक्षण—

यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः ॥

२. उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः ।

अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः ।

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ और उदर ये—आठ महा रोग हैं। ये आठों रोग प्रकृति से ही कष्टसाध्य हैं ॥४॥

प्राणमांसक्षयः शोषस्तृष्णा च्छर्दिर्ज्वरस्तथा ॥५॥
अतीसारश्च मूर्च्छा च हिक्का श्वासस्तथैव च ।
एतैरुपद्रवैर्जुष्टान् सर्वानेव विवर्जयेत् ॥६॥

प्राण एवं मांस से क्षीण रोगी को जब श्वास, तृष्णा, शोष, वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, अथवा हिक्का रोग होता है, अथवा इनमें से कोई तीन रोग उपद्रव रूप हों तो—सफलता चाहनेवाले वैद्य को चाहिये कि इनका परित्याग कर दे ॥५,६॥

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।
नरं रुजार्तमन्तश्च वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥७॥

वातव्याधि में—शोथादि उपद्रवयुक्त पुरुष को वातव्याधि नष्ट कर देती है। इसी प्रकार—सुप्त त्वचा (स्पर्श-ज्ञानशून्य) भग्न (वायु के कारण टूटे), कम्प एवं आध्मान से पीड़ित, गम्भीर वेदना से व्याकुल पुरुष को वातव्याधि नष्ट कर देती है ॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव वा ।
पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥८॥

यथोक्त उपद्रवों (कफ-जन्य मेहों में—मक्षिका उपसर्पण, पित्तजन्य में-वृषणावदारण, वातजन्य में हृद्ग्रह आदि) से युक्त, तथा-प्रतिदिन मूत्र का अतिस्राव करनेवाला शराविका-कच्छपिका आदि पिड़काओं से विशेष रूप में पीड़ित मनुष्य प्रमेहरोग से मरता है। उपद्रव-तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः ॥८॥

प्रभिन्नप्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हृयस्वरम् ।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥९॥

प्रभिन्न (विदीर्ण अङ्गोंवाले), प्रस्रुत (जिन अङ्गों से स्राव बहता हो), लाल आँखोंवाले, जिसका स्वर नष्ट हो गया हो, जिस कुष्ठ रोगी में—वमन, विरेचन, रक्तावसेचन और शिरोविरेचन—ये पंचकर्म फल न करें (अथवा—पंचम धातु अस्थि में स्थित कुष्ठ पर जब संशोधन, संशमन, गुग्गुलु आदि चिकित्सा लाभ नहीं करती) तो रोगी को कुष्ठ रोग नष्ट करता है ॥९॥

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोफातीसारसंयुक्तमर्शोऽव्याधिर्विनाशयेत् ॥१०॥

अर्शरोग—तृष्णा, अरुचि तथा शूल से पीड़ित तथा जिसका रक्त बहुत बहता हो, शोफ एवं अतिसार से युक्त रोगी को अर्श रोग नष्ट करता है ॥१०॥

वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥११॥

जिस भगन्दर रोगी के भगन्दर से वायु-मूत्र-मल-कृमि एवं शुक्र बहता है, वह रोगी नष्ट हो जाता है ॥११॥

प्रशूननाभिवृषणं रुद्धमूत्रं रुगन्वितम् ।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥१२॥

जिस रोगी की नाभि एवं वृषण सूज गये हों, मूत्र के रुकने से तीव्र वेदना हो रही हो, उसको सिकतामेह, शर्करारोग एवं अश्मरीरोग नष्ट कर देता है। (कई इसका अर्थ—शर्करा से मिश्रित बालुका के समान अश्मरी रोग नष्ट करते हैं) ॥१२॥

गर्भकोषपरासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृतिः ।
हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भे यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥१३॥

मूढगर्भ रोग में—गर्भाशय का जोर से बन्द हो जाना (या गर्भाशय का स्थान भ्रंश होकर बन्द होना), मक्कल्ल—(गर्भाशय में—प्रसवोत्तर-रक्त के रुक जाने से उत्पन्न वेदनायें), और योनि का संकुचित होना तथा मूढ़गर्भ में कहे कास-आक्षेप-श्वास आदि उपद्रवों का होना स्त्री को मार देता है ॥

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफातीसारपीडितम् ।
विरिक्तं पूर्यमाणं च वर्जयेदुदरार्दितम् ॥१४॥

उदररोग से पीड़ित रोगी को यदि पार्श्व भंग (पखवाड़ों का टूटना), भोजन में द्वेष, सूजन, अतिसार हो तथा विरेचन-द्रव्यों से बार बार रिक्त होने पर भी फिर उदर भर जाता हो तो वह उदररोगी असाध्य है ॥१४॥

यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा ।
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ॥१५॥
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ।
नित्यं वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्तं ज्वरो हन्ति मानवम् ॥१६॥
हिक्काश्वासपिपासार्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ।
संततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ॥१७॥
आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च ।
क्षीणशोणितमांसं च नरं नाशयति ज्वरः ॥१८॥

ज्वर—जो रोगी बार-बार मूर्च्छित हो जाता है, संज्ञा-रहित हो जाता है, गिरते समय संज्ञारहित हो जाता है, बाहर शीत से पीड़ित और अन्दर से उष्ण, इस प्रकार का रोगी ज्वर से मरता है। जिसके शरीर पर रोमांच होता हो, आँखें लाल हों, हृदय में तीव्र वेदना (पत्थर की चोट के समान) होती हो, मुख को ऊँचा उठाकर खोलकर श्वास लेता हो—वह रोगी ज्वर से मरता है। हिचकी-श्वास तथा पिपासा से पीड़ित मूढ (मोह युक्त), जिसके नेत्र लगातार इधर-उधर चलते-फिरते हैं (अस्थिर दृष्टि), निरन्तर ऊर्ध्वश्वास लेनेवाले रोगी को ज्वर तत्क्षण मार देता है। जिस रोगी की आँखें गदराई हों, मोहयुक्त रहता हो, रात दिन नींद में पड़ा रहता हो, रक्त और मांस क्षीण हो गया हो—ऐसे रोगी को ज्वर नष्ट कर देता है ॥

श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥१९॥

श्वास, शूल, पिपासा, साँस से क्षीण, ज्वर से पीड़ित व्यक्ति को अतिसार एवं प्रवाहिका (पेचिश) नष्ट कर देते हैं॥

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम्।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम ॥२०॥

आँखें श्वेत हो गई हों, भोजन में द्वेष हो, ऊर्ध्वश्वास से पीड़ित हो, कष्टपूर्वक मात्रा में बहुत मूत्र का क्षरण करता हो (अतिशय मूत्र उत्पन्न होने से—मांस-रक्त का क्षय होता है) वह रोगी यक्ष्मा रोग से मरता है ॥२०॥

श्वासशूलपिपासान्नविद्वेषग्रन्थिमूढतः।
भवन्ति दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मृत्युमेष्यतः ॥२१॥

गुल्म रोग से मरनेवाले रोगी में—श्वास, शूल, प्यास, भोजन में द्वेष, गुल्म का सहसा लीन हो जाना, तथा दुर्बलत्व उत्पन्न हो जाता है ॥२१॥

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृडन्वितम्।
रुजाश्वाससमाविष्टं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥२२॥

आध्मान से युक्त, मल मूत्र-पूय आदि का अवरोध, वमन, हिचकी, प्यास, श्वासरोग से पीड़ित व्यक्ति को विद्रधि (अन्तर्विद्रधि) नष्ट कर देती है ॥२२॥

पाण्डुदन्तनखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानवः।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥२३॥

जिस पाण्डुरोगी के दाँत नख पीले पड़ गये हों, आँखें पीली हो गई हों, सब द्रव्य श्वेत-पीले दिखाई देते हों, वह पाण्डुरोगी नष्ट हो जाता है ॥२३॥

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः।
रक्तानां च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ॥२४॥

जो रक्तपित्त रोगी बार-बार रक्त का वमन करता है, जिस की आँखें लाल हो गई हों, दिशाओं में चारों ओर लाल-लाल ही रङ्ग देखता हो, वह रक्तपित्त रोगी नष्ट हो जाता है ॥२४॥

अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः।
जागरिष्णुरसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥२५॥

जिस उन्माद रोगी का मुख सदा नीचे रहता है, अथवा सदा ऊपर उठा रहता हो, मांस एवं शक्ति (उत्साह) क्षीण हो गई हो, निरन्तर जागता रहता हो, वह उन्मादरोगी निःसन्देह नष्ट होता है ॥२५॥

बहुशोऽपस्मरन्तं तु प्रक्षीणं चलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥२६॥

जिस रोगी को बार-बार अपस्मार का वेग आता है, मांस एवं शक्ति क्षीण हो जाये, भ्रूवें तिरछी हो जायें, आँखों से तिरछा (विकृत रूप) देखता हो, वह अपस्मारी मर जाता है॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽवारणीयो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो युक्तसेनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'युक्तसेनीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1]।

वि० मन्तव्य—'युक्ता सज्जीकृता सेना येन स युक्तसेनः तस्मै हितो युक्तसेनीयः तम्' अर्थात् जब सेना को तैयार करके राजा या सेनापति विजय के लिये चलता है तब उसकी रक्षा के जो उपाय करने चाहिये वे इस अध्याय में कहे हैं। सेना के साथ चिकित्सकों का रहना आवश्यक है ॥१,२॥

नृपतेर्युक्तसेनस्य परानभिजिगीषतः।
भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥३॥
विजिगीषुः सहामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः।
रक्षितव्यो विशेषेण विषादेव नराधिपः ॥४॥

चतुरङ्ग बलवाले राजा की, शत्रुओं को पराजित करने के लिये जाते समय जिस प्रकार से वैद्य को रक्षा करनी चाहिये, वह कहते हैं। जीतने की इच्छा से अमात्य आदि पुरुषों के साथ राजा जब यात्रा करता है, तब वैद्य को चाहिये कि प्रयत्नपूर्वक आगन्तुक मृत्युओं से, खासकर—स्थावर जङ्गम एवं कृत्रिम विषों से इनकी रक्षा करे ॥३,४॥

पन्थानमुदकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम्।
दूषयन्त्यरयस्तच्च जानीयाच्छोधयेत्तथा ॥५॥
तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रवक्ष्यते।

शत्रु लोग रास्तों (घोड़े आदि के) को, पानी को, छाया को, भक्त (भोजन) को, यवस (घोड़े आदि के तृण आदि) को, इन्धन को दूषित कर देते हैं, इस लिये वैद्य को चाहिये कि इनकी परीक्षा करके शोधन करे। इसके लक्षण और चिकित्सा को कल्पस्थान में कहेंगे ॥५॥

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते ॥६॥
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषा आगन्तवः स्मृताः।

---

१ 'युक्तसेनीयं'—सेना—चतुरंग बल, जिसकी सेना संग्राम के लिये नियुक्त है, ऐसे राजा की रक्षा का उपाय कहते हैं। क्योंकि आगे कल्पस्थान में कहेंगे कि "राज्ञोऽरिदेशे रिपवः प्रमादात्" इत्यादि। शत्रु के देश में शत्रु तृण-धूल-पानी-वायु को दूषित कर देते हैं। अतः वैद्य को चाहिये इनसे राजा की रक्षा करे।

अथर्ववेद को जाननेवाले व्यक्ति कहते हैं कि मृत्यु एक सौ एक हैं, वहाँ एक कालमृत्यु है, शेष सौ मृत्यु आगन्तुज (अकाल) मृत्यु हैं [1]।

वि० मन्तव्य—१०१ प्राणियों में किसी एक प्राणी की कालमृत्यु होती है और १०० प्राणियों की रोग, विष, दुर्घटना तथा आत्महत्या आदि से मृत्यु हो जाती है, यथा—गाड़ी—कोई पुरानी होकर टूटती है तो कोई अन्यान्यकारणों से (वाह्य वाहक दोष से अथवा मार्ग दोष आदि से) पुरानी होने के पूर्व ही टूट जाती है। शरीर भी एक प्रकार की गाड़ी है। अकाल मृत्यु का अच्छा नाम है अपमृत्यु। शत का अर्थ भी केवल सौ नहीं, अपितु सैकड़ों-असंख्य है ॥ ६ ॥

दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ ।
रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्तौ वैद्यपुरोहितौ ॥ ७ ॥

रसशास्त्र (Chemistry रसायनशास्त्र) चतुर वैद्य एवं मन्त्रशास्त्र में दक्ष पुरोहित दोषों (वातादि) से एवं आगन्तुज (विष चोट) आदि मृत्युओं से राजा की यत्न पूर्वक रक्षा करें।

ब्रह्मा वेदाङ्गमष्टाङ्गमायुर्वेदमभाषत ।
पुरोहितमते तस्माद्वर्तेत भिषगात्मवान् ॥ ८ ॥

वैद्य—वेदों के उपांग आयुर्वेद को पढ़ता है, और पुरोहित वेदों को पढ़ता है। ब्रह्मा ने वेदों के उपांग अष्टांगवाले आयुर्वेद को कहा था—वैद्य उसको पढ़ता है। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि सदा पुरोहित की आज्ञा-सम्मति में रहकर कार्य करें, पुरोहित—वैद्य से श्रेष्ठ है।

वि० मन्तव्य—परन्तु वैद्य स्वयं भी आत्मवान् रहे अर्थात् अपने को प्रशस्त बनाये रहे, अपने विचार आदि का दृढ़तापूर्वक उपयोग-प्रयोग करता रहे। पुरोहित दैवव्यपाश्रय है और वैद्य युक्तिव्यपाश्रय होकर चिकित्सा तत्परता से करता रहे ॥८॥

संकरः सर्ववर्णानां प्रणाशो धर्मकर्मणाम् ।
प्रजानामपि चोच्छित्तिर्नृपव्यसनहेतुतः ॥ ९ ॥

राजा के व्यसनों में फँसने के कारण—ब्राह्मण आदि वर्णों का संकर (एकत्व) उत्पन्न होता है सब ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रम नष्ट हो जाते हैं सब ब्राह्मण आदि सब वर्णों के धर्मकार्य बिगड़ जाते हैं, प्रजाओं के कृषि-पशुपालन-वाणिज्य आदि कार्यों का नाश हो जाता है।

वि० मन्तव्य—राजा मद्यपान आदि व्यसनों से स्वयं सत्त्वावजय (मन पर विजय) से अपनी रक्षा करता रहे ॥

पुरुषाणां नृपाणां च केवलं तुल्यमूर्तिता ।
आज्ञा त्यागः क्षमा धैर्यं विक्रमश्चाप्यमानुषः ॥ १० ॥
तस्माद्दैवमिवाभीक्ष्णं वाङ्मनःकर्मभिः शुभैः ।
चिन्तयेन्नृपतिं वैद्यः श्रेयांसीच्छन् विचक्षणः ॥ ११ ॥

राजाओं एवं अन्य पुरुषों में केवल आकृति की समानता होती है। राजाओं में—आज्ञा, त्याग, क्षमा, धैर्य और विक्रम ये दैवीगुण रहते दैवीगुण रहते हैं। इसलिये बुद्धिमान् वैद्य को चाहिए कि कल्याण की इच्छा से शुभ वाणी, शुभ मन एवं शुभ कार्यों से देवता के समान सदा राजा की चिन्ता करे ॥

स्कन्धावारे च महति राजगेहादनन्तरम् ।
भवेत्सन्निहितो वैद्यः सर्वोपकरणान्वितः ॥ १२ ॥
तत्रस्थमेनं ध्वजवद्यशःख्यातिसमुच्छ्रितम् ।
उपसर्पन्त्यमोहेन विषशल्यामयार्दिताः ॥ १३ ॥
स्वतन्त्रकुशलोऽन्येषु शास्त्रार्थेष्वबहिष्कृतः ।
वैद्यो ध्वज इवाभाति नृपतद्विद्यपूजितः ॥ १४ ॥

बड़े स्कन्धावार (शिविर—सेनानिवेश) में राजनिवास के समीप ही, शस्त्र, क्षार एवं औषध आदि उपकरणों से युक्त वैद्य का निवास हो। वहाँ पर ध्वज के समान यश एवं ख्याति से युक्त (सर्वजनविदित) रहते हुए वैद्य के पास, भूले भटके बिना विषपीड़ित (जख्मी या घायल) तथा रोगपीड़ित (रोगी) जन पहुँच जाते हैं। जो चिकित्सक—आयुर्वेद में कुशल (निपुण) होता है और ज्यौतिष-कर्मकाण्ड आदि का भी थोड़ा बहुत जानकार (ज्ञाता) होता है और राजा तथा चिकित्सकों द्वारा सम्मानित होता है वह वैद्य ध्वज (राष्ट्रीय ध्वज) के समान शोभा पाता है—दूर से दिखाई पड़ता है। फलतः सब दुखिया उसके पास जा सकते हैं ॥१२-१४॥

---

[1]—मृत्यु दो प्रकार की है—एक कालमृत्यु और दूसरी अकालमृत्यु। क्योंकि दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं। यथा—

कालमृत्यु के पक्ष में—

(१) नाकाले म्रियते कश्चित् नास्ति मृत्युरकालजः ।
यो यस्मिन् म्रियते काले मृत्युकालः स तस्य हि ॥
(२) नाकाले म्रियते कश्चिद् विद्धः शरशतैरपि ।
कालप्राप्तस्य कौन्तेय ! वज्रायन्ते तृणान्यपि ॥

अकालमृत्यु के पक्ष में—

(१) यथा वर्षमकाले च यथा पुष्पं यथा फलम् ।
यथा स्याद् दीपनिर्वाणमकाले मरणं तथा ॥
(२) जलमग्निर्विषं शस्त्रं स्त्रियो राजकुलानि च ।
अकालमृत्यवो ह्येते तेभ्यो बिभ्यति पण्डिताः ॥
(३) कालः सुरैरपि वञ्चयितुं न शक्यो
वक्ष्ये विधानमपमृत्युविनाशनाय ।
मृत्युर्भविष्यति कथंचन नापमृत्यु-
र्व्यर्थास्तदा चरकसुश्रुतवाग्भटाद्याः ॥
(४) विध्वस्वातादिभिर्यद्वद् दीपो वर्त्यादिसंयुतः ।
निर्वाप्यते क्षणाद्देही तथैवागन्तुमृत्युभिः ॥

जिस प्रकार तेल और बत्ती से युक्त दीपक भी वायु के प्रबल झोंकों से बुझ जाता है; उसी प्रकार आगन्तुज मृत्युओं के कारण मनुष्य मृत हो जाता है।

वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषजं परिचारकः ।
एते पादाश्चिकित्सायाः कर्मसाधनहेतवः ॥ १५ ॥
गुणवद्भिस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थो गुणवान् भिषक् ।
व्याधिमल्पेन कालेन महान्तमपि साधयेत् ॥ १६ ॥

चिकित्सा के चार पाद हैं—१—वैद्य, २—रोगी, ३—औषध (एवं उपकरण) तथा ४—परिचारक । यह चारों चिकित्सा की सफलता के हेतु (कारण) हैं ।

निम्नलिखित गुणों से युक्त रोगी, औषध तथा परिचारक के साथ साथ निम्नलिखित गुणों से युक्त चौथा पाद अर्थात् वैद्य बड़े से बड़े रोग को भी थोड़े समय में सिद्ध कर लेता है—नष्ट कर देता है ॥ १५,१६ ॥

वैद्यहीनास्त्रयः पादा गुणवन्तोऽप्यपार्थकाः ।
उद्गातृहोतृब्रह्माणो यथाऽध्वर्युं विनाऽध्वरे ॥ १७ ॥

वैद्य के बिना तीनों पाद गुणवान् होने पर भी निरर्थक होते हैं, जिस प्रकार यज्ञ में यजुर्वेद-अध्यायी, अध्वर्यु उपाध्याय के बिना-उद्गाता, ब्रह्मा और होता तीनों व्यर्थ होते हैं ॥ १७ ॥

वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरं सदा ।
प्लवं प्रतितरैर्हीनं कर्णधार इवाम्भसि ॥ १८ ॥

एक गुणवान् वैद्य सदा रोगियों को रोगरूपी समुद्र के पार पहुँचा देता है । जिस प्रकार नौका का नेता चप्पु चलानेवाले पुरुषों के बिना भी नाव को समुद्र के किनारे ले जाता है ॥१८॥

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती ।
लघुहस्तः शुचिः शूरः सज्जोपस्करभेषजः ॥ १९ ॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः ।
सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक् पाद उच्यते ॥ २० ॥

वैद्य के गुण—ठीक प्रकार शास्त्र पढ़ा हुआ, एवं ठीक प्रकार से शास्त्र का अर्थ समझा हुआ, छेदन स्नेहन आदि कर्मों को देखा तथा स्वयं किया हुआ, छेदन आदि शस्त्र-कार्यों में दक्ष हाथवाला, बाह्य एवं अन्दर से पवित्र (रज तम रहित), शूर (विषाद रहित), अग्रोपहरणीय अध्याय में वर्णित साज-सामान सहित, प्रत्युत्पन्नमति (उत्तम प्रतिभा-सूझ वाला), बुद्धिमान् व्यवसायी (उत्साही-न घबरानेवाला), विशारद (पण्डित), सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण होना—ये वैद्य के गुण हैं ॥ १६,२० ॥

आयुष्मान् सत्त्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि ।
आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥२१॥

रोगी मनुष्य के गुण-आयुष्मान् (दीर्घायु), सत्त्ववान् (क्लेश सहनेवाला), साध्य (साध्य रोग से पीड़ित), द्रव्यवान् (धनी), आत्मवान् (अलोलुप-जितेन्द्रिय), आस्तिक (परलोक में, दान-यज्ञ में विश्वास रखनेवाला), वैद्य के वचनों को माननेवाला-रोगी उत्तम है ॥ २१ ॥

प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।
युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्धवर्णरसान्वितम् ॥ २२ ॥
दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये ।
समीक्ष्य दत्तं काले च भेषजं पाद उच्यते ॥ २३ ॥

भेषज के गुण—उत्तम देश में उत्पन्न, प्रशस्त दिन में उखाड़ी गई, युक्तमात्र (युक्तप्रमाण), मन के प्रिय, गन्ध-वर्ण-रस से युक्त, दोषों को नष्ट करनेवाली, ग्लानि न उत्पन्न करनेवाली, विपरीत पड़ने पर भी स्वल्प विकार करनेवाली या विकार न करनेवाली, देशकाल आदि की विवेचना करके रोगी को समय पर दी गई औषध गुणकारी होती है ॥ २२,२३ ॥

स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः ॥ २४ ॥

परिचारक के गुण—स्निग्ध (प्रीतियुक्त), अजुगुप्सु (लोभ एवं निन्दा रहित), बलवान्, रोगी की रक्षा करने में संलग्न, वैद्य के वचन को बिना किसी ऊहापोह के माननेवाला, खेदरहित परिचारक प्रशस्त हैं ॥ २४ ॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने युक्तसेनीयो नाम
चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथात आतुरोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'आतुरोपक्रमणीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यम् ; सत्यायुषि व्याध्यृत्वग्निवयोदेहबलसत्त्वसात्म्यप्रकृतिभेषजदेशान् परीक्षेत ॥ ३ ॥

रोगी की चिकित्सा करने से पूर्व वैद्य को रोगी की आयु की परीक्षा करनी चाहिये । आयु के शेष होने पर तो, व्याधि (साध्य असाध्य भेद से), ऋतु, अग्नि, वय, देह, बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति, भेषज, देश आदि की परीक्षा करनी चाहिये ॥

तत्र महापाणिपादपार्श्वपृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गुलिपर्वोच्छ्वासप्रेक्षणबाहुं, विस्तीर्णभ्रूस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजंघामेढ्रग्रीवं, गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिम्, अनुच्चैर्बद्धस्तनम्, उपचितमहारोमशकर्णं, पश्चान्मस्तिष्कं, स्नातानुलिप्तं मूर्धानुपूर्व्वं विशुष्यमाणशरीरं पश्चाच्च विशुष्यमाणहृदयं पुरुषं जानीयाद्दीर्घायुः खल्वयमिति । तमेकान्तेनोपक्रमेत् । एभिर्लक्षणैर्विपरीतैरल्पायुः, मिश्रैर्मध्यमायुरिति ॥ ४ ॥

निम्न लक्षणोंवाला पुरुष दीर्घायु होता है—विशाल हाथ-पाँववाला, विशाल पार्श्ववाला, विशाल पीठ वाला,

विशाल स्तन, विशाल अग्रवाले—दशनोंवाला, विशाल चेहरा, विशाल स्कन्ध, 'विशाल ललाटवाला, दीर्घ-अंगुलियोंवाला, दीर्घ उच्छ्वास (श्वास), दीर्घ आँखोंवाला, दीर्घबाहु, विस्तीर्णभ्रू, विस्तीर्णस्तनान्तर, विस्तीर्णवक्षःस्थल, ह्रस्व जंघा, ह्रस्वमेढ़्र और ह्रस्वग्रीवा, गम्भीरसत्त्व (सत्त्व का प्राचुर्य), गम्भीरस्वर, गम्भीरनाभि, कुछ उठे निबिड़स्तन, मांस से भरे महान् लोमवाले कर्ण, शिर के पिछले भाग में मस्तिष्क उन्नत होना, स्नान के पश्चात् चन्दन आदि का लेप करने पर पहिले माथे से प्रारम्भ होकर समस्त शरीर का लेप शुष्क हो, पीछे हृदय का लेप शुष्क होता हो, इन लक्षणोंवाले पुरुष को समझना चाहिये कि वह 'दीर्घायु' है। इस प्रकार के मनुष्य की बिना किसी सन्देह के (स्थिरचित्त से) चिकित्सा करनी चाहिये। इन लक्षणों से विपरीत लक्षणोंवाले पुरुष को 'स्वल्पायु' समझना चाहिये। मिले जुले लक्षणोंवाले को 'मध्यमायु' समझना चाहिये ॥४॥

भवति चात्र—

गूढ़सन्धिसिरास्नायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः।
उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते ॥५॥
गर्भात् प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते।
शरीरज्ञानविज्ञानैः स दीर्घायुः समासतः ॥६॥

जिस पुरुष की सन्धि, शिरा और स्नायु गूढ़ (छिपी) हैं, गठीले अंगोंवाला, अचलेन्द्रिय, उत्तरोत्तर सुक्षेत्र (पांव की अंगुलियाँ प्रथमक्षेत्र, जंघा और जानु दूसरा क्षेत्र, इस प्रकार से शिर दसवां क्षेत्र है, ये सब एक से एक अच्छा हो) वह पुरुष दीर्घायु होता है। जो पुरुष गर्भावस्था से ही नीरोग है, जिसमें शरीर, ज्ञान (तत्त्वावबोध), विज्ञान (चित्रकर्म कौशल) गुण धीरे-धीरे बढ़ते हैं, वह संक्षेप में दीघायु होता है[1]।

वि० मन्तव्य—उत्तरोत्तर सुक्षेत्र—उत्तरोत्तर दीर्घायुवालों के वंश में उत्पन्न—जिसके माँ-बाप, दादा-दादी, नाना-नानी आदि पूर्वज दीर्घायु रहे हों वह। उत्तरोत्तर सुष्ठु है क्षेत्र-उत्पत्ति स्थान जिसका वह ॥५,६॥

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे।
अधस्तादक्षयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः ॥७॥
द्वे वा तिस्रोऽधिका वाऽपि पादौ कर्णौ च मांसलौ।
नासाग्रमूर्ध्वं च भवेदूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः ॥८॥
यस्य स्युस्तस्य परममायुर्भवति सप्ततिः।

१ कविराज हाराणचन्द्र जी ने 'उत्तरोत्तर सुक्षेत्र' का अर्थ—कौमारावस्था से यौवनावस्था—यौवनावस्था से तरुणावस्था—इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता गिनी है। ज्ञान-विज्ञान शरीर का धीरे २ बढ़ना श्रेष्ठ है। क्योंकि—

"व्यञ्जनादि शुभा विद्या मेदोमेधादयो दश।
अल्पे वयसि यस्तैतन्न स जीवेत् कदाचन ॥"

मध्यमायु पुरुष के लक्षण कहते हैं—जिसकी आँखों[1] के नीचे दो या तीन अथवा इससे अधिक लम्बी रेखायें स्पष्ट होती हैं, पांव एवं कान मांस से भरे होते हैं, नासा का अग्रभाग ऊपर को उन्नत हो, पीठ में ऊपर को रेखायें हों, तो इस प्रकार के पुरुष को मध्यमायु समझना चाहिये। इसकी आयु सत्तर वर्ष से ऊपर नहीं होती ॥७,८॥

जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे ॥९॥
ह्रस्वानि यस्य पर्वाणि सुमहच्चापि मेहनम्।
तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम् ॥१०॥
ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानान्नासा चोच्चा शरीरिणः।
हसतो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रदृश्यते।
प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम् ॥११॥

इसके आगे जघन्य आयु के लक्षणों को कहते हैं। अंगुलियों के पर्व छोटे हों और शिश्न बड़ा हो वक्षःस्थल अन्दर को दबा हो[2]। पीठ विशाल न हो, जिसके कान अपने स्थान से ऊँचाई पर हों तथा नासिका भी ऊँचाई पर होती है, हंसते बात करते समय जिस पुरुष के मसूड़े दिखाई देते हैं, जो कि चञ्चल दृष्टि से इधर उधर देखता है, वह ह्रस्व आयु, अधिक से अधिक २५ वर्ष तक जीता है ॥९–११॥

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः। तत्राङ्गान्यन्तराधिसक्थिबाहुशिरांसि, तदवयवाः प्रत्यङ्गानीति। तत्र, स्वैरङ्गुलैः पदाङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ द्व्यंगुलायते; प्रदेशिन्यास्तु मध्यमानाभिकाकनिष्ठिका यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः; चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतले; पञ्चचतुरङ्गुलायतविस्तृता पार्ष्णिः; चतुर्दशाङ्गुलायतः पादः; चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादगुल्फजंघाजानुमध्यानि; अष्टदशाङ्गुला जङ्घा, जानूपरिष्टाच्च द्वात्रिंशदङ्गुलम्, एते पञ्चाशत्; जङ्घायामसमावूरू; द्व्यङ्गुलानि वृषणचिबुकदशननासापुटभागकर्णमूलभ्रूनयनान्तराणि; चतुरङ्गुलानि मेहनवदनान्तरनासाकर्णललाटग्रीवोच्छ्रायदृष्ट्यन्तराणि; द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तारमेहननाभिहृदयग्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिबन्धप्रकोष्ठस्थौल्यानि; इन्द्रबस्तिपरिणाहांसपीठकूर्परान्तरायामः षोडशाङ्गुलः; चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः; द्वात्रिंशाङ्गुलपरिमाणौ भुजौ, द्वात्रिंशत्परिणाहावूरू, मणिबन्धकूर्परान्तरं षोडशाङ्गुलं, तलं षट्चतुरङ्गुलायामविस्तारम्, अङ्गुष्ठमूलप्रदेशिनीश्रवणापाङ्गान्तरमध्यमाङ्गुल्यौ पञ्चांगुले,

१ 'अक्षयोः' शब्द का अर्थ डल्हण ने अक्षकास्थि किया है। अक्षकास्थि के नीचे रेखायें यह अर्थ उतना संगत नहीं।

२ 'अवलीढानि' शब्दका अर्थ डल्हण ने आवर्त्तभेद (प्रतिलोम-अनुलोम) किया है।

अर्धपञ्चाङ्गुले प्रदेशिन्यनामिके, सार्धत्र्यंगुलौ कनिष्ठाङ्गुष्ठौ, चतुर्विंशतिविस्तारपरिणाहं मुखग्रीवं, त्रिभागांगुलविस्तारा नासापुटमर्यादा, नयनत्रिभागपरिणाहा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिः, केशान्तमस्तकान्तमेकादशांगुलं, मस्तकादवटुकेशान्तो दशांगुलः, कर्णावट्वन्तरं चतुर्दशांगुलं, पुरुषोरःप्रमाणविस्तीर्णा स्त्रीश्रोणिः, अष्टादशांगुलविस्तारमुरः, तत्प्रमाणा पुरुषस्य कटी, सविंशमंगुलशतं पुरुषायाम इति ॥१२॥

इसके आगे आयु के विज्ञान के लिये अङ्गप्रत्यंगों का ज्ञान, प्रमाण, एवं सारों को कहते हैं। अङ्ग—अन्तराधि—(मध्यकाय या धड़), दोनों बाहु एवं दोनों जंघा और सिर ये ६ अङ्ग हैं। इन अङ्गों के अवयवों को प्रत्यङ्ग कहते हैं। इन प्रत्यङ्गों में—पांव का अंगूठा एवं पांव की प्रदेशिनी अंगुलि—दो अंगुल लम्बी (अपनी अंगुलियों से), प्रदेशिनी से मध्यमांगुलि १।५ भाग, मध्यमांगुलि से अनामिका १।५ भाग, अनामिका से कनिष्ठिका १।५ भाग छोटी; पांव का तलुवा चार अंगुल लम्बा और पाँच अंगुल चौड़ा, पार्ष्णि (एड़ी) पाँच अंगुल लम्बी चार अंगुल चौड़ी; पाँव चौदह अंगुल लम्बा, पाँवगुल्फ, जंघा एवं जानु का मध्य स्थान चौदह अंगुल गोल, जंघा अठारह अंगुल लम्बी घुटने के ऊपर बत्तीस अंगुल—इस प्रकार से कुल पचास अंगुल, जंघा के समान दीर्घ ऊरू, अण्डकोष, ठोडी, दांत, नासापुट (नथने), कर्णमूल और कानों तथा भौं एवं नेत्र का अन्तर दो अंगुल, अनुत्तेजित शिश्न, खुला मुख नाक, कान-ललाट ग्रीवा, आँखों का मध्य भाग चार अंगुल, योनिच्छिद्र की गहराई बारह अंगुल (हस्तिनी जाति की स्त्री में); मेहननाभि का अन्तर, हृदय एवं ग्रीवा का अन्तर, दोनों स्तनों का अन्तर, चेहरे की लम्बाई, मणिबन्ध (कलाई) की गोलाई, प्रकोष्ठ भाग बारह अंगुल, इन्द्रवस्ति (जंघा का मध्य भाग) की गोलाई, अंसपीठ एवं कोहनी का मध्य भाग सोलह अंगुल, लम्बाई तथा गोलाई हाथ चौबीस अंगुल, भुजायें बत्तीस अंगुल, ऊरु बत्तीस अंगुल गोलाई में, मणिबन्ध और कोहनी के बीच का अन्तर सोलह अंगुल, हाथ का तलुवा छै अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा, अंगुष्ठ एवं प्रदेशिनी का अन्तर, कान और नेत्र कोणों का अन्तर और मध्यमांगुलि पाँच अंगुल, प्रदेशिनी और अनामिका ४॥ अंगुल, कनिष्ठा और अंगुष्ठ—साढ़े तीन अंगुल, मुख की लम्बाई चार अंगुल और ग्रीवा की गोलाई बीस अंगुल, नासापुट की मर्यादा १।३ अंगुल, आँख की कृष्ण मण्डल या तारक—आँख का १।३ भाग, दृष्टि—तारक का १।९ भाग, बालों की जड़, शङ्ख प्रदेश के एवं मस्तक (चोटी) के स्थान के बीच का भाग ग्यारह अंगुल, मस्तक से ग्रीवा के बालों की जड़ का मध्यभाग दस अंगुल, कान एवं ग्रीवा के पिछले भाग का अन्तर चौदह अंगुल, पुरुष के उर के बराबर (बारह अंगुल) स्त्री का श्रोणिफलक, स्त्री का उरःस्थल अठारह अंगुल चौड़ा, पुरुष की कटि अठारह अंगुल, पुरुष की सम्पूर्ण लम्बाई एक सौ बीस अंगुल है।

वि० मन्तव्य—मेहन—पुरुष के स्वाभाविक लिंग का बाह्यभाग। नाभि और हृदय का अन्तर १२ अंगुल। चतुर्विंशति—अंगुलो हस्तः—कूर्पर से मध्यमांगुलि के अन्त तक २४ अंगुल लम्बा हस्त—हाथ। नयन......दृष्टिः—नेत्र गोलक (नयनबुद्बुद) का तिहाई भाग तारक (कृष्णमण्डल) हो, और तारक का नौवाँ भाग दृष्टि हो। उत्तर तन्त्र अ० १ के श्लोक १३ के अनुसार मण्डल का सातवाँ भाग दृष्टि होती है। तात्पर्य है दीर्घायु की दृष्टि नौवाँ भाग और अन्यों की सातवाँ भाग होती है। या सर्वसाधारण की सातवाँ भाग होती है। आयत (लम्बा) आयाम (लम्बाई), परिणाह तथा परिक्षेप (मोटाई), गोलाई या घेरा, विस्तार (चौड़ाई)। अन्तर (दूरी) ॥१२॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१३॥

यह उपर्युक्त प्रमाण युवावस्था में ही होता है, थोड़ी आयु में नहीं। क्योंकि—पच्चीस वर्ष में पुरुष और सोलह वर्ष की आयु में स्त्री, रसादि धातुओं से परिपूर्ण होते हैं। यह बात कुशल वैद्य को भली प्रकार जान लेनी चाहिये[1] ॥१३॥

देहः स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्तितः।
युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना ॥१४॥
दीर्घमायुरवाप्नोति वित्तं च महदृच्छति।
मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथाऽवरम् ॥१५॥

शरीर का यह उपर्युक्त मान—मनुष्य की अपनी ही अंगुलियों से समझना चाहिये। यदि इस परिमाण से पुरुष या स्त्री युक्त हो तो वह दीर्घायु एवं बहुत धन को प्राप्त करता है। मध्यम लक्षणोंवाला पुरुष मध्यमआयु, मध्यमवित्त प्राप्त करता है, हीन लक्षणोंवाला, हीन आयु और हीन वित्त प्राप्त करता है ॥१४,१५॥

अथ सारान् वक्ष्यामः—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्; स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण; अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा;

---

१ कहा भी है—
"वर्षेऽथ पंचविंशे नरः समन्वितबलः षोडशे नारी।
अर्हति मानोन्मानं जीवितभागे चतुर्थ वा॥"

महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः; स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुं मेदसा; अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धि मांसोपचितं च मांसेन; स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन; सुप्रसन्नमृदुत्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुः सौभाग्ययोरिति ॥ १६ ॥

इसके आगे सारों को कहते हैं—सत्त्वसार—स्मृति (स्मरण), भक्ति (श्रद्धा), प्रज्ञा (बुद्धि), शौच (पवित्रता), शौर्य (सब कार्यों में अनालस्य) से युक्त, कल्याण विषय में तत्पर (यत्नपर) को सत्त्वसार समझना चाहिये। स्निग्ध—परस्पर मिले एवं श्वेत अस्थि, दांत एवं नखों से युक्त, बहुत काम युक्त, बहुत प्रजायुक्त मनुष्य शुक्रसार युक्त होता है। स्थूल, उत्तमबलयुक्त, स्निग्ध एवं गम्भीर स्वरयुक्त- सौभाग्ययुक्त, विशाल नेत्रवाला पुरुष मज्जासारवाला होता है, महान् सिर, महान् स्कन्ध; मजबूत दांतों, हन्वस्थि, नखवाला, अस्थिसार, स्निग्ध मूत्र, स्वेद एवं स्वरवाला, बड़े शरीरवाला, परिश्रम को न सहन करनेवाला मेद से युक्त होता है। कहीं शरीर दबा (छिद्रयुक्त) न हो, अस्थि एवं सन्धियाँ गूढ़ हों, मांस से भरा शरीर मांससारवाला है। आँख, नख, तालु, जिह्वा, ओंठ, हाथ, पांव के तालुओं का लाल एवं चिकना होना रक्तसार का लक्षण है। त्वचा एवं रोमों का स्वच्छ एवं कोमल होना त्वचा का सार है। इनमें पूर्व-पूर्व सार (त्वचा से रक्तसार, रक्त से मांससार इस प्रकार से) आयु एवं कल्याण के लिये मुख्य है।

वि० मन्तव्य—सारों की व्याख्या चरक वि० अ० ८ में बहुत विशद एवं स्पष्ट है। पाठक अवश्य देखें। वहाँ यह भी लिखा है कि—सब (आठों) सारों से युक्त मानव—अत्यन्त बलवान्, महान्, क्लेश सहनेवाला, सभी कार्यों को करने में अपने को समर्थ समझनेवाला, भले कार्यों में तत्पर, स्थिर एवं ग्रथित शरीरवाला, सुन्दर एवं सावधान गतिवाला, अनुनाद युक्त, स्निग्ध, गम्भीर एवं महान् स्वरवाला, सुख, ऐश्वर्य, सुखभोग तथा सम्मान का भागी (भोक्ता) होता है और उसका बुढ़ापा मन्द (थोड़ा) तथा रोग भी मन्द होता है अपने समान गुणवाली सन्तान (पुत्र पौत्र आदि) वाला होता है तथा चिरजीवी होता है। उक्त सत्त्व (मनस्) आदि सार देखकर आयु का बहुत कुछ पता लग जाता है। सार का अर्थ है स्थिर अंश, जैसे काष्ठ में मध्य काष्ठ सार होता है उक्त सत्त्व आदि जितने अधिक उत्कृष्ट होते हैं उनके अनुसार वे सार कहे जाते हैं, यथा प्रबल सत्त्ववाला "सत्त्वसार" प्रबल शुक्रवाला "शुक्रसार" आदि-आदि ॥ १६ ॥

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु ॥ १७ ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों के प्रमाण द्वारा तथा सार द्वारा आयु की परीक्षा करके जो वैद्य चिकित्सा कर्म करता है, वह कार्य में सफल होता है।

वि० मन्तव्य—चरक ने एड़ी (पार्ष्णि) के पश्चात्-भाग से शिर के शिखा स्थान पर्यन्त उचित परिमाणवाले मानव की लम्बाई ८४ अंगुल मानी है और वह उचित भी है, क्योंकि ३॥ हाथ-८४ अंगुल का पुरुष माना जाता है। १ हाथ २४ अंगुल का और ३॥ हाथ—८४ अंगुल का होता है और सुश्रुत ने—पाँव की मध्यमा—अंगुली से ऊपर को बाहु उठाये पुरुष की लम्बाई १२० अंगुलमानी है, जिसको "पुरुसा" कहते हैं, वह भी उचित ही है, क्योंकि १४ अंगुल का पाँव (पाद) होता है और ऊपर हाथ उठाने से ३० ३० अंगुल लम्बाई बढ़ जाती है। परन्तु—सुश्रुत ने-पार्ष्णि में १, मेहन नाभि के अन्तर में २ और शिर के मान में ५ अङ्गुल अधिक माने हैं। यदि ४४ में से ८ निकाल दें तो ३६ रह जाते हैं और यदि १२० में से ३६ निकाल दें तो ८४ रह जाते हैं और चरक में एकवाक्य और पाया जाता है वह है-"तत् आयामविस्तारसमं समुच्यते" अर्थात् वह शरीर आयाम (लम्बाई-दैर्ध्य) में तथा विस्तार (चौड़ाई बाहु पसारे) में सम-समान सम्-समीचीन उच्यते कहा जाता है। इस प्रकार ९६ अङ्गुल=४ हाथ (६ फूट) लम्बा शरीर भी समीचीन-उत्तम होता है। हमाराविचार है कि चरक ने ८४ तथा ९६ अङ्गुल की अथवा इसके बीच की लम्बाई उत्तम मानी है। इस लम्बाई के युवक सेना एवं पुलिस में भर्ती भी किये जाते हैं और सुडौल भी होते हैं, बशर्त्ते उनके अवयवों का विस्तार भी उक्त प्रकार से सम्पन्न हो। पुरुसा शब्द का प्रयोग—पुरुसा भर गहरा पानी है तथा यह वृक्ष पुरुसा भर लम्बा है आदि—वाक्यों में किया जाता है। श्रीवाग्भट्ट ने शा० स्था० अ० ३ श्लो० ११२ में-'स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्द्धं वपुः पात्रं सुखायुषः।' लिखा अर्थात् ३॥ हाथ लम्बा शरीर सुख आयु का पात्र होता है। इस प्रकार चरकमें ८४ एवं ९६, सुश्रुत में १२० तथा वाग्भट में ८४ अङ्गुल की लम्बाई उत्तम मानी है ॥ १७ ॥

व्याधिविशेषास्तु प्रागभिहिताः, सर्व एवैते त्रिविधाः-साध्याः, याप्याः, प्रत्याख्येयाश्च। तत्रैतान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत किमयमौपसर्गिकः; प्राक्केवलः, अन्यलक्षण इति। तत्र, औपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधि जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति, तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः; प्राक्केवलो नाम यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च; अन्यलक्षणो नाम यो भविष्यद्व्याधिख्यापकः, स पूर्वरूपसंज्ञः।

तत्र सोपद्रवमन्योन्याविरोधेनोपक्रमेत, बलवन्तमुपद्रवं वा; प्राक्केवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत; अन्यलक्षणे त्वादिव्याधौ प्रयतेत ॥ १८ ॥

व्याधिसमुद्देशीय अध्याय में रोगों के विषय में प्रथम कह चुके हैं कि सब रोग तीन प्रकार के हैं, यथा-साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय (असाध्य), इन तीनों की फिर तीन प्रकार से परीक्षा करनी चाहिये। क्या यह रोग उपसर्ग-(उपद्रव) जन्य है, अथवा प्राक्केवल है, या अन्य लक्षण (किसी भावि रोगों का लक्षण रूप है) इनमें औपसर्गिक रोग-पूर्व उत्पन्न रोग के साथ में पीछे से दूसरा रोग उत्पन्न होकर प्रथमरोग के साथ मिल जाता है। उस दूसरे रोग को 'औपसर्गिक रोग' या उपद्रव कहते हैं। और जो रोग पूर्व ही उत्पन्न हो जाता है, एवं पूर्वरूप (भावि रोग के लक्षणों से) रहित तथा उपद्रवों से रहित होता है, उसे 'प्राक् केवल' व्याधि कहते हैं। और जो लक्षण भावि में उत्पन्न होनेवाले रोग के लक्षणों को बतलाता है, उनको 'पूर्वरूप' कहते हैं, (ज्वर आदि रोग अपने पूर्वरूप लक्षणों से युक्त होते हैं)।

इनमें उपद्रवों से युक्त मूलव्याधि को दोनों के अविरोधी चिकित्सा द्वारा शान्त करना चाहिये। अथवा—बलवान् उपद्रव की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिए। प्राक्केवल रोग की आत्मीय चिकित्सा करनी चाहिए। पूर्वरूप व्याधि में, प्रथम से ही (ज्वर के पूर्वरूप स्पष्ट होने पर घृत का पान), पूर्वरूप अवस्था में ही चिकित्सा करनी चाहिये।

वि० मन्तव्य—प्राक्केवल व्याधि को 'मुख्यव्याधि' प्रधान व्याधि, अनुबन्ध्य कहते हैं। यह रोग वह अवस्था है जब पूर्वरूप नामक लक्षण समाप्त हो जाते हैं और कोई उपद्रव नामक लक्षण उत्पन्न नहीं हुए होते हैं, केवल मुख्य रोग ही विद्यमान होता है। इसे स्वतन्त्र व्याधि, मूलव्याधि तथा लक्ष्य व्याधि भी कहते हैं। पूर्वरूप-मुख्य व्याधि के पूर्व उत्पन्न होते हैं, उनमें से कुछ व्याधि के व्यक्त हो जानेपर शान्त हो जाते हैं और कुछ रह जाते हैं अथवा तीव्र हो जाते हैं और उपद्रव मुख्य व्याधि की विद्यमानता में अथवा उसके शान्त हो जाने पर उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १८ ॥

भवति चात्र—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ १९ ॥

कहा भी है-

चूँकि दोषों के बिना (वातादि के बिना) कोई रोग उत्पन्न नहीं होता, इसलिये बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि न कहे हुए रोग की भी दोषों के लक्षणों से चिकित्सा करे।

वि० मन्तव्य-यदि रोग का शास्त्रानुसार नामकरण न कर सको तो केवल दोषों के लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करते रहो। क्योंकि-चरक के शब्दों में-विकारनामाऽकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥ च० सू० अ० १८ श्लो० ५१। वही वात आदि दोष-कारण भेद से तथा स्थानविशेष में जाने से भिन्न २ रोगों को उत्पन्न करते हैं, अतः रोग के कारण एवं स्थान आदि का विचार करके उचित चिकित्सा करे ॥ १९ ॥

प्रागभिहिता ऋतवः ॥ २० ॥

ऋतु-परीक्षा प्रथम कह चुके हैं ॥ २० ॥

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत् ॥२१॥

शीत ऋतु में—शीत के विपरीत उष्णावस्था को उत्पन्न करके, उष्णकाल में—उष्णावस्था के विपरीत शीतावस्था उत्पन्न करके (एवं वृष्टिकाल में वृष्टि के विपरीत अवस्था उत्पन्न करके) अग्निकर्म आदि क्रियायें करनी चाहिये। क्रियाकाल का उल्लङ्घन कभी भी नहीं करना चाहिए ॥ २१ ॥

अप्राप्ते वा क्रियाकाले प्राप्ते वा न कृता क्रिया।
क्रिया हीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्वपि न सिध्यति २२

क्रियाकाल के उपस्थित न होने पर (आमज्वर में औषध देना) क्रिया करने से, या क्रियाकाल के उपस्थित होने पर क्रिया न करने से साध्य रोग भी नष्ट नहीं होता। बहुदोष में हीन क्रिया व्यर्थ होती है, अल्पदोष में—अतिरिक्तक्रिया (तीव्र क्रिया) रोगी का नाश करती है, इसी प्रकार से मिथ्या क्रिया व्यर्थ है ॥ २२ ॥

या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥२३॥

जो क्रिया उत्कट रोग का शमन करती है, परन्तु अन्यरोग को उत्पन्न नहीं करती, उसका नाम क्रिया है। जो रोग का नाश करे, परन्तु दूसरे रोग को उत्पन्न कर देती है—(स्थौल्यापकर्षण में अपतर्पण से यक्ष्म—वातादि रोग) उसका नाम क्रिया नहीं है ॥ २३ ॥

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति दोषानभिपन्न एकः, विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति-विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति। तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा विषमः, यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते; स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतर पचति; पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापाञ्जनयति, यस्त्वल्पमप्युप-

युक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति, स मन्दः ॥२४॥

व्रणप्रश्नीय अध्याय में प्रथम कहा है कि—अग्नि अन्न का पाचक है। यहाँ एक अग्नि दोषों से अयुक्त रहने पर एक प्रकार की है। दोषों से युक्त होने पर विकृतावस्था में तीन प्रकार की है। यथा—वायु के कारण विषम, पित्त के कारण तीक्ष्ण, कफ के कारण मन्द, तीनों धातुओं के समान होने से सम होती है[1]। इसमें जो अग्नि ठीक समय पर खाये अन्न को भली प्रकार से पचाती है, वह सम अग्नि है, यह तीनों दोषों के समान होने से होती है। जो अग्नि कभी तो भली प्रकार पचाती है और कभी-आध्मान, शूल, उदावर्त्त, अतिसार, पेट में भारीपन, अन्त्रों में गड़गड़ाहट, प्रवाहण (कुन्थन) उत्पन्न करके पचाती है, वह विषम है। जो अग्नि बहुत अधिक मात्रा में खाये अन्न को भी शीघ्र पचा देती है, वह तीक्ष्ण है। यही तीक्ष्णाग्नि बढ़कर अत्यग्नि कहाती है। यह अत्यग्नि बार-बार अधिक मात्रा में खाये अन्न को बहुत जल्दी पचा देती है, पचाने के पश्चात् गले, तालु, ओठ में शोष, जलन और संताप उत्पन्न करती है। जो अग्नि थोड़ी सी मात्रा में खाये अन्न को भी-उदर, सिर में भारीपन, कास, श्वास, लालास्राव,वमन, अङ्गों की शिथिलता करके बहुत समय पीछे पकाती है, वह मन्द अग्नि है।

वि० मन्तव्य—अत्यग्नि का दूसरा नाम 'भस्मक' है। दोषाऽनभिपन्न अग्नि का ही नाम 'सम' या 'समाग्नि' है॥

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२५॥

विषमाग्नि वातजन्य रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तजन्य रोगों को, मन्दाग्नि कफजन्य रोगों को उत्पन्न करती है ॥२५॥

तत्र, समे परिरक्षणं कुर्वीत; विषमे स्निग्धाम्ललवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीत, तीक्ष्णे मधुरस्निग्धशीतैर्विरेकैश्च, एवमेवात्यग्नौ, विशेषेण माहिषैश्च क्षीरदधिसर्पिर्भिः, मन्दे कटुतिक्तकषायैर्वमनैश्च ॥२६॥

इनमें समाग्नि की रक्षा करनी चाहिये। तीक्ष्णाग्नि की—स्निग्ध, अम्ल एवं लवण क्रियाओं से- तीक्ष्णाग्नि एवं अत्यग्नि की—मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य एवं विरेचनों द्वारा, खासकर अत्यग्नि में-भैंस का दही, घी एवं दूध देना चाहिये। मन्दाग्नि की कटु, तिक्त-कषाय एवं वमनों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥२६॥

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः।
सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥२७॥

जाठराग्नि-भगवान् (महात्म्यवान्) ईश्वर (आठ प्रकार के ऐश्वर्य्य युक्त, अणिमादि ऐश्वर्यशाली), अन्न का पाचक है। मधुर आदि रसों को परिपाक के लिये ग्रहण करती हुई भी यह अग्नि सूक्ष्म होने के कारण जानी नहीं जा सकती।

वि० मन्तव्य—ईश्वर—आत्मा के समान जीवन का हेतु है, क्योंकि अग्नि के ही कारण-आयु है और अग्नि शान्त होने पर मर जाता है और समाग्नि रहने पर नीरोग रहकर चिरकाल तक जीता है। ईट्सु वरः (ईश्वरः) जीवन का सामर्थ्य देनेवाले अन्य कफ वात आदि में श्रेष्ठ है। अथवा ईश्वर-सामर्थ्यशाली (सम) अग्नि ही भगवान् हैं ॥२७॥

प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः।
ध्मायते पाल्यते चापि स्वां स्वां गतिमवस्थितैः ॥२८॥

प्राण अपान एवं समान ये तीन प्रकार की वायुएँ, अपने अपने स्थानों में रहती हुई अपनी अपनी क्रियाशक्ति से इस अग्नि को प्रज्वलित करती हैं और पालती हैं। फूँक से जिस प्रकार अग्नि तीव्र होती है उसी प्रकार इन वायुओं द्वारा अग्नि भी देदीप्यमान होती है ॥२८॥

वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षीया बालाः। ते त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादा इति। तेषु संवत्सरपराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो—वृद्धिः, यौवनं, संपूर्णता, परिहाणिरिति। तत्र, आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनम्, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति। सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्वसमर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥२९॥

वय तीन प्रकार की है। यथा—बाल्य, मध्य और वृद्धावस्था। इनमें सोलह वर्ष की आयु से कम आयु के बालक होते हैं। ये बालक भी तीन प्रकार के हैं, १–क्षीर पीनेवाले, २–दूध और अन्न खानेवाले, ३–अन्न खानेवाले। इनमें एक साल की आयु तक दूध-पीनेवाले, दो साल के दूध एवं अन्नखानेवाले, इससे बड़ी उमर के बच्चे अन्न खानेवाले हैं। सोलह और सत्तर वर्ष के बीच की आयु मध्यम आयु है। इस मध्यम आयु के भेद वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता और हानि हैं। इनमें

---

१ वात आदि प्रकृतिवाले पुरुषों में वात आदि दोषों से युक्त होती है। इसलिये विषम, तीक्ष्ण, मंद ये तीन भेद हैं। अग्नि यद्यपि ईश्वर है, तो भी पूर्व-जन्मकृत कर्मों के कारण इस अग्नि में विषम, तीक्ष्ण, मन्द-दोष होते हैं। अथवा पित्त के दोष से अग्नि में भी दोष आ जाता है।

बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस साल तक यौवन, चालीस तक सब धातु इन्द्रियाँ बल-वीर्य में सम्पूर्णता रखती हैं, इसके आगे सत्तर वर्ष तक धीरे-धीरे कमी क्षीणता आरम्भ हो जाती है। सत्तर वर्ष के आगे—धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य, उत्साह में दिन प्रतिदिन क्षीणता प्रारम्भ हो जाती है, शरीर में बलियाँ पड़ जाती हैं, सिर के बाल श्वेत हो जाते हैं, बाल गिरने लगते हैं, कास श्वास आदि रोगों से पीड़ित होकर सम्पूर्ण क्रियाओं में असमर्थता आ जाती है, इस अवस्था को वृद्धावस्था कहते हैं। जिस प्रकार पुराना घर बरसात आदि से गिर रहा होता है, वही अवस्था इस समय शरीर की होती है ॥२९॥

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोवस्थासूत्तरोत्तरा भेषजमात्राविशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणेः, तत्राद्यापेक्षया प्रतिकुर्वीत ॥३०॥

सत्तर वर्ष के ऊपर की आयु को छोड़कर, जिस प्रकार उत्तरोत्तर आयु बढ़ती जाती है, उसी प्रकार औषध की मात्रा भी उत्कृष्ट (बढ़ती) हो जाती है। इस वृद्धावस्था में बाल्यावस्था के समान औषधमात्रा देनी चाहिये[1]॥३०॥

भवन्ति चात्र—

वाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वाद्य योजयेत् ॥३१॥

कहा भी है—

बाल्यावस्था में कफ बहुत बढ़ता है, मध्यमावस्था में पित्त, वृद्धावस्था में वायु विशेष रूप से बढ़ती है, इसलिये इनका विचार करके औषध देनी चाहिये ॥३१॥

अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रियां शनैः ॥३२॥

बालक एवं वृद्ध पुरुषों में अग्नि, क्षार एवं विरेचन कर्म नहीं करने चाहिये। यदि इन कार्यों से साध्य रोगों में क्रिया करनी पड़े तो कोमल रूप में करनी चाहिये। यथा—दारण कार्य में—कपोत गीध की विष्ठा, क्षार कर्म में आवाप-प्रतिवाप हीन मृदु क्षार, विरेचन में अमलतास आदि मृदु द्रव्य, अग्निकर्म अजाशकृत् से करना चाहिये ॥३२॥

देहः स्थूलः कृशो, मध्य इति प्रागुपदिष्टः ॥३३॥

देहपरीक्षा—शरीर स्थूल, कृश, मध्य, तीन प्रकार का है, यह पहिले कह चुके हैं ॥३३॥

कर्शयेद् बृंहयेचापि सदा स्थूलकृशौ नरौ।
रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥३४॥

स्थूल शरीर का कर्षण और कृश पुरुष का बृंहण सदा करना चाहिये। मध्यम शरीर की रक्षा निरन्तर वैद्य को करनी चाहिये ॥३४॥

बलमभिहितगुणं, दौर्बल्यं तु स्वभावदोषजरादिभिरवेक्षितव्यम्। यस्माद्बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्तिस्तस्माद्बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ॥३५॥

बल के गुण कह चुके हैं। दुर्बलता की स्वभाव (माता-पिता के शुक्र शोणित से), दोष (वातादि), वृद्धावस्था आदि से परीक्षा करनी चाहिय चूँकि बल के कारण से ही सब क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है, इसलिये क्रियाओं को धारण करनेवालों में बल ही सब से प्रधान है ॥३५॥

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबला नराः।
तस्मात् स्थिरत्वं व्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥३६॥

कई शरीर से कृश व्यक्ति प्राणवान् होते हैं और कई स्थूल व्यक्ति अल्पबलवाले होते हैं। इसलिये वैद्य को चाहिए कि स्थिरत्वरूपी बल व्यायाम आदि कार्यों से जाने ॥३६॥

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम् ॥३७॥
सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥३८॥

सत्त्व (मनोबल)—दुःख एवं सुख में कार्य भार आदि तथा छेदन भेदन आदि के स्थानों-अवसरों में ग्लानि या हर्ष का उत्पन्न न होना सत्त्व बल है। यह बल तीन प्रकार का है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इनमें—जो मनुष्य अपने मन को स्वयं दृढ़ बनाकर सब कुछ सहन करना है, वह सात्त्विक बलवाला है। और जो दूसरे मनुष्यों से दृढ़ किया जाता है, वह राजस बलवाला है। और जो किसी प्रकार दृढ़ नहीं होता, धैर्य धारण नहीं करता, वह तामसिक बलवाला है। यथा चरक में—सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तंत्रकमात्मसंयोगात्। तत् त्रिविधं बलभेदेन-प्रवरं, मध्यमम्, अवरं चेति[1]॥

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति ॥३९॥

जो देश, काल, जन्य, ऋतु, रोग, व्यायाम, जल, दिवास्वप्न तथा मधुर आदि—प्रकृति के विरुद्ध होने पर भी कोई कष्ट नहीं देते वे "सात्म्य" कहे जाते हैं[2]। यही

---

१ मात्रा विवेचन—

'प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भेषजरक्तिका।
अवलेह्या तु कर्त्तव्या मधुचीरसिताघृतैः ॥
एकैकां वर्धयेत्तावद यावत्सवत्सरो भवेत्।
तदूर्ध्वं माषवृद्धिः स्यात् यावतषोडशकाब्दिकाः ॥
षोडशाब्दात्ततस्तूर्ध्वं यावदासप्ततेरिति।
एवमेव विभागोऽयं तदूर्ध्वं बालवत्क्रिया ॥"

१ विस्तार के लिये चरक विमान अ०—८।११-१९ में देखिये।
२ सात्म्य के लिये चरक विमान स्थान आँठवां अध्याय देखिये।

चरक ने भी कहा है कि—"सात्म्यं नाम तत् यत् सातत्येन उपसेव्यमानं उपशेते" अर्थात् जो आहार विहार निरन्तर या बहुत काल तक सेवन करने से "उपशय" हो जाते हैं वह "सात्म्य" कहे जाते हैं। सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः—अर्थात् सात्म्य का अर्थ—तात्पर्य ही उपशय का अर्थ है। उदाहरणार्थ—अनूपदेश अनारोग्यकर होता है, परन्तु वहाँ अधिक समय तक निवास करने से कोई कष्ट नहीं होता, दूध एवं खिचड़ी एक साथ खाने से आमविष उत्पन्न हो जाता है। परन्तु—सी० पी० के निवासी खाते हैं तो कोई हानि नहीं होती, दिवास्वप्न निषिद्ध है—हानि कर भी है, परन्तु जो सदा दिन में सोते हैं उनको कोई हानि नहीं होती आदि २। रोग भी सात्म्य हो जाते हैं, यथा पुराने व्रण एवं श्वास कास आदि और रुजाकर भाव का नाम रोग है या शल्य है, परन्तु ऐसे शल्य नहीं निकाले जाते जो कष्ट नहीं देते, यथा—सोना आदि के सूक्ष्म शल्य देखिये—इसी स्थान का अ० २६ श्लो० २०,२१॥३९॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत् ॥४०॥

जो रस (आहार) अथवा व्यायाम (विहार) तथा अन्य (औषध) निन्तर सेवन करने पर सुखदायक ही हो जाता है वह सब "सात्म्य" कहलाता है ॥४०॥

प्रकृतिं भेषजं चोपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥४१॥

प्रकृति शरीरस्थान और भेषज का वर्णन आगे करेंगे ॥

देशस्त्वानूपो जाङ्गलः साधारण इति। तत्र, बहूदकनिम्नोन्नतनदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो बहुमहापर्वतवृक्षो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुष्यप्रायः कफवातरोगभूयिष्ठश्चानूपः; आकाशसमः प्रविरलाल्पकण्टकिवृक्षप्रायोऽल्पवर्षप्रस्रवणोदपानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रविरलाल्पशैलः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपित्तरोगभूयिष्ठश्च जाङ्गलः; उभयदेशलक्षणः साधारण इति ॥४२॥

देश तीन प्रकार का है। यथा—आनूप, जांगल और साधारण, इनमें जिस देश में बहुत पानी हो, बहुत नीची-ऊँची जगह हों, बहुत नदियाँ हों, बहुत वर्षा पड़ती हो, वन हो, मृदु एवं शीतल वायु बहती हो, बहुत एवं बड़े-बड़े पर्वत एवं वृक्ष हों, जिस देश के मनुष्य कोमल सुकुमार अङ्गोंवाले हों, जहाँ पर कफ एवं वायु के रोग प्रायः करके होते हों, वह देश आनूप है। जो देश आकाश से समान नीची-ऊँची जगह से रहित, थोड़े एवं कांटेवाले बिखरे-वृक्षों से युक्त, जहाँ पर बरसात नदी झरने आदि पानी के साधन कम हों, जहाँ पर गरम-कठोर वायु चलती हो, विरले-छोटे पहाड़ हों, जहाँ के मनुष्य स्थिर-कृश शरीरवाले हों, जहाँ पर वायु एवं पित्त के रोग प्रायः करके होते हैं, वह जांगल देश है। जिस देश में दोनों देशों के लक्षण होते हैं, वह साधारण देश है ॥४२॥

भवन्ति चात्र—

समाः साधारणे यस्माच्छीतवर्षोष्णमारुताः।
दोषाणां समता जन्तोस्तस्मात्साधारणो मतः ॥४३॥

कहा भी है—

चूँकि शीत, बरसात, गरमी और वायु, ये वस्तुएँ साधारण देश में समान ही रहती हैं, एवं मनुष्य के दोषों में भी समानता रहती है, इसलिये इसको साधारण देश कहते हैं ॥४३॥

न तथा बलवन्तः स्युर्जलजा वा स्थलाहृताः।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः ॥४४॥
उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति ॥४५॥

जिस प्रकार जलजन्य पशु (कछुवे आदि) स्थल में आकर उतने बलवान् नहीं रहते, या स्थलजन्य गाय आदि जल में जाकर उतने बलशाली नहीं रहते इसी प्रकार अपने देश में संचित दोष—अपने प्रतिकूल गुणवाले देश में जाकर कुपित होने से उतने बलशाली नहीं रहते। यथा आनूप देश में संचित कफ जांगल देश में जाने पर यदि कुपित होता है तो देशजन्य कोई भय नहीं। परन्तु यदि आनूप देश में संचित कफ जांगल देश में दिवा-स्वप्न आदि करने से कुपित होता है तो भय है। ठीक प्रकार से रहने पर भी जब देशजन्य कोप होता है तो भय नहीं। यद्यपि आहार, स्वप्न, चेष्टा आदि—उस देश के गुण—उचित रूप में हों तो भय नहीं होता ॥४४,४५॥

देशप्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः।
संपत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥४६॥
केवलः समदेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः।
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात्कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः ॥

सुखसाध्य रोग—देशविपरीत (जांगल देश में कफरोग), प्रकृतिविपरीत (पित्तप्रकृत्ति मनुष्य को कफरोग), सात्म्यविपरीत (कटुसात्म्य को कफरोगोत्पत्ति), ऋतुविपरीत (शरद् ऋतु में वातजन्य) रोग होना, नवीन रोग की अवस्था में भिषग्, रोगी, भेषज, परिचारक गुणवान् होने पर, बल-सत्त्व, एवं वायु आदि की भी सम्पत्ति में, केवल एक दोष से उत्पन्न, समान-कायाग्नि पुरुष में रोग सुखसाध्य होता है। इनसे विपरीत अवस्थाओं में रोग असाध्य है। जिस रोग में साध्य एवं असाध्य के लक्षण मिले रहते हैं, वह कष्टसाध्य है[1] ॥४६,४७॥

---

१ अपवाद—

"ज्वरे तु ह्यतुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥"

क्रियायास्तु गुणालाभे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥४८॥

एक क्रिया के प्रयुक्त करने से यदि पाँच छै दिन तक कुछ लाभ नहीं दीखता, तो दूसरी क्रिया प्रयुक्त करनी चाहिये। प्रथम क्रिया के शान्त होने पर दूसरी क्रिया करनी चाहिये। क्रिया-संकर (दोनों क्रियाओं का एक साथ होना) करना उत्तम नहीं। एक ही काल में दो विरोधी क्रियाओं को करना क्रिया-संकर है ॥४८॥

गुणालाभेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता ।
कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि ॥४९॥

यदि रोग कष्टसाध्य हो तो क्रिया के लाभ (गुण) न होने पर भी, यदि वही क्रिया हितकारी हो तो जल्दी में उसे बदल नहीं देना चाहिये, अपितु उसी को कुछ अधिक समय तक चालू रखना चाहिये ॥४९॥

य एवमेनं विधिमेकरूपं बिभर्ति कालादिवशेन धीमान् ।
स मृत्युपाशाञ्जगतो गदौघाञ्छिनत्ति भैषज्यपरश्वधेन ॥

जो वैद्य इस प्रकार इस पूर्वोक्त विधान को बिना किसी भेद के ग्रहण कर लेता है, बुद्धिमान् कालादि के सामर्थ्य द्वारा रोगसमूहों को भैषज्य रूपी कुल्हाड़े से काटता है ॥५०॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने आतुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो भूमिप्रविभागीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१,२॥

इसके आगे 'भूमि-प्रविभागीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥२॥

श्वभ्रशर्कराश्मविषमवल्मीकश्मशानाघातनदेवतायतन-सिकताभिरनुपहतामनूषरामभङ्गुरामदूरोदकां स्निग्धां प्ररोहवतीं मृद्वीं स्थिरां समां कृष्णां गौरीं लोहितां वा भूमिमौषधग्रहणाय परीक्षेत । तस्यां जातमपि कृमिविष-शस्त्रातपपवनदहनतोयसंबाधमार्गैरनुपहतमेकरसं पुष्टं पृथ्ववगाढमूलमुदीच्यां चौषधमाददीतेत्येष भूमिपरीक्षा-विशेषः सामान्यः ॥३॥

यह भूमि का विभाग दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। सामान्य भूमि को कहते हैं—श्वभ्र (बिल), शर्करा (पत्थर के टुकड़े), अश्म (पत्थर), विषम, वल्मीक, श्मशान, आघातन (वधस्थान), देवायतन (मन्दिर), सिकता (बालुका) से रहित, अनूषरा (ऊषर रहित), अभंगुर (दराड़ें रहित), अदूरोदका (जहाँ पर पानी दूर न हो साधारण), स्निग्ध, प्ररोहवती (जहाँ पर बीजअंकुर जन्मते हैं), कोमल, स्थिर (वायु, पानी से जहाँ की मिट्टी न खिसकती हो), समान (ऊँची नीची नहीं), काली, सफेद, रक्तवर्ण भूमि की औषध के लिये परीक्षा करनी चाहिये। इस भूमि में उत्पन्न औषधि को भी—कृमि, विष, शस्त्र, धूप, वायु, अग्नि, पानी से अपीड़ित, एकरस (उत्कृष्ट रसयुक्त), पुष्ट (बलवान्), पृथु, विशाल, अवगाढमूल (भूमि में प्रविष्ट मूलवाली), उत्तर दिशा में स्थित औषध का (उत्तर दिशा में मुख करके) ग्रहण करना चाहिये। यह सामान्य भूमि परीक्षा-विधि है ॥३॥

विशेषस्तु तत्र अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्निग्धा शीतला-ऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽम्बु-गुणभूयिष्ठा, नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलाल्पपाण्डु-वृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा, रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनु-वृक्षाल्परसकोटरवृक्षप्रायाऽनिलगुणभूयिष्ठा, मृद्वी समा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्ष-प्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा ॥४॥

विशेष भूमिपरीक्षा—पत्थरोंवाली, स्थिर, गुरु, श्याम, कृष्ण, स्थूल वृक्षों से तथा मोटे अन्न से भरी, भूमि पृथ्वीगुण-भूयिष्ठ होती है। स्निग्ध, शीतल एवं समीपवर्ती पानीवाली, स्निग्ध सस्य, तिनके एवं कोमल वृक्षों से युक्त एवं निर्मल भूमि पानी के गुणोंवाली होती है। नाना प्रकार के रङ्गों की, छोटे-छोटे पत्थरोंवाली विरले एवं छोटे-छोटे पीले वृक्ष एवं अंकुरों-वाली भूमि अग्निगुणबहुल होती है। रूक्ष, भस्म या गर्दभ के रङ्गवाली, पतले रूक्ष, कोटर (घोखल), तथा अल्परसवाले वृक्षों से युक्त भूमि वायुगुणबहुल होती है। कोमल, समान, गड्ढों-वाली, अव्यक्तरस, अव्यक्त जलवाली, सब स्थानों में सार रहित वृक्षोंवाली, बड़े-बड़े पर्वत-वृक्षोंवाली, श्यामवर्ण भूमि आकाश-गुणबहुल होती है ॥४॥

अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृड्वर्षाशरद्धेमन्तवस-न्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्क्षीरसारफलान्याददी-तेति, तत्तु न सम्यक्, सौम्याग्नेयत्वाज्जगतः। सौम्यान्यौ-षधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेयेषु एवम-व्यापन्नगुणानि भवन्ति। सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्नि-ग्धशीतानि जायन्ते। एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥५॥

कई आचार्यों का कथन है कि—प्रावृट् (वर्षा के आदि मास), वर्षा, शरद्, हेमन्त, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतुओं में क्रमशः मूल, पत्र, त्वचा, क्षीर, सार और फलों का ग्रहण करना चाहिये। यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि जगत् आग्नेय एवं सौम्य तत्त्वों से बना है। इसलिये सौम्य औषधियों को सौम्य ऋतु में (दक्षिणायन में) लेना चाहिये और आग्नेय औषधियों को आग्नेय ऋतु में (उत्तरायण में) ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार ग्रहण से अदूषित गुणवाली होती हैं। सौम्य औषधियाँ

सौम्य ऋतु में संग्रह करने से, सोमगुण (उदक-गुण) बहुल भूमि में उत्पन्न होने से, अतिमधुर अतिस्निग्ध और अतिशीत होती हैं। आग्नेय औषधियाँ आग्नेय ऋतु में ग्रहण करने पर अग्निगुण-बहुल भूमि में होने से अति उष्ण, अतिरूक्ष, अतिकटु होती हैं। इस प्रकार से शेष (आग्नेय औषधियों) की व्याख्या कर दी है ॥ ५ ॥

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि विरेचनद्रव्याण्याददीत, अग्न्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं बलवत्तराणि भवन्ति ॥६॥

पृथ्वी एवं जल गुण-बहुल भूमि में उत्पन्न विरेचन द्रव्यों का संग्रह करना चाहिये, अग्नि-आकाश एवं वायुगुण-बहुलभूमि में उत्पन्न वमन द्रव्यों का संग्रह करना चाहिये। दोनों प्रकार के गुणवाली भूमि में से वमन एवं विरेचन दोनों प्रकार के गुणोंवाली औषधियां लेनी चाहिये। आकाश गुण बहुल भूमि में उत्पन्न—शमन द्रव्यों का संग्रह करे। इस प्रकार वे द्रव्य अधिक बलवान् होते हैं ॥ ६ ॥

सर्वाण्येव चाभिनवानि, अन्यत्र मधुघृतगुडपिप्पलीविडङ्गेभ्यः ॥ ७ ॥

विडङ्गं पिप्पली क्षौद्रं सर्पिश्चाप्यनवं हितम्।
शेषमन्यत्त्वभिनवं गृह्णीयाद्दोषवर्जितम् ॥ ८ ॥

(सर्वाण्येव सक्षीराणि वीर्यवन्ति,) तेषामसंपत्तावतिक्रान्तसंवत्सराण्याददीतेति ॥ ९ ॥

सब द्रव्यों को नवीन (ताजे) रूप में ही चिकित्साकार्य में बरतना चाहिये। अपवाद—मधु, घी, गुड़, पिप्पली, विडङ्ग, (धनियाँ), इनको पुरातन अवस्था में बरतना चाहिये[1]। सब औषधियाँ रसयुक्त होने पर ही बलवती होती हैं। इन औषधियों को कृमि आदि से खाई न होने पर एवं एक साल के न उतरने तक ही काम में लाना चाहिये ॥ ७–९ ॥

भवन्ति चात्र—

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः।
मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥ १० ॥
सर्वावयवसाध्येषु पलाशलवणादिषु।
व्यवस्थितो न कालोऽस्ति तत्र सर्वो विधीयते ॥११॥

गाय को चरानेवाले, तापस (तपस्वी), व्याध (शिकारी), और जो जो अन्य वन में विचरनेवाले हैं और मूल (जड़ आदि) का आहार करनेवाले पुरुषों को औषधि का ज्ञान होता है[1]। पलाश लवण आदि-वस्तुओं में, जिनके कि सब अवयव कार्य में आते हैं, उनके लिए कोई समय नहीं है, उनका सब अवस्था में ग्रहण किया जा सकता है ॥ १०,११ ॥

गन्धवर्णरसोपेता षड्विधा भूमिरिष्यते।
तस्माद् भूमिस्वभावेन बीजिनः षड्रसायुताः ॥१२॥
अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निश्चयनिश्चितः।
रसः स एव चाव्यक्तो व्यक्तो भूमिरसाद् भवेत् ॥१३॥
सर्वलक्षणसंपन्ना भूमिः साधारणा स्मृता।
द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणानि विशेषतः ॥ १४ ॥
विगन्धेनापरामृष्टमविपन्नं रसादिभिः।
नवं द्रव्यं पुराणं वा ग्राह्यमेवं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥

गन्ध, वर्ण एवं रस से युक्त भूमि छै प्रकार की है। इसलिए भूमिस्वभाव के कारण वृक्ष भी छै रस से युक्त होते हैं। यह सिद्धान्त द्वारा निश्चित हो चुका है कि जल का रस अव्यक्त है। यही अव्यक्त रस जिस समय व्यक्त होता है, तब भूमि के रस के कारण है। सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त भूमि को साधारण भूमि कहते हैं। इस भूमि में जो द्रव्य उत्पन्न होते हैं उनमें भी वे गुण विशेषकर होते हैं। विकृत गन्ध से अदूषित, रस आदि में अविकृत, नये या पुराने द्रव्य का ग्रहण करना चाहिये। वायविडङ्ग, पिप्पली, मधु और घी (धनिया भी) इनको पुराना (एक साल पुराना) होने पर औषधकार्य में लाना चाहिये। इनसे अतिरिक्त शेष-नये, दोषरहित द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये ॥ १२-१५ ॥

जङ्गमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम्।
क्षारमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारेषु संहरेत् ॥ १६ ॥

जङ्गम (गति करनेवाले, पशु-पक्षियों) प्राणियों के रक्त, रोम, नख आदि युवावस्था के ग्रहण करने चाहिये। दूध, मूल, मल ये वस्तुयें—आहार के जीर्ण होने पर (पच जाने पर) ग्रहण करनी चाहिये ॥ १६ ॥

प्लोतमृद्भाण्डफलकशङ्कुविन्यस्तभेषजम्।
प्रशस्तायां दिशि शुचौ भेषजागारमिष्यते ॥ १७ ॥

प्लोत (वस्त्रखण्ड), मिट्टी के बर्त्तन, फलक (काष्ठपट्ट), शंकु (कीला) आदि में रखना, औषध-भण्डार कहाता है। पवित्र स्थान एवं प्रशस्त दिशा (पूर्वदिशा) में औषधियों को रखना चाहिए।

वि० मन्तव्य - वह भेषज-भण्डार उत्तम होता है जो नगर के उत्तर अथवा पूर्व दिशा में हो और जिसमें—भेषज द्रव्य—प्लोत (थैला, बोरा या कपड़ा की गठरी), मृद्भाण्ड (मिट्टी-

---

[1] कविराज हाराणचन्द्र जी ने चौदहवां श्लोक यहाँ पर दिया है। "डल्हणाचार्य" ने 'तेषां' शब्द से मधु, घी आदि का ग्रहण किया है, परन्तु घी, गुड़ इनको एक साल व्यतीत होने पर ही पुराना कहते हैं। इसलिये 'तेषां' शब्द से इनका ग्रहण करना ठीक नहीं।

[1] चरक में भी कहा है—
औषधिर्नामरूपाभ्यां जानन्ते ह्यजपा वने ॥

चीनी, काच के हण्डी का, मर्त्तवान्, बोतल), फलक (फट्टे-आलमारी, टाँड आदि) में धरें अथच शंकु (विलङ्ग, छत का कुण्डा आदि) पर लटकाए गये हों ॥ १७ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने भूमिप्रविभागीयो नाम षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो मिश्रकमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'मिश्रक अध्याय' की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥ १,२ ॥

मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च भद्रदारु महौषधम् ।
अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफजित् ॥ ३ ॥
दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।
शीतलाश्च गणाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत् ॥ ४ ॥
आगन्तुजे रक्तजे च ह्येष एव विधिः स्मृतः ।
विधिर्विषघ्नो विषजे पित्तघ्नोऽपि हितस्तथा ॥ ५ ॥
अजगन्धाऽश्वगन्धा च काला सरलया सह ।
एकैषिकाऽजशृङ्गी च प्रलेपः श्लेष्मशोफहृत् ॥ ६ ॥
एते वर्गास्त्रयो लोध्रं पथ्या पिण्डीतकानि च ।
विम्लापन अनन्ता चेति लेपोऽयं सान्निपातिकशोफहृत् ॥ ७ ॥

मातुलुङ्ग (बिजौरा), अग्निमन्थ (अरणी), भद्रदारु (देवदारु), महौषध (सोंठ), अहिंस्रा (बृहद् अहिंस्रा), और रास्ना—इनका प्रलेप वातजन्य शोथ को नष्ट करता है। दूर्वा, नलमूल, मधुक (मुलहठी), चन्दन (श्वेत) एवं काकोल्यादि, उत्पलादि, न्यग्रोधादि, ये शीतल गण-इनका प्रलेप पित्तजन्य शूल को नष्ट करता है। आगन्तुज एवं रक्तजन्य शोफ में पित्त के समान चिकित्सा करनी चाहिये। विषजन्य शोफ में विषनाशक एवं पित्तनाशक विधि हितकारी है। अजगन्धा (अजवायन), अश्वगन्धा (असगन्ध), काला (अहिंस्रा) सरला (लाल जड़ की निशोथ), एकैषिका (श्वेत जड़ की त्रिवृत्), और अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी)—इनका प्रलेप कफजन्य शोथ को नष्ट करता है। ये उपर्युक्त तीनों वर्ग, लोध्र पथ्या (हरड़), पिण्डीतक (मैनफल) और अनन्ता (सारिवा या दुरालभा)—सन्निपातजन्य शोथ को नष्ट करते हैं ॥३-७॥

स्निग्धाम्ललवणो वाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः ।
पित्ते, चोष्णः कफे क्षारमूत्राढ्यस्तत्प्रशान्तये ॥ ८ ॥

लेप का संस्कार—वातजन्य शोफ में-लेप स्निग्ध, अम्ल, लवण, कोष्ण; पित्त में—दूध मिश्रित शीत लेप, कफजन्य में—क्षार एवं मूत्रबहुल उष्ण प्रलेप करना चाहिये ॥ ८ ॥

शणमूलकशिग्रूणां फलानि तिलसर्षपाः ।
सक्तवः किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥ ९ ॥

विम्लापन द्रव्य कहकर पाचन द्रव्यों को कहते हैं—

सन के बीज, मूली (के बीज), सहजन का फल (पका), तिल, सरसों, सत्तू (जौ का), किण्व (सुरा का तलछट), और अलसी एवं उष्णवीर्य द्रव्य (कूठ, अगर आदि) शोथ को पकाने के लिये उत्तम हैं ॥ ९ ॥

चिरबिल्वोऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः ।
कपोतकङ्कगृध्राणां पुरीषाणि च दारणम् ।
क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम् ॥१०॥

दारण द्रव्य—

चिरबिल्व (नाटा करञ्ज), अग्निका (कलिहारिका या भल्लातक) दन्ती (जमालगोटा की जड़), चित्रक (चीता की जड़), हयमारक (करवीर-कनेर), कबूतर, गीध एवं कङ्क पक्षियों का मल, ये सब दारण काय में प्रयुक्त हो सकते हैं। क्षारद्रव्य (मुष्क, कुटज, पलाश, अश्वकर्ण, पारिभद्र आदि) या इनसे सिद्ध प्रतीसारणीय क्षार—उत्तम दारण हैं। दारण द्रव्य दो प्रकार के हैं—कपोतपुरीष आदि सुकुमार दारण हैं, क्षार कृच्छ्र दारण हैं ॥ १० ॥

द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वङ्मूलानि प्रपीडनम् ।
यवगोधूममाषाणां चूर्णानि च समासतः ॥ ११ ॥

पीड़न द्रव्य— पिच्छिल (सिम्बल, वट आदि) द्रव्यों की त्वचा-मूलप्रपीड़न द्रव्य हैं। जौ, गेहूँ और माष (उड़द) ये संक्षेप में पीड़न द्रव्य हैं। व्रण के मुख को बाहर करके, इन द्रव्यों का लेप करना चाहिये और फिर आग के द्वारा इनको शुष्क करना चाहिये। शुष्क होने से पीड़न होता है ॥ ११ ॥

शङ्खिन्यङ्कोठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।
शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥ १२ ॥

शोधन द्रव्य—शंखिनी (यवतिक्ता), अङ्कोठ (अङ्कोल), सुमन (मालती) करवीर (कनेर) सुवर्चला (हुलहुल या सूर्यमुखी)—एवं आरग्वधादिवर्ग—इनका कषाय व्रण का शोधन करता है। शोधन-आठ प्रकार का है। यथा—कषाय, वर्त्ति, कल्क, घृत, रसक्रिया, चूर्ण एवं धूपन। धूपन चार प्रकार का है—शृत, शीत, फाण्ट और स्वरस। कल्क को पृथक् कहेंगे ॥ १२ ॥

अजगन्धाऽजशृङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाह्वया ।
पूतकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः ॥ १३ ॥
कटुत्रिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला ।
कासीसं त्रिवृता दन्ती हरिताल सुराष्ट्रजा ॥ १४ ॥

---

[1] व्रण के उपक्रमों में आठ उपाय अधिक प्रसिद्ध हैं। यथा—विम्लापन, पाचन, दारण, पीड़न, शोधन, रोपण, उत्सेदन, अवसादन—इन आठों का मिश्रित रूप में वर्णन किया गया है।

वर्त्ति—अजगन्धा (अजवायन), अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी), गवाक्षी (इन्द्रायण), लांगली (कलिहारिका), पूतीक (चिरबिल्व), चित्रकं (चीतामूल), पाठा, वायविडङ्ग, एला (बड़ी इलायची), हरेणु (रेणुका), त्रिकटु, यवक्षार (जौखार), लवण (पाँचों नमक), मनःशिला (मैनसिल), कासीस (हीरा कसीस), त्रिवृता (निशोथ), दन्ती (जमालगोटा की जड़), हरिताल (हरताल), सुराष्ट्रजा (सौराष्ट्र की मिट्टी या फिटकरी), इन द्रव्यों को पीसकर बत्ती पर लगाकर व्रण पर रखना चाहिये। यह वर्त्ति नाड़ीव्रण आदि संशोधनीय स्थानों में प्रयुक्त करनी चाहिये ॥१३,१४॥

संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत्।
एतैरेवौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥१५॥
कासीसकटुरोहिण्यौ जातीकन्दहरिद्रयोः।
पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्य्यात्तैलं घृतानि च ॥१६॥

कल्क—इन उपर्युक्त अजगन्धा आदि औषधियों से शोधनीय कल्कों को तैयार करना चाहिये। कासीस, कटुरोहिणी (कुटकी), जाती-कन्द (चमेली की जड़), हरिद्रा (हल्दी-दारुहल्दी), इनके कल्क द्वारा पूर्वोक्त अजगन्धा आदि के क्वाथ से तैल या घृत सिद्ध करना चाहिये। (कषाय से कल्क चतुर्थांश होना चाहिये) ॥१५,१६॥

अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं पिष्ट्वा क्षारोत्तमानि च।
जातीमूलं हरिद्रे द्वे कासीसं कटुरोहिणीम् ॥१७॥
पूर्वोद्दिष्टानि आस्यानि कुर्यात् संशोधनं घृतम्।

अर्क (आक की जड़), उत्तमा (त्रिफला), स्नुहीक्षीर (थोहर का दूध), उत्तम क्षारद्रव्यों को (मुष्क, कुटज आदि को), जातीमूल (जटामांसी, जातुकन्द इग पाठ में गुग्गुलु), दोनों हल्दियाँ, कासीस और कटुरोहिणी (कुटकी), एवं शोधन-वर्त्ति में कहे द्रव्यों के साथ संशोधनघृत तैयार करना चाहिये ॥१७॥

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलाः ॥१८॥
बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला।
शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१९॥

शोधन तैल—मयूरक (अपामार्ग), राजवृक्ष (अमलतास), निम्ब (नीम), कोषातकी (कड़ुवी तुरई), तिल, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (छोटी कटेरी), हरिताल (हरताल), मैनसिल, शोधनवर्त्ति में कहे हुए द्रव्यों को शोधन तैल में मिलाना चाहिये ॥१८,१९॥

कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये।
शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वीत शोधनम् ॥२०॥

शोधनचूर्ण—कासीस, सैन्धानमक, किण्व (सुरा-पिष्ट), वच, दोनों हल्दी, शोधनवर्त्ति में कही औषधियों का चूर्ण—शोधन कार्य में बरतना चाहिये ॥२०॥

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च।
रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२१॥

सालसारादिगण में कही औषधियों से, परवल एवं त्रिफला से, शोधनवर्त्ति में कहे द्रव्यों से—शोधनी रसक्रिया बनानी चाहिये। (रसक्रिया विधि—द्रव्य की अपेक्षा से आठगुणा (कोमल द्रव्यों में) या सोलहगुण (कठिन द्रव्यों में) जल डालकर क्वाथ करना चाहिये। जब अष्टमांश पानी रह जाये या सोलहवाँ भाग क्वाथ रह जाये तब छानकर पुनः इस कषाय को राब के समान पकाना चाहिये, यही रसक्रिया है) ॥२१॥

श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि।
सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम् ॥२२॥

श्रीवेष्टक (धूप), सर्जरस (राल), सरल (सरलवृक्ष की त्वचा), देवदारु, सार (सालसारादिगण की औषधियों) से व्रण का धूपन बुद्धिमान् को करना चाहिये ॥२२॥

कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणानां त्वक्षु साधितः।
शृतः शीतकषायो वा रोपणार्थ प्रशस्यते ॥२३॥

रोपणकषाय—अनुष्ण वृक्षों की (न्यग्रोध, उदम्बर, पीपल, पिलखन आदि) त्वचा से बनाये क्वाथ अथवा शीत कषाय (फाण्टस्वरस) रोपणकार्यों में प्रशस्त है। (द्रव्य को रात्रि में पानी में रखकर जो कषाय बनता है, वह शीत कषाय है) ॥२३॥

सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा।
क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥२४॥

सोम (सोम का बल्कल ब्राह्मी), अमृता (गिलोय), अश्वगन्धा (असगन्ध) तथा काकोल्यादिगण में कही औषधियों से, क्षीरिप्ररोहों (न्यग्रोध, गूलर आदि के अंकुरों) से रोपणवर्त्तियाँ तैय्यार करनी चाहिये ॥२४॥

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः।
काकोल्यादिश्च कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२५॥

समङ्गा (मजीठ), सोम, सरल, सोमवल्का (कायफल), चन्दन, काकोल्यादिगण की औषधियाँ इनका कल्क व्रण के संरोहण के लिये प्रशस्त है ॥२५॥

पृथक्पर्ण्यात्मगुप्ता च हरिद्रे मालतीसिता।
काकोल्यादिश्च योज्यः स्याद्विषजा रोपणे घृते ॥२६॥

पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), आत्मगुप्ता (कौंच), दोनों हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), मालती (जाती-चमेली), सिता (शर्करा), या श्वेतदूर्वा और काकोल्यादिगण की औषधियों से सिद्ध घृत को रोपणकार्य में बरतना चाहिये ॥२६॥

कालानुसार्यगुरुणीहरिद्रे देवदारु च।
प्रियङ्गवश्च रोध्रं च तैले योज्यानि रोपणे ॥२७॥

कालानुसारी (तगर), अगर, हरिद्रा (हल्दी-दारुहल्दी), देवदारु, प्रियंगु (फूल प्रियंगु), रोध्र (पठानीलोध), ये रोपणतैल में प्रयुक्त करने चाहिये ॥२७॥

कङ्कुका त्रिफला रोध्रं कासीसं श्रवणाह्वया।
धवाश्वकर्णयोस्त्वक् च रोपणं चूर्णमिष्यते ॥२८॥

प्रियङ्गुका सर्जरसः पुष्पकासीसमेव च ।
त्वक्चूर्णं धवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते ॥२९॥

रोपणचूर्ण—कंगुका (कंगनी), त्रिफला, रोध्र, कासीस, श्रवणाह्वा (मुण्डतिका), धव एवं अश्वकर्ण (अश्वकर्ण, पलाश), इनकी छाल का चूर्ण रोपणकार्य में उत्तम है। प्रियंगु, सर्जरस (राल) कासीस-पुष्प, धववृक्ष की त्वचा का चूर्ण रोपण के लिये उत्तम है ॥२८,२९॥

त्वक्षु न्यग्रोधवर्गस्य त्रिफलायास्तथैवच ।
रसक्रियां रोपणार्थे विदधीत यथाक्रमम् ॥३०॥

न्यग्रोधगण की तथा त्रिफला की (हरड़, बहेड़ा, आँवला) त्वचा से, द्विव्रणीय अध्याय में कही विधि से रोपणकार्य के लिये रसक्रिया बनानी चाहिये ॥३०॥

अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुवर्चला ।
उत्सादने प्रशस्यन्ते काकोल्यादिश्च यो गणः ॥३१॥

अपामार्ग की जड़, असगन्ध, तालपत्री (मूसली), सुवर्चला (सूर्यावर्त्त) की जड़, एवं काकोल्यादिगण की औषधियाँ—उत्सादन (मांसवर्धन) कार्य में प्रशस्त हैं ॥३१॥

कासीसं सैन्धवं किण्वं कुरुविन्दो मनःशिला ।
कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च ॥३२॥
फले शैरीषकारञ्जे धातुचूर्णानि यानि च ।
व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने ॥३३॥

कासीस, सैन्धानमक, किण्व, कुरुविन्द (लाल रत्न), मैनसिल, मुर्गे के अण्डे के छिलके, चमेली की कली, शिरीष, करञ्ज, धातुचूर्ण (हरिताल, पुष्पकासीस, रसाञ्जन आदि)—ये वस्तुयें उभरे हुए मांस काटने के लिये (अवसादन के लिये) प्रशस्त हैं ॥३२,३३॥

समस्तं वगमर्धं वा यथालाभमथापि वा ।
प्रयुञ्जीत भिषक् प्राज्ञो यथोद्दिष्टेषु कर्मसु ॥३४॥

इस मिश्रक अध्याय में, द्रव्यसंग्रहणीय अध्याय में संशोधन-संशमनीय अध्याय में कहे हुए द्रव्यों में से जितने चार, पाँच, छै द्रव्य, या सम्पूर्ण अथवा आधे, जितने भी प्राप्त हो सकें, उनको लेकर वैद्य को चाहिये कि कार्य में व्यवहार कर ले ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने मिश्रकाध्यायो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यसंग्रहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे द्रव्यसंग्रहणीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥

समासेन सप्तत्रिंशद् द्रव्यगणा भवन्ति ॥३॥

संक्षेप में सैंतीस द्रव्य समूह हैं। (यथा—प्रत्येक गण का नाम आदिम दवाई के नाम से है) ॥३॥

तद्यथा—विदारिगन्धा विदारी विश्वेदेवा सहदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बृहत्यौ पुनर्नवैरण्डो हंसपादी वृश्चिकाल्यृषभी चेति ॥४॥

विदारीगन्धा (शालपर्णी), विदारी (भूमिकूष्माण्ड), विश्वेदेवा (श्वेतबला-गगेरन), सहदेवा (पीले फूल की बला), श्वदंष्ट्रा (गोखरु), पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी-पिठवन), शतावरी, सारिवा (अनन्तमूल), कृष्णसारिवा (श्यामलता), जीवक, ऋषभक, महासहा (माषपर्णी), क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), दोनों बृहती (छोटी एवं बड़ी कटेरी), पुनर्नवा (साटोड़ी), एरण्ड, हंसपादी (हंसपदी-हंसराज), वृश्चिकाली (बिच्छूबूटी बिछातु—अथवा मेषशृङ्गी), ऋषभी (कौंच का फल) ॥४॥

विदारिगन्धादिरयं गणः पित्तानिलापहः ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः ॥५॥

यह विदारीगन्धादिगण पित्त एवं वायु का नाश करनेवाला है। शोष (राजयक्ष्मा), गुल्म, अङ्गों में पीड़ा, ऊर्ध्वश्वास, कासरोग का नाश करनेवाला है। इस गण से अथवा अन्य गणों से शृतशीत, कषाय, फाण्ट, रसक्रिया, गुटिका, चूर्ण, प्रलेप, प्रदेह, परिषेक, अवगाहन, घी, तैल आदि तैय्यार करके प्रयोग करने चाहिये ॥५॥

आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठापाटलामूर्वेन्द्रयवसप्तपर्णनिम्बकुरुण्टकदासीकुरण्टक-गुडूची चित्रकशार्ङ्ग(र्ङ्गे)ष्टाकरञ्जद्वयपटोलकिराततिक्तकानि सुषवी चेति ॥६॥

आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविषापहः ।
मेहकुष्ठज्वरवमीकण्डूघ्नो व्रणशोधनः ॥७॥

आरग्वधादिगण—आरग्वध (अमलतास) मदन (मैनफल), गोपघण्टा (ककोंटी), कण्टकी (विकङ्कत), कुटज (कूड़ा), पाठा, पाटला, मूर्वा, इन्द्रयव (कूड़ा), सप्तपर्ण (सतवन), निम्ब, कुरण्टक (श्वेतपुष्प झिंटी), दासीकुरंटक (नीलपुष्प झिंटी), गुडूची (गिलोय), चित्रक, शार्ङ्गेष्टा (काकजंघा), करञ्जद्वय (नाटा और पूतीकरञ्ज), पटोल, किराततिक्त, (चिरायता) सुषवी (करेला)—यह आरग्वधादिगण-श्लेष्मा, विष, कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, वमन, कण्डू का नाशक तथा व्रणशोधक है ॥६,७॥

सालसाराजकर्णखदिरकदरकालस्कन्धक्रमुकभूर्जमेषशृङ्गतिनिशचन्दनकुचन्दनशिंशपाशिरीषासनधवार्जुनतालशाकनक्तमालपूतिकाश्वकर्णागुरूणि कालीयकं चेति ॥८॥

सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः ।
मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः ॥९॥

सालसारादिगण—सालसार (साल का सार), अजकर्ण (सर्ज-साल का भेद), खदिर (खैर), कदर (श्वेत या पूति खदिर), कालस्कन्ध (तमाल), क्रमुक (सुपारी), भूर्ज (भोजपत्र), मेषशृङ्गी (मेढ़ाशृङ्गी), तिनिश (सादण), चन्दन (श्रीचन्दन), कुचन्दन (लाल चन्दन), शिंशिपा (शीशम), शिरीष, असन, धव, अर्जुन, ताल (ताड़), शाक (सहगौन), नक्तमाल (करञ्ज), पूतीक (नाटाकरञ्ज), अश्वकर्ण (साल भेद), अगरु, और कालीयक (कालिया चन्दन)-यह सालसारादिगण कुष्ठनाशक, प्रमेह-पाण्डुरोगनाशक, कफ और मेद का शोषक है ॥८,६॥

वरुणार्तगलशिग्रुमधुशिग्रुतर्कारीमेषशृङ्गीपूतीकनक्तमालमोरटाग्निमन्थसैरेयकद्वयबिम्बीवसुकवसिरचित्रकशतावरी—बिल्वाजशृङ्गीदर्भा बृहतीद्वयं चेति ॥१०॥

वरुणादिर्गणो ह्येष कफमेदोनिवारणः।
विनिहन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तरविद्रधीन् ॥११॥

वरुण (वरना), आर्त्तगल (नील झिंटी), शिग्रु (कड़ुवा और मीठा सहजन, श्वेत एवं लाल फूल का), तर्कारी (जयन्ती), मेषशृङ्गी (मेढ़ाशृङ्गी), पूतीक (चिरबिल्व-करञ्ज), नक्तमाल (बड़ी करञ्ज), मोरटा (अंकोठपुष्प), अग्निमन्थ (अरणी), सैरेयक (लाल फूल और नीले फूल की दो झिण्टियाँ), बिम्बी (ओष्ठोपम फल), वसुक (बकपुष्प-मौलसरी), वसिर (अपामार्ग या गजपिप्पली), चित्रक, शतावरी, बिल्व, अजशृङ्गी (मुण्डतिका-काकड़ाशृङ्गी), दर्भ (कुशा[1]), बृहतीद्वय (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी)—यह वरुणादिगण—कफ मेदनाशक, शिरःशूल, गुल्म एवं अन्तर्विद्रधि को नष्ट करता है ॥१०,११॥

वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसुकवसिरभल्लूककुरण्टकेन्दीवरकपोतवङ्काः श्वदंष्ट्रा चेति ॥१२॥

वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत्।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहः ॥१३॥

वीरतर्वादि गण—

वीरतरु (अर्जुन वृक्ष), सहचरद्वय (पीले और नीले फूल की दो झिण्टी), दर्भ, वृक्षादनी (वन्दाक), गुन्द्रा (बिना गाँठ का तृण—पादरक भेद), नल (प्रसिद्ध है), कुशा, काश, अश्मभेद (पाषाणभेद), अग्निमन्थ (अरणी), मोरटा (मूर्वा), वसुक (बकपुष्प), वसिर (अपामार्ग), भल्लूक (श्योनाक), कुरण्टक (सिरिवालिका—लाल रङ्ग की झिण्टी), इन्दीवर (नीला कमल), कपोतवङ्का (सुवर्चला), श्वदंष्ट्रा (गोखरु)—यह वीरतर्वादिगण—वातविकारनाशक, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात की पीड़ा को शान्त करता है ॥१२,१३॥

लोध्रसावरलोध्रपलाशकुटन्नटाशोकफञ्जीकट्फलैलवालुकशल्लकीजिङ्गिनीकदम्बसालाः कदली चेति ॥१४॥

एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदः कफहरो गणः।
योनिदोषहरः स्तम्भी वर्ण्यो विषविनाशनः ॥१५॥

लोध्रादिगण—लोध्र (पठानीलोध), सावरलोध्र (सफेदमोटी छाल), पलाश (ढाक), कुटन्नट (श्योनाक), अशोक, (लाल फूल का—रक्ताशोकश्चलकिसलयो वामपादाभिलाषी), फञ्जी (भार्गी), कट्फल (कायफल), एलवालुक (नालुका—हरिवालुक), शल्लकी (जगभद्या—शिल्लकी), जिङ्गिनी (जिङ्गन), कदम्ब, साल, कदली (केला)- यह लोध्रादिगण--मेदकफ-नाशक योनिदोषहर, स्तम्भक, वर्ण के लिये हितकारी, विषनाशक है ॥१४,१५॥

अर्कालर्ककरञ्जद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गीरास्नेन्द्रपुष्पीक्षुद्रश्वेतामहाश्वेतावृश्चिकाल्यलवणास्तापसवृक्षश्चेति ॥१६॥

अर्कादिको गणो ह्येष कफमेदोविषापहः।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद् व्रणशोधनः ॥१७॥

अर्कादिगण—अर्क (लाल फूल का आक), अलर्क (श्वेत फूल का आक) दोनों—नाटा और बड़ा करञ्ज, नागदन्ती (बड़ी जड़वाली दन्ती-जमालगोटा), मयूरक (अपामार्ग), भार्गी, रास्ना, इन्द्रपुष्पी (लांगली), क्षुद्रश्वेता (सेफन्द या अतीस), महाश्वेता (अपराजिता), वृश्चिकाली (बिछुटी), अलवणा (ज्योतिष्मती), तापसवृक्ष (इंगुदी)—यह अर्कादिगण कफ मेद एवं विष का नाशक, कृमि-कुष्ठ को शान्त करनेवाला, खासकर व्रण का शोषक है ॥१६,१७॥

सुरसाश्वेतसुरसाफणिज्झकार्जकभूस्तृणसुगन्धकसुमुखकालमालकुठेरककासमर्दक्षवकखरपुष्पाविडङ्गकट्फलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुकर्णिकाफञ्जीप्राचीबलकाकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति ॥१८॥

सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः।
प्रतिश्यायारुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः ॥१९॥

सुरसादिगण—सुरसा, श्वेतसुरसा (सफेद एवं काले फूल की तुलसी), फणिज्झक (मरुवा), अर्जक (वर्वरिका) भूस्तृण (द्रोणपुष्पी), सुमुख (राजिका), कालमालिका (कृष्णमल्लिका), कासमर्द (कसौंदी), क्षवक (नकछिकनी), खरपुष्प (वनवर्वरिका), वायविडङ्ग, कायफल, सुरसी (तुलसी), निर्गुण्डी (सिन्दुवार), कुलाहल (मुण्डिका), इन्दुकर्णी (मूषिकपर्णी), फञ्जी (भार्गी), प्राचीबल (मत्स्याक्ष), काकमाची (मकोय), और विषमुष्टि (कुचिला)—यह सुरसादिगण कफ को दूर करनेवाला एवं कृमिनाशक है। प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास, कास नाशक एवं व्रणशोधक है ॥१८,१९॥

---

[1] दर्भ—

"कुशः काशा बल्वजाश्च तथान्ये तीक्ष्ण-रोमशाः।
मौञ्जाश्च शाद्वलाश्चैव षड् दर्भाः संप्रकीर्तिताः॥

मुष्ककपलाशधवचित्रकमदनवृक्षकशिंशपावज्रवृक्षा - त्रिफला चेति ॥२०॥

मुष्ककादिर्गणो ह्येष मेदोघ्नः शुक्रदोषहृत्।
मेहार्शःपाण्डुरोगाश्मशर्करानाशनः परः ॥२१॥

मुष्क (क्षारवृक्ष), पलाश (ढाक), धव, चित्रक, मदन (मैनफल), वृक्षक (कुटज), शिंशिपा (शीशम), वज्रवृक्ष (सेहुण्ड) और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आँवला)—यह मुष्ककादिगण मेदोनाशक तथा शुक्रदोष को मिटानेवाला है। प्रमेह, अर्श, पाण्डुरोग नाशक एवं शर्करा को दूर करने के लिये श्रेष्ठ है॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचहस्ति - पिप्पलीहरेणुकैलाजमोदेन्द्रयवपाठाजीरकसर्षपमहानिम्ब - फलहिङ्गुभार्गीमधुरसातिविषावचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥२२॥

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः।
निहन्याद्दीपनो गुल्मशूलघ्नश्चामपाचनः ॥२३॥

पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य (चविका), चित्रक, शृङ्गवेर (आर्द्रक), मरिच (कालीमिर्च), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), हरेणुका (रेणुका), एला (बड़ी इलायची), अजमोदा (अजवायन), इन्द्रजौ, पाठा, जीरा, सरसों, महानिम्ब-फल (बकायन की निमौली), हींग, भार्गी, मधुरसा (मूर्वा), अतीस, वच, वायविडङ्ग और कुटकी, यह पिप्पल्यादिगण कफनाशक, प्रतिश्याय, वायु, अरुचि को मिटानेवाला, दीपक (अग्नि को बढ़ानेवाला), गुल्म एवं शूल का नाशक एवं आम रस का पाक करनेवाला है[1] ॥२२,२३॥

एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति ॥२४॥

एलादिको वातकफौ निहन्याद्विषमेव च।
वर्णप्रसादनः कण्डूपिडकाकोठनाशनः ॥२५॥

एलादिगण—एला (सूक्ष्मैला), तगर, कुष्ठ, मांसी (जटामांसी), ध्यामक (कत्तृण रोहिषतृण), त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपात), नागपुष्प (नागकेसर), प्रियंगु, (फूल प्रियंगु), हरेणुका (रेणुका), व्याघ्रनख (नाखूना), शुक्ति (नख का भेद-अल्पनख), चण्डा (चोरक चोरपुष्पी), स्थौणेयक (थुणेरक), श्रीवेष्टक (सरलवृक्ष), चोच (दालचीनी का भेद-वानवासिका त्वक्), चोरक (सुगन्धित द्रव्य-पहाड़ में होता है), वालुक (एलावालुक), गुग्गुलु, सर्जरस (राल), तुरुष्क (सिह्लारक), कुन्दरु (गोंद भेद), अगुरु (अगर), स्पृक्का (सुगन्धित द्रव्य), उशीर, भद्रदारु (देवदारु), कुंकुम (केसर), पुन्नागकेशर (पद्मकेशर या नागकेशर), यह एलादिगण वायु, कफ, विष को नष्ट करता है। वर्ण (रंग) को स्वच्छ करता है, कण्डू, पिड़का और कोठ[1] को नष्ट करता है ॥२४,२५॥

वचामुस्तातिविषाभयाभद्रदारूणि नागकेशरं चेति ॥२६॥

हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि मधुकं चेति ॥२७॥

एतौ वचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ।
आमातिसारशमनौ विशेषाद्दोषपाचनौ ॥२८॥

वचादिगण—वच, मुस्ता (नागरमोथा), अतीस, अभया (हरड़ बड़ी), भद्रदारु (देवदारु) और नागकेशर। हरिद्रादिगण—हरिद्रा (हल्दी, दारुहल्दी), कलशी (पृश्निपर्णी), इन्द्रजौ एवं मुलहठी—ये वचादि एवं हरिद्रादि दोनों गण स्तन्य (दूध) के शोधक, आमातिसारनाशक, खासकर दोषों का पाचन करनेवाले हैं॥

श्यामामहाश्यामात्रिवृद्दन्तीशङ्खिनीतिल्वककम्पिल्लक - रम्यकक्रमुकपुत्रश्रेणीगवाक्षीराजवृक्षकरञ्जद्वयगुडूचीस - प्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्णक्षीरी चेति ॥२९॥

उक्तः श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविषापहः।
आनाहोदरविड्भेदी तथोदावर्तनाशनः ॥३०॥

श्यामादिगण—श्यामा काली त्रिवृत), महाश्यामा (विधारा), त्रिवृत (निशोथ), दन्ती (जमालगोटा की जड़), शङ्खिनी (यवतिक्ता-कालमेघ), तिल्वक (रोध्रलालत्वचा वैरेचनिक वृक्ष), क्रमुक (सुपारी), पुत्रश्रेणी (दन्ती का भेद), गवाक्षी (इन्द्रायण), राजवृक्ष (अमलतास), करञ्जद्वय (दोनों करञ्ज नाटा और पूती), गुडूची (गिलोय), सप्तला (सातला), छागलांत्री (विधारे का भेद), सुधा (सेहुण्ड), और स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी चोक)—यह श्यामादिगण गुल्म एवं विषनाशक है। आनाह, उदररोग-नाशक, मलविरेचक, एवं उदावर्त्तनाशक है ॥२९,३०॥

बृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठा मधुकं चेति ॥३१॥

पाचनीयो बृहत्यादिर्गणः पित्तानिलापहः।
कफारोचकहृद्रोगमूत्रकृच्छ्ररुजापहः ॥३२॥

बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), कुटजफल (इन्द्रजौ), पाठा, मधुक (मुलहठी), यह बृहत्यादि गण—पाचक, पित्त-वायु-नाशक, कफ, अरुचि, हृदयरोग, मूत्रकृच्छ्र की पीड़ा को दूर करता है ॥३१,३२॥

पटोलचन्दनकुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठाः कटुरोहिणी चेति ॥

पटोलादिर्गणः पित्तकफारोचकनाशनः।
ज्वरोपशमनो व्रण्यश्छर्दिकण्डूविषापहः ॥३४॥

पटोल (परवल), चन्दन (श्वेत), कुचन्दन (लाल चन्दन), मूर्वा, गिलोय, पाठा और कुटकी यह पटोलादिगण—पित्त कफ अरुचि का नाशक, ज्वर को शान्त करनेवाला, व्रण के

१ आमपाचन—
"जठरानलदौर्बल्याद् अविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपकः॥"

१ वरटीदष्टसंकाशः कण्डुमान् लोहितोऽस्रकफवातात्।
क्षिप्रोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते सद्भिः॥

लिये हितकारी, छर्दि, कण्डू, विष को नाश करता है ।३३,३४।

काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकमुद्गपर्णीमाषपर्णी-मेदामहामेदाच्छिन्नरुहाकर्कटशृङ्गीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपौण्ड-रीकर्धिवृद्धिमृद्वीकाजीवन्त्यो मधुकं चेति ॥ ३५ ॥

काकोल्यादिरयं पित्तशोणितानिलनाशनः ।
जीवनो बृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥ ३६ ॥

काकोल्यादिगण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, छिन्नरुहा (गिलोय), कर्कटश्रृङ्गी (काकड़ाश्रृंगी), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), पद्मक (पद्माख), प्रपौण्डरीक, (श्वेतकमल), ऋद्धि, वृद्धि, मृद्वीका (द्राक्षा), जीवन्ती (स्वर्णजीवन्ती) और मधुक (मुलहठी), यह काकोल्यादिगण पित्त रक्त-वायु का नाशक है । जीवन, बृंहण, वृष्य है, दूध एवं कफ का वर्धक है ॥ ३५,३६ ॥

ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयहिङ्गुतुत्थकं चेति ३७

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः ॥ ३८ ॥

ऊषक (क्षारमृत्तिका), सैन्धव—सैन्धानमक, शिलाजतु (शिलाजीत), कासीसद्वय (हरा एवं पीला कासीस), हींग, तुत्थक (नीला थोथा)—यह ऊषकादिगण कफ, मेद का नाशक है, अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, शूल एवं गुल्म का नाशक है ॥ ३७,३८ ॥

सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मककाश्मरीफलमधूक-पुष्पाण्युशीरं चेति ॥ ३९ ॥

सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः ।
पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाद्दाहनाशनः ॥ ४० ॥

सारिवा (अनन्तमूल), मधुक (मुलहठी), चन्दन (श्वेत), कुचन्दन (लालचन्दन), पद्मक (पद्माख), काश्मरी फल (गम्भारी फल), मधूकपुष्प (महुवे के फूल), और उशीर—यह सारिवादिगण पिपासा तथा रक्तपित्त कफ-नाशक है । पित्त ज्वर को शान्त करता है, खासकर दाह को नष्ट करता है ॥ ३९,४० ॥

अञ्जनरसाञ्जननागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पलनलदनलिनके-शराणि मधुकं चेति ॥ ४१ ॥

अञ्जनादिगणो ह्येष रक्तपित्तनिबर्हणः ।
विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं भृशम् ॥ ४२ ॥

अञ्जन (स्रोतोऽञ्जन), रसांजन (रसौंत) नागपुष्प (नागकेशर), प्रियंगु (फूलप्रियंगु) नीलोत्पल (नीलाकमल), नलद (उशीरः), नलिनकेशर (पद्मकेशर) और मुलहठी—यह अञ्जनादिगण रक्त-पित्त का नाशक, एवं खासकर शरीर के अन्दर के दाह को नष्ट करता है ॥ ४१,४२ ॥

परूषकद्राक्षाकट्फलदाडिमराजादनकतकफलशाकफ-लानि त्रिफला चेति ॥ ४३ ॥

परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः ।
मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रुचिप्रदः ॥ ४४ ॥

परूषक (फालसा), द्राक्षा (मुनक्का), कट्फल (कायफल), दाड़िम (अनार), राजादन (पियालफल), कतकफल (निर्मली), शाकफल (शगुन का फल) और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) । यह परूषकादिगण वायु का नाशक, मूत्र दोष को मिटानेवाला, हृदय के लिये प्रिय पिपासानाशक है एवं रुचि उत्पन्न करता है ॥ ४३,४४ ॥

प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दन-मोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोऽञ्जनपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति ॥ ४५ ॥

अम्बष्ठाधातकीकुसुमसमंगाकट्वंगमधुकबिल्वपेशिका-सावररोध्रपलाशनन्दीवृक्षाः पद्मकेशराणि चेति ॥ ४६ ॥

गणौ प्रियंग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।
सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ ॥ ४७ ॥

प्रियंगु, समङ्गा (मजीठा), धातकी (धाय), पुन्नाग (तुङ्ग), नागपुष्प (नागकेशर), चन्दन (श्वेत), कुचन्दन (लालचन्दन), मोचरस (सिम्बल का गोंद), रसाञ्जन (रसौंत), कुम्भीक (जलपर्णी-पाना), स्रोतोऽञ्जन, पद्मकेशर, योजनवल्ली (मजीठ-वराहक्रान्ता), दीर्घमूला (दुरालभा या शालपर्णी) ।

अम्बष्ठा (पाठा), धातकीकुसुम (धाय के फूल), समंगा (वराहक्रान्ता), कट्वङ्ग (श्यानाक), मधुक (मुलहठी); बिल्वपेशिका (बाल बिल्वगिरी), सावर-रोध्र (पठानीलोध), पलाश (ढाक), नन्दीवृक्ष (काश्मरी गम्भारी), पद्मकेशर (नागकेशर)—ये दोनों प्रियंग्वादि एवं अम्बष्ठादिगण पक्व-अतिसार का नाश करनेवाले हैं । दोनों गण टूटी अस्थियों को जोड़नेवाले, पित्त में हितकारी और व्रणों का सराहण करने-वाले हैं ॥ ४५-४७ ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधुककपीतनककुभाम्रको-शाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयप्रियालमधूकरोहणीवञ्जुलकदम्ब-बदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसावररोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृक्षश्चेति ॥ ४८ ॥

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः ।
रक्तपित्तहरो दाहमेदोघ्नो योनिदोषहृत् ॥ ४९ ॥

न्यग्रोध (बड़), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पिलखन), मधुक (महुवा), कपीतन (आम्रातक), ककुभ (अर्जुन), आम्र (आम), कोशाम्र (काष्ठ आम), चोरकपत्र (चोर वृक्ष के पत्ते), जम्बूद्वय (जामुन और जिमाया), पियाल, मधुक (मुलहठी), रोहिणी (कटुरोहिणी), वञ्जुल (वेतस), कदम्ब, बदरी (बेर), तिन्दुकी, सल्लकी, रोध्र, सावररोध्र, भलातक (भिलावा), पलाश (ढाक), और नन्दीवृक्ष (पार्श्वपीपल)—यह न्यग्रोधादिगण व्रण के लिये हितकारी, संग्राही, भग्न को मिलानेवाला, रक्तपित्तनाशक, दाह-मेद को तथा योनिरोगों को दूर करता है ॥ ४८,४९ ॥

गुडूचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पद्मकं चेति ॥ ५० ॥
एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः ।
हृल्लासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥ ५१ ॥

गिलोय, नीम, कुस्तुम्बुरु (धनिया), चन्दन और पद्माख, यह गुडूच्यादिगण सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। अग्निदीपक है। हृल्लास (मचली), अरुचि, वमन, पिपासा, दाह को नष्ट करता है ॥ ५०,५१ ॥

उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥ ५२ ॥
उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।
पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्छाहरो गणः ॥ ५३ ॥

उत्पल (कमल), लालकमल, कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (सुगन्धि), कुवलय (थोड़ा नीला-श्वेतकमल), पुण्डरीक (श्वेतपद्म) और मुलहठी—यह उत्पलादिगण दाह-पित्त-रक्तनाशक है। पिपासाविष-हृदयरोग, छर्दि (वमन), मूर्च्छा को दूर करता है ॥ ५२,५३ ॥

मुस्ताहरिद्रादारुहरिद्राहरीतक्यामलकविभीतककुष्ठहैमवतीवचापाठाकटुरोहिणीशार्ङ्गष्टातिविषाद्राविडीभल्लातकानि चित्रकश्चेति ॥ ५४ ॥
एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिषूदनः ।
योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥ ५५ ॥

मुस्ता (नागर मोथा), हरिद्रा (हल्दी), दारुहरिद्रा (दारुहल्दी), हरीतकी, आँवला, बहेड़ा, कूठ, हैमवती (श्वेत वच), पाठा, कटुरोहिणी (कुटकी), शार्ङ्गष्टा (यवकतिक्ता), अतिविषा (अतीस), द्राविड़ी (इलायची), भल्लातक (भिलावा), चित्रक (चीता)—यह मुस्तादिगण कफनाशक है। योनिदोषनाशक, दूध का शोधन करनेवाला और पाचन है ॥ ५४,५५ ॥

हरीतक्यामलकविभीतकानीति त्रिफला ॥ ५६ ॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशिनी ॥ ५७ ॥

हरड़, बहेड़ा और आँवला—इनका नाम त्रिफला है। यह त्रिफला—कफपित्तनाशक है, प्रमेह कुष्ठ को नष्ट करता है, आँखों के लिये हितकारी, अग्निदीपक और विषम ज्वर को नष्ट करता है ॥ ५६,५७ ॥

पिप्पलीमरिचशृंगवेराणीति त्रिकटुकम् ॥ ५८ ॥
त्र्यूषणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।
निहन्याद्दीपनं गुल्मपीनसाग्न्यल्पतामपि ॥ ५९ ॥

पिप्पल्यादिगण—पिप्पली, मरिच, शृङ्गवेर (सोंठ)—इनका नाम त्रिकटु है। यह त्रिकटु (त्र्यूषण) कफ मेदनाशक, प्रमेह, कुष्ठ, त्वचा के रोगों को दूर करता है। अग्निवर्धक है, गुल्म, पीनस, अग्निमान्द्य को दूर करता है ॥५८,५९॥

आमलकीहरीतकीपिप्पलीचित्रकाश्चेति ॥ ६० ॥
आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।
चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥ ६१ ॥

आँवला, हरड़, पिप्पली और चित्रक—यह आमलकादिगण सब प्रकार के ज्वरों को दूर करता है। आँखों के लिये हितकारी अग्निदीपक, वृष्य, कफ एवं अरुचिको नष्ट करता है।

त्रपुसीसताम्ररजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलश्चेति ॥
गणस्त्रप्वादिरित्येष गरकृमिहरः परः ।
पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥ ६३ ॥

त्रपु, सीसक, ताम्बा, रजत (चाँदी), कृष्णलोह (तीक्ष्णलोह) स्वर्ण, लोहमल (किट्ट[1])—यह त्रप्वादिगण, गर (कृत्रिम विष) एवं कृमिनाशक है। पिपासा, विष, हृदयरोग, पाण्डु, प्रमेह को दूर करता है ॥ ६२,६३ ॥

लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकट्फलहरिद्राद्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥ ६४ ॥
कषायतिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।
कुष्ठकृमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः ॥ ६५ ॥

लाक्षा (लाख), आरेवत (शम्पाक), कुटज (कूड़ा), अश्वमार (करवीर), कट्फल (कायफल), हरिद्राद्वय (हल्दी, दारुहल्दी), निम्ब, सप्तच्छद (सातवन), मालती (चमेली), त्रायमाणा (जलब्रहुला) और (त्रिफला), यह गण कषाय, तिक्त, मधुर रस, कफ-पित्तज रोगों को नष्ट करनेवाला, कुष्ठ-कृमिनाशक, एवं दूषित व्रण का शोधक है ॥ ६४,६५ ॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—
तत्र त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथक्पर्ण्यो विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥ ६६ ॥
कषायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ॥ ६७ ॥

इसके आगे पाँच पञ्चमूल कहते हैं। इनमें—प्रथम पञ्चमूल, त्रिकण्टक (गोखरु), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी (पृश्निपर्णी) और विदारीगन्धा (शालपर्णी)—यह लघु पञ्चमूल है। यह लघु पञ्चमूल कषाय, तिक्त, मधुररस है, वातनाशक, पित्तशामक, बृंहण एवं बलवर्धक है ॥७६,६७॥

बिल्वाग्निमन्थटिण्टुकपाटलाः काश्मरी चेति महत् ।
सतिक्तं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम् ।
मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥ ६९ ॥

महापञ्चमूल—बिल्व (बेलगिरि), अग्निमन्थ (अरणी), टिण्टुक (श्योनाक), पाटला (पाटली) और काश्मरी (गम्भारी)—यह महा पञ्चमूल है। महापञ्चमूल—तिक्तरस, कफवातनाशक, पाक में लघु, अग्निवर्धक, मधुर अनुरस है ॥

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥ ७० ॥
गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।
आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

---

१ किट्ट का लक्षण—
"शताब्दमुत्तमं किट्टं मध्यञ्चाशीतिवार्षिकम् ।
अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥

इन दोनों (लघु और महान्) को दशमूल कहते हैं। यह दशमूल—श्वासनाशक, कफ, पित्त, वायु नाशक, आम का पाचक एवं सब प्रकार के ज्वर को नष्ट करता है ॥७०,७१॥

विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजशृङ्गी चेति वल्लीसंज्ञः ७२।
करमर्दीत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः
रक्तपित्तहरौ ह्येतौ शोफत्रयविनाशनौ।
सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

वल्लीपञ्चमूल—विदारीकन्द, सारिवा (अनन्तमूल), रजनी (हल्दी), गुडूची और अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी), यह वल्ली पञ्चमूल है।

कण्टक पञ्चमूल—करमर्द (करौंदा), त्रिकण्टक, (गोखरु), सैरीयक (झिण्टी), शतावरी और गृध्रनख (नाखून) ये कण्टक पञ्चमूल है।

ये दोनों पञ्चमूल रक्तपित्तनाशक, वातपित्त, कफजन्य तीनों प्रकार के शोथों को नष्ट करते हैं। सब प्रकार के प्रमेहों को मिटाते हैं। शुक्रदोष को दूर करते हैं[1] ॥७२-७४॥

कुशकाशनलदर्भकाण्डेक्षुका इति तृणसंज्ञकः ॥७५॥
मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च।
अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

तृण पञ्चमूल—कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षु (गन्ना) इनकी तृणपञ्चमूलसंज्ञा है। यह तृण पञ्चमूल मूत्रदोष का, रक्तपित्त को दूध के साथ देने से शीघ्र आराम कर देता है[2]॥७५,७६॥

एषां वातहरावाद्यावन्त्यः पित्तविनाशनः।
पञ्चकौ श्लेष्मशमनावितरौ परिकीर्तितौ ॥७७॥

इनमें लघु एवं महापञ्चमूल वातनाशक हैं, तृणपञ्चमूल पित्तनाशक है। शेष दो, वल्ली और कण्टक पञ्चमूल दोनों कफनाशक हैं ॥७७॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेक्ष्यामः ॥७८॥

त्रिवृत आदि को अन्यत्र कहेंगे ॥७८॥

समासेन गणा ह्येते प्रोक्तास्तेषां तु विस्तरम्।
चिकित्सितेषु वक्ष्यामि, ज्ञात्वा दोषबलाबलम् ॥७९॥

यहाँ पर ये गण संक्षेप में कह दिये हैं—इनका विस्तार चिकित्सास्थान में दोषादि के बलाबल की अपेक्षा से करेंगे ॥

एभिर्लेपान् कषायांश्च तैलं सर्पींषि पानकान्।
प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक् ॥८०॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि इन गणों से लेप, कषाय, तैल, घी, पानक (ठण्डाई आदि) आदि वस्तुयें आवश्यकतानुसार तैय्यार करनी चाहिये ॥८०॥

धूमवर्षानिलक्लेदैः सर्वर्तुष्वनभिद्रुते।
ग्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनौषधसंग्रहम् ॥८१॥

विधि पूर्वक औषधियों को एकत्रित करके—धूम, वर्षा, वायु, जल से रहित एवं सब ऋतुओं में उपद्रवों से रहित घर में औषधियों का संग्रह करना चाहिये ॥८१॥

समीक्ष्य दोषभेदांश्च भिन्नान् मिश्रान् प्रयोजयेत्।
पृथङ्मिश्रान् समस्तान्वा गणं वा व्यस्तसंहतम् ॥८२॥

दोषों को भिन्न-पृथक् पृथक् देखकर गणों को भी पृथक् पृथक् प्रयोग करना चाहिये। दोषों को मिश्रित (द्वन्द्व रूप में) देखकर गणों को मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। समस्त (तीनों) दोषों के मिले होने पर—तीन या अधिक गणों को मिलाकर प्रयोग करना चाहिये। अथवा गण की एक दो तीन या चार औषधियों को पृथक् या दूसरे गण की औषधियों से मिलाकर प्रयोग करना चाहिये ॥८२॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यसंग्रहणीयो नामाष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातः संशोधनसंशमनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे संशोधन, संशमनीय नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

मदनकुटजजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकृतवेधनसर्षपविडङ्गपिप्पलीकरञ्जप्रपुन्नाडकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगन्धाविदुलबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पी-बिम्बीवचामृगेर्वारुश्चित्राचेत्यूर्ध्वभागहराणि। तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि ॥३॥

संशोधन दो प्रकार का है। वमन और विरेचन। इनमें वमन मुख्य होने से इसको प्रथम कहते हैं—

मदन (मैनफल), कुटज (कूड़ा), जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (कड़वी तुरई), कृतवेधन (कोषातकी का भेद), सर्षप (सरसों), विडंग (वायविडंग), पिप्पली, करञ्ज, प्रपुन्नाड (पनयाड), कोविदार (कचनार), कर्बुदार (लसोड़ा), अरिष्ट (नीम), असगन्धा, विदुल (वेतस), बन्धुजीवक (बन्धुजीव), श्वेता (श्वेतवच), शणपुष्पी, बिम्बी (कन्दुरी), वचा, मृगेर्वारु

---

१. वल्लीज पञ्चमूल—
"वल्लीजं पञ्चमूलं तु प्रशस्तं कफनाशनम्।
सृष्टमूत्रानिलहरं वृष्यमिन्द्रियबोधनम् ॥"
कण्टकपञ्चमूल—
"कण्टकाख्यं पञ्चमूलं कफानिलहरं परम्।
मधुरानुरसं चैव पक्वाशयविशोधनम् ॥"
२. क्षीरपाकविधि—
"द्रव्यादष्टगुणं तोयं, क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्।
क्षीरावशेषः कर्त्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥"

(इन्द्रायण), चित्रा (द्रवन्ती)—ये द्रव्य ऊर्ध्वभाग—मार्ग से दोषों को (वमन रूप में बाहर) निकालते हैं। इनमें कोविदार से पूर्व के द्रव्यों का फल ग्रहण करना चाहिये और कोविदार आदि द्रव्यों का मूल ग्रहण करना चाहिये ॥३॥

त्रिवृतश्यामादन्तीद्रवन्तीसप्तलाशङ्खिनीविषाणिकागवाक्षीच्छगलान्त्रीस्नुक्सुवर्णक्षीरीचित्रककिणिहीकुशकाशतिल्वककम्पिल्लकरम्यकपाटलापूगहरीतक्यामलकबिभीतकनीलिनीचतुरङ्गुलैरण्डपूतीकमहावृक्षसप्तच्छदार्का ज्योतिष्मती चेत्यधोभागहराणि। तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि, तिल्वकादीनां पाटलान्तानां त्वचः, कम्पिल्लकफलरजः, पूगादीनामेरण्डान्तानां फलानि, पूतीकारग्वधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराणीति ॥४॥

त्रिवृत (निशोथ), श्यामा (लाल मूल की निशोथ), दन्ती (जमालगोटा), द्रवन्ती, सप्तला (सातला-सेहुण्ड), शङ्खिनी (कालमेघ), विषाणिका (मेढाशृंगी), गवाक्षी (इन्द्रायण), छागलान्त्री (वृद्धदारक), स्नुक् (स्नुही), स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), चित्रक, किणिही (कटभी), कुश, काश, तिल्वक (स्वल्पलोध्र), कम्पिल्लक (कमीला), रम्यक (बकायन), पाटला, पूग (सुपारी), हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीलिनी (नीलिबुध्न-श्रीफलिका वननीली), चतुरंगुल (अमलतास), एरण्ड, पूतीक (चिरबिल्व), महावृक्ष (बहुत काँटोंवाली स्नुही) सप्तच्छद (सतपर्ण), और ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी), ये द्रव्य अधोभाग द्वारा (विरेचन से) मलों को बाहर करते हैं। इनमें तिल्वक से पूर्व द्रव्यों के मूल, तिल्वक से लेकर पाटला तक औषधियों की त्वचा, कम्पिल्लकफल की रज (बूर), पूग से लेकर एरण्ड तक औषधियों के फल, पूतीक एवं आरग्वध के पत्र; शेष द्रव्यों का दूध बरतना चाहिये ॥४॥

कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कारवेल्लिका चेत्युभयतोभागहराणि। एषां स्वरसा इति ॥५॥

कोशातकी (तुरई), सप्तला (दातलास्नुहीभेद), शङ्खिनी (यवतिक्ता), देवदाली और कारवेल्लक (करेला) ये वस्तुयें वमन एवं विरेचन दोनों मार्गों से दोषों को निकालते हैं। इन औषधियों का स्वरस बरतना चाहिये ॥५॥

पिप्पलीविडङ्गापामार्गशिग्रुसिद्धार्थकशिरीषमरिचकरवीरबिम्बीगिरिकर्णिकाकिणिहीवचाज्योतिष्मतीकरञ्जार्कालर्कलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीशतमालसुरसार्जकेङ्गुदीमेषशृंगीमातुलुंगीमुरंगीपीलुजातीशालतालमधूकलाक्षाहिङ्गुलवणमद्यगोशकृद्रसमूत्राणीति शिरोविरेचनानि। तत्र करवीरपूर्वाणां फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीशपूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्जकान्तानां पत्राणि, इङ्गुदीमेषशृंगयोस्त्वचः, मातुलुंगीमुरंगीपीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः, हिङ्गुलाक्षे निर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; मद्यान्यासुतसंयोगाः शकृद्रसमूत्रे मलाविति ॥६॥

शिरोविरेचन द्रव्य—पिप्पली, वायविडङ्ग, अपामार्ग (चिरचिटा), शिग्रु (सहजन), सिद्धार्थक (सरसों), शिरस, मरिच, करवीर (कनेर), बिम्बी (कन्दुरी), गिरिकर्णिका (सेफन्द, अपराजिता), किणिही (कटभी), वच, ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी), करञ्ज, आक, अलर्क (श्वेत पुष्प का आक), लशुन, अतीस, सोंठ, तालीशपत्र, तमालपत्र, सुरसा (तुलसी), अर्जक (कुठेरक तुलसीभेद), इंगुदी, मेढाशृङ्गी, मातुलुङ्गी (बिरौज भेद), मुरंगी (लालफूल का सहजन), पीलु, जाति (मालती), साल, ताड़, महुवा, लाख, हींग, लवण, मद्य, गोमयरस, गोमूत्र—ये शिरोविरेचन द्रव्य हैं। इनमें करवीर से लेकर आक तक की औषधियों की जड़, तालीशपत्र से पूर्व द्रव्यों का कन्द तालीशपत्र से लेकर अर्जक तक के द्रव्यों के पत्र, इंगुदी और मेषशृङ्गी की त्वचा, मातुलुङ्गी, मुरंगी, पीलु जाति के पत्र, शाल—ताड़ और महुवे का सार, हींग और लाख गोंद हैं, लवण खनिज सन्धान के प्रभाव से प्रस्तुत द्रव "मद्य" होते हैं। गोबर और मूत्र ये मल हैं ॥६॥

संशमनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठाहरिद्रावरुणमेषशृंगीबलातिबलार्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च, द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ, समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥७॥

इसके आगे संशमन—द्रव्य कहते हैं। भद्रदारु (देवदारु), कूठ, हरिद्रा (हल्दी), वरुण (वरना), मेढाशृङ्गी, बला (खरैटी), अतिबला (पीले फूल की बला), आर्त्तगल (ककुथ), कच्छुरा (शूक, शिम्बी, कौंच, सल्लकी, कुबेराक्षी (पोटिका—पाटल), वीरतरु (अर्जुन), सहचर (कन्टशेलियाक, अथवा पियाबाँसा), अग्निमन्थ (अरणी), वत्सादनी (गिलोय), एरण्ड, अश्मभेद (पाषाणभेद), अलर्क (श्वेत पुष्प का आक), आक, शतावरी, पुनर्नवा (साठी इटसिठ), वसुक (मौलसिरी का फूल—वनपुष्प), वशिर (सूर्यावर्त्त), काञ्चनक (धतूरा), भार्ङ्गी, कार्पासी (बन कपास) वृश्चिकाली (बिच्छूटी), पत्तूर (कुचन्दन), बेर, जौ, कोल (झाड़ी का बेर) कुलत्थी आदि (माष, तिल, अलसी आदि) द्रव्य एवं विदारीगन्धादि गण तथा प्रथम दो पञ्चमूल (लघु और महा पञ्चमूल)—यह संक्षेप से वातसंशमन वर्ग है ॥७॥

चन्दनकुचन्दनह्रीबेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द (द) लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिन्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ॥८॥

चन्दन (श्वेत चन्दन), कुचन्दन (लाल चन्दन), ह्रीबेर (बालक हीबेर), उशीर (खस), मजीठ, पयस्या (क्षीरकाकोली, शतावरी), विदारीकन्द, शतावरी, गुंद्रा (एड्काकतृण), शैवाल (काई), कह्लार (लाल कमल), कुमुदोत्पल (श्वेत कमल), कन्दली (पद्मबीज या सर्पच्छत्रिका), दूर्वा, मूर्वा आदि (मधुर, तिक्त द्रव्य), काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि, उत्पलादि, न्यग्रोधादि और तृण पञ्चमूल—यह संक्षेप में पित्तशामक वर्ग है ॥८॥

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमनः काकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिर्बृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः ॥९॥

कालेयक (मलयाचल का चन्दन विशेष जो काले रंग का होता है), अगुरु (अगर), तिलपर्णी (हुलहुल), कूठ, हरिद्रा, शीतशिव (कपूर), शतपुष्पा (सौंफ), सरला (त्रिवृत), रास्ना, प्रकीर्या (गोटाकरञ्ज), उदकीर्या (चिरबिल्व, करञ्ज), इंगुदी, सुमन (चमेली), काकादनी (हिंस्रा, गुञ्जा), लांगली (कलिहारी) हस्तिकर्ण (लाल एरण्ड), मुञ्जातक (स्वल्पकन्द-विशेष), लामज्जक (उशीर) आदि द्रव्य, वल्ली एवं कण्टक पञ्चमूल, पिप्पल्यादि, बृहत्यादि, मुष्ककादि, वचादि, सुरसादि, आरग्वधादि गण संक्षेप में कफनाशक है ॥९॥

तत्र सर्वाण्येवौषधानि व्याध्यग्निपुरुषबलान्यभिसमीक्ष्य विदध्यात् । तत्र, व्याधिबलादधिकमौषधमुपयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यमावहति; अग्निबलादधिकमजीर्णं विष्टभ्य वा पच्यते; पुरुषबलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनम् ; एवं संशोधनमतिपातयति । हीनमेभ्यो दत्तमकिंचित्करं भवति । तस्मात् सममेव विदध्यात् ॥१०॥

इनमें संशोधन एवं संशमन सब औषधियाँ रोग, अग्नि, पुरुष के बल को देखकर प्रयुक्त करनी चाहिये । यदि व्याधि के बल से अधिक औषधि रोगी को दी जाती है, तो वह रोग को शान्त करके अन्य रोग को उत्पन्न कर देती है । अग्निबल से अधिक औषध अजीर्ण उत्पन्न करके, शरीर में देर तक स्थिर होकर (विबन्ध या) शूल उत्पन्न करके पचती है । पुरुष बल से अधिक औषध ग्लानि, मूर्च्छा, मद (नशा) उत्पन्न करती है । ये संशमन द्रव्यों के गुण, दोष हैं । संशोधन औषध भी बहुत हानि करती है । हीन मात्रा में दी हुई औषध कुछ गुण नहीं करती, इसलिये उचित मात्रा में औषध देनी चाहिये ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

रोगे शोधनसाध्ये तु यो भवेद्दोषदुर्बलः ।
तस्मै दद्याद् भिषक् प्राज्ञो दोषप्रच्यावनं मृदु ॥११॥

कहा भी है—

संशोधन साध्य रोग में जो रोगी दुर्बल हो, उस के लिये कोमल विरेचन देना चाहिये । (यथा मृदु-वीर्य, अमलतास आदि) ॥११॥

चले दोषे मृदौ कोष्ठे नेक्षेतात्र बलं नृणाम् ।
अव्याधिदुर्बलस्यापि शोधनं हि तदा भवेत् ॥१२॥
स्वयं प्रवृत्तदोषस्य मृदुकोष्ठस्य शोधनम् ।
भवेदल्पबलस्यापि प्रयुक्तं व्याधिनाशनम् ॥१३॥

दोष के अपने स्थान से चलायमान होने पर एवं कोष्ठ के मृदु होने पर विना व्याधि के कारण (उपवासादि से) दुर्बल होने की अवस्था में—रोगी के बल की विवेचना नहीं करनी चाहिये । यह दुर्बल विरेचन को सहन नहीं कर सकता, ऐसा विचार नहीं करना चाहिये । क्योंकि—जब दोष स्वयं प्रवृत्त (चलायमान) हो रहे हों, कोष्ठ मृदु हो, अल्प बलवाले रोगी को भी दिया हुआ संशोधन रोग का नाशक होता है । (कहा भी है—अपने स्थान से स्खलित, पके हुए दोषों को निबल या बलवान् दोनों को निकालना चाहिये ।) ॥१२,१३॥

व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते ।
बिडालपदकं चूर्णं देयः कल्कोऽक्षसंमितः ॥१४॥

रोग अग्नि एवं पुरुष के मध्यम बल होने पर (शृत, शीत, फाण्ट) को अञ्जलि (चार पल) देनी चाहिये । चूर्ण-विडाल पद (एक कर्ष), कल्क (द्रवपिष्ट) एक अक्ष (कर्ष मात्र) देना चाहिये । रोग आदि के हीन बल होने पर मात्रा भी अधिक होनी चाहिये ॥ १४ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने संशोधनसंशमनीयो नामैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

—०—

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'द्रव्य, रस, गुण, वीर्य विपाक विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था[1] ॥ १,२ ॥

---

१ द्रव्य—औषध, रस, मधुरादि, गुण-शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मन्द, तीक्ष्ण, गुरु, लघु, पिच्छिल, विशद, श्लक्ष्ण, परुष, कठिन, मृदु, द्रव, सान्द्र, स्थिर, सर, स्थूल, सूक्ष्म—ये बीस गुण हैं । वीर्य आठ प्रकार का है । (आगे-शीतोष्ण भेद कहेंगे) । गुण और वीर्य में भेद-हरीतकी के समान ही आँवले में गुण हैं ।

केचिदाचार्या ब्रुवते—द्रव्यं प्रधानं कस्मात्? व्यवस्थितत्वात्, इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः, यथा—आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति; नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः, यथा कल्कादिप्रविभागः, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति; स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शेषाणि; पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः; आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादयः; आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा—'विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेत्' इत्येवमादिषु न रसादिष्वारम्भः, शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे योगानां, यथा—'मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च' इत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते, क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनां, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः संपूर्णे संपूर्णा इति, एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते यथा—महावृक्षक्षीरेणेति, तस्माद् द्रव्यं प्रधानं न रसादयः; कस्मात्? निरवयवत्वात्। द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ॥३॥

कुछ आचार्यों की सम्मति है कि इन सब में 'द्रव्य' ही प्रधान है। कारण-व्यवस्थित होने से। द्रव्य ही व्यवस्थित रहता है, रस आदि व्यवस्थित नहीं रहते। जिस प्रकार कि कच्चे फल में प्रथम कषाय, अम्ल रस रहता है, पकने पर पीछे मधुर रस उत्पन्न हो जाता है—वे रस नहीं रहते, परन्तु वह आम का फल-आम्रातक या कोशाम्र दूसरा फल नहीं बनता, अपितु आम ही रहता है। दूसरा कारण—नित्यत्वात् नित्य होने से द्रव्य प्रधान है। द्रव्य नित्य हैं और गुण अनित्य—विनाशी हैं। जिस प्रकार कल्क (स्वरस, शृत, फाण्ट) आदि में गुण, रस, गन्ध, वे ही रहते हैं, या बदल बिगड़ जाते हैं। तीसरा कारण—अपनी (पार्थिवादि) जाति में अवस्थित रहने के कारण द्रव्य प्रधान है। जिस प्रकार पार्थिव द्रव्य, जलीय आदि जाति में परिवर्त्तित नहीं होते, उसी पार्थिव रूप में रहते हैं। चौथा कारण—पाँचों इन्द्रियों से द्रव्य का ग्रहण होता है। इसलिए द्रव्य प्रधान है। पाँचों इन्द्रियों से द्रव्य का ही ग्रहण होता है, रस आदि का नहीं। पांचवाँ कारण-आश्रय होने से द्रव्य प्रधान है। रसादि द्रव्य में ही आश्रय करके रहते हैं। छठा कारण—योग का आरम्भ—उपक्रम सामर्थ्य में ही है। यथा-विदारीगन्धा आदि द्रव्यों को लाकर, कूटकर पकाना चाहिये, यह व्यवहार द्रव्य में ही होता है, रसादि में नहीं। सातवाँ कारण शास्त्र के प्रमाण से द्रव्य प्रधान है। यथा—मातुलुङ्ग, अग्निमन्थ आदि में द्रव्य का ही उपदेश शास्त्र में है, रसादि का नहीं। आठवाँ कारण—रस आदिमें क्रम की अपेक्षा रहती है, क्योंकि रस आदि द्रव्य के क्रम की अपेक्षा रखते हैं। यथा—तरुण द्रव्य में रस भी तरुण रहते हैं, सम्पूर्ण द्रव्य में रस भी सम्पूर्ण रहते हैं। नौवाँ कारण—रोगों के एकदेश द्वारा साध्य होने से। यथा—द्रव्यों के एक भाग से रोग अच्छे होते हैं—जैसे—महावृक्ष के दूध से। इसलिये रस-वीर्य-विपाक में द्रव्य ही प्रधान है। रसादि प्रधान नहीं। क्योंकि रसादि अवयव रहित हैं। द्रव्य का लक्षण—क्रिया गुणवान् एवं समवायिकरणवाला द्रव्य है। जिसमें क्रिया तथा गुण रहें और जो समवायी करण हो वह द्रव्य है, यथा—वस्त्र में तन्तु, घड़े में मिट्टी ॥३॥

नेत्याहुरन्ये; रसास्तु प्रधानं; कस्मात्? आगमात्; आगमो हि शास्त्रमुच्यते, शास्त्रे हि रसा अधिकृताः, यथा—रसायत्त आहार इति, तस्मिंस्तु प्राणाः उपदेशात्-उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति; अनुमानाच्च, रसेन ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति; ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा—किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति, तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु गुणसंज्ञा। रसलक्षणमन्यत्र पदेक्ष्यामः ॥४॥

दूसरे आचार्यों का कथन है कि यह ठीक नहीं (द्रव्य प्रधान नहीं है), रस ही प्रधान हैं। क्योंकि—आगम के प्रमाण से। आगम का अर्थ शास्त्र है। शास्त्र में रस को ही प्रधानता दी गई है। यथा—आहार रस के अधीन है और प्राण आहार के आश्रित हैं। दूसरा कारण—उपदेश से यथा-मधुर, अम्ल, लवण रस वायु का शमन करते हैं। तीसरा कारण—अनुमान से रस के द्वारा ही द्रव्य का अनुमान होता है, यथा—यह मीठा है। चौथा कारण—ऋषि के वचन से। ऋषिवचन का अर्थ वेद है, यथा—यज्ञ के लिये कुछ थोड़ा मधुर (मीठा) लाओ, यहाँ पर द्रव्य को न कहकर रस को मांगा। इसलिये रस ही प्रधान है। रस की भांति गुण भी प्रधान है। रस का लक्षण (रसविज्ञानीय अध्याय में) कहेंगे ॥४॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति। कस्मात्? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः। इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागोभयभागसंशोधनसंशमनसाङ्ग्राहिकाग्निदीपनपीडनलेखनबृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनादीनि वीर्यप्राधान्याद् भवन्ति। तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं

परन्तु वीर्य में भेद है, हरीतकी उष्णवीर्य और आँवला शीतवीर्य है। द्रव्य, रस, गुण, विपाक द्वारा जो कार्य नहीं हो सकता, वह प्रभाव से होता है।

"वीर्यं शक्तिरुत्पत्तिविशेषः सामर्थ्यं प्रभाव इत्यर्थान्तरम्।"

चेति। एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्, तथा कुलत्थः कषायः कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदु शीतवीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च, तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्; मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं; कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं च तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥५॥

यह भी ठीक नहीं—वीर्य ही प्रधान है, ऐसा तीसरे आचार्यों का मत है। कारण—वीर्य की अधीनता से औषध कर्म होता है। औषध कर्म, यथा—ऊर्ध्वभाग (वमन), अधोभाग (विरेचन), दोनों भागों का संशोधन, संशमन, संग्राहक (शाल्मलीत्वच् आदि), अग्निदीपक (चित्रक आदि), प्रपीड़न, लेखन (पत्तली करण), बृंहण, रसायन, वाजीकरण, श्वयथुकर, श्वयथुविलयन, दहन, दारण, मादन (मत्तताकरण), प्राणघ्न, विषप्रशमन (अगदादि), आदि कर्म वीर्य की प्रधानता से ही होते हैं। यह वीर्य दो प्रकार का है—शीत और उष्ण। क्योंकि—जगत् अग्नीषोमीय है, आग्नेय एवं सौम्य तत्त्वों से उत्पन्न हुआ है[1]। कई आचार्यों का मत है कि वीर्य आठ प्रकार का है—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, विशद, पिच्छिल मृदु और तीक्ष्ण। ये वीर्य अपने गुण की प्रधानता से रस को पराजित करके अपना कार्य करते हैं। यथा—महापञ्चमूल उष्णवीर्य होने से ही तिक्तकषाय-अनुरस होने पर भी वायु का शमन करता है। कुलत्थी कषाय रस, पलाण्डु कटुरस होने पर भी स्निग्ध (स्निग्धवीर्य) होने से वायु का शमन करते हैं। गन्ने का मधुर रस—शीतवीर्य होने से वायु को बढ़ाता है। पिप्पली का कटुरस मृदु, शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करता है। आँवले का खट्टा रस और सैन्धव का लवण रस मृदु, शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करते हैं। मकोय का तिक्तरस पित्त को बढ़ाता है, उष्णवीर्य होने से। मछलियों का मधुर रस, मूली का कटुरस कफ को बढ़ाता है स्निग्ध वीर्य होने से। रूक्ष वीर्य होने से, खट्टा कैथ और मधुर शहद कफ का शमन करते हैं। यह केवल उदाहरण मात्र ही हैं ॥५॥

भवन्ति चात्र—

ये रसा वातशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते हन्युः समीरणम् ॥६॥

[1] उपनिषदों में भी कहा है—'प्रजापतिः प्रजाकामी। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणञ्च, इत्येतौ प्रजाः करिष्यन्ते। रयिरेव चन्द्रमाः, प्राण एव सूर्यः ॥'

प्रश्नोपनिषद्।

ये रसाः पित्तशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
तैक्ष्ण्यौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्कर्मकारिणः ॥७॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भवन्ति यदि तेषु वै।
स्नेहगौरवशैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ॥८॥
तस्माद्वीर्यं प्रधानमिति ॥९॥

कहा भी है—

जो रस (मधुर, अम्ल, लवण) वायु का शमन करते हैं, यदि इनमें रूक्ष, लघु, शीतवीर्य हो तो ये वायु का शमन नहीं कर सकते। जो रस (मधुर, तिक्त, कषाय) पित्त का शमन करते हैं, यदि इनमें तीक्ष्ण, उष्ण, लघु वीर्य हो तो ये पित्त का शमन नहीं कर सकते। जो रस (कटु, तिक्त, कषाय) कफ का शमन करते हैं, यदि इनमें स्नेह गुरु, शीतवीर्य हो तो ये कफ का शमन नहीं कर सकते। इसलिये रस से भी वीर्य ही प्रधान है॥

नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ्मिथ्याविपक्वत्वात्; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ्मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति। तत्राहुरन्ये-प्रतिरसं पाक इति। केचित्त्रिविधमिच्छन्ति—मधुरमम्लं कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक्, भूतगुणादामाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति; पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लवणतामुपैतीति। मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः, दृष्टान्तं चोपदिशन्ति,—यथा तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्तथा शालियवमुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचिद्वदन्ति—अबलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति। एवमनवस्थितिः, तस्माद् सिद्धान्त एष आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः शेषाणि लघूनि; तस्माद् द्विविध एव पाक इति ॥१०॥

यह बात ठीक नहीं, विपाक ही प्रधान है—ऐसी चौथे आचार्यों की सम्मति है। कारण—सब भुक्त द्रव्य ही, विपाक द्वारा गुण या दोष को उत्पन्न करते हैं। सम्यक्विपाक होने पर गुण एवं मिथ्याविपाक होने पर दोष उत्पन्न करते हैं। कई आचार्यों का कहना है कि पाक—प्रत्येक रस के अनुसार होता है। (इस प्रकार से छः प्रकार का विपाक है)। कोई तीन प्रकार का विपाक मानते हैं, यथा—मधुर, अम्ल और कटु। यह ठीक नहीं है। क्योंकि—पृथ्वी और अग्नि के गुणों से एवं आम के कारण 'अम्ल' विपाक नहीं है—पित्त ही विदग्ध होकर

अम्ल हो जाता है, आग्नेय गुण होने से। यदि अम्ल विपाक को मानते हो तो–'लवण' भी एक पाक होगा, क्योंकि श्लेष्मा विदग्ध होकर 'लवण' हो जाता है। कई आचार्यों का कहना है कि मधररस का मधरविपाक, अम्ल रस का अम्लविपाक। इस प्रकार से सब रसों का (प्रतिरस) विपाक होता है। वे अपने इस कथन की पुष्टि में उदाहरण भी देते हैं–जिस प्रकार थाली (कड़ाही) में रक्खा दूध पकने पर भी मधुर ही रहता है, जिस प्रकार शाली (हेमन्तधान्य), जौ, मूङ्ग आदि भी भूमि में बोए जाने पर दूसरा फल लगने (पकने) पर भी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकते। इसी प्रकार से रस भी जठराग्नि द्वारा पाक होने पर भी अपने मधुर आदि स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकते। कई आचार्यों का कथन है कि—निर्बल रस बलवान् रसों के वश में आ जाते हैं। इसीलिये यह निश्चित नहीं, यह अनागम है। अपना पक्ष—शास्त्र में दो ही प्रकार का पाक है, यथा—मधुर और कटु। इनमें मधुर विपाक गुरु और कटु विपाक लघु है। इनमें—पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों के भी गुरु लघु, गुण साधर्म्य के कारण दो भेद हैं। यथा—पृथिवी और जल गुरु, तेज वायु और आकाश लघु हैं। इसलिये पाक भी दो प्रकार का ही है ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥११॥
तेजोऽनिलाकाशगुणः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥१२॥

कहा भी है—

द्रव्यों के पाककाल में जब पृथ्वी और जल के गुण अधिक प्रबल होते हैं, तब मधुर विपाक होता है। और जिन द्रव्यों के पाककाल में तेज, वायु, आकाश के गुण अधिक प्रबल रहते हैं तब कटुविपाक होता है ॥११,१२॥

पृथक्त्वदर्शिनामेष वादिनां वादसंग्रहः।
चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः ॥१३॥

भिन्न-भिन्न रूपसे देखनेवाले वादियों के मत ऊपर दिखा दिये हैं। बुद्धिमान् मनुष्य रस, वीर्य, गुण और विपाक इन चारों की समुदायता को स्वीकार करते हैं ॥१३॥

तद्द्रव्यमात्मना किंचित्किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥१४॥

कोई तो द्रव्य अपने द्रव्यत्व से, कोई द्रव्य अपने वीर्य से, कोई अपने रस से और कोई अपने विपाक से दोष को उत्पन्न करता है, या दोष का शमन करता है। यथा—खैर कुष्ठ को, महत्पञ्चमूल वीर्य द्वारा वायु का शमन करता है। तिक्त गिलोय उष्णवीर्य होने पर भी (रस से) पित्त का शमन करती है। शुण्ठी कटु रस होने पर भी (मधुरविपाक के कारण) वायु का शमन करती है[1] ॥१४॥

पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात्।
रसो नास्ति विना द्रव्याद् द्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम् ॥१५॥

बिना वीर्य के तो विपाक नहीं, बिना रस के वीर्य नहीं, बिना द्रव्य के रस नहीं, इसलिये द्रव्य को श्रेष्ठ कहा है ॥१५॥

जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम्।
अन्योन्यापेक्षिकं जन्म यथा स्याद्देहदेहिनोः ॥१६॥
वीर्यसंज्ञा गुणा येऽष्टौ तेऽपि द्रव्याश्रयाः स्मृताः।
रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ॥१७॥
द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न षड्रसाः।
श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं, शेषा भावास्तदाश्रयाः ॥१८॥

जिस प्रकार (देह शरीर) और देही (आत्मा) का जन्म परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से है, उसी प्रकार द्रव्य एवं रस की उत्पत्ति अन्योन्याश्रित है। आठों प्रकार का वीर्य भी द्रव्य में ही आश्रित है। यह वीर्य रसों में नहीं हो सकता, क्योंकि गुण तो निर्गुण हैं (गुण में गुण नहीं रहता), गुण द्रव्य में रहते हैं। पञ्चमहाभूतों से बने इस द्रव्य (शरीर) में आहार द्रव्य पकते हैं, गुणों का पाक नहीं होता (मधुर आदि रस नहीं पकते)। इसलिये रस, वीर्य विपाक में द्रव्य को ही श्रेष्ठ समझना चाहिये, ये रसादि उसी के आश्रित हैं ॥१६-१८॥

अमीमांस्यान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः।
आगमेनोपयोज्यानि भेषजानि विचक्षणैः ॥१९॥

जो औषधियाँ स्वभाव से ही प्रसिद्ध हैं (यथा—खदिर, तुवरक, रसाञ्जन, हरिद्रादि-कुष्ठनाशक हैं।—उनके विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इनका स्वभाव (प्रभाव) अचिन्त्य है। इसी प्रकार जो औषधियाँ शास्त्र से व्यवहार में आती हैं, वे भी अविचारणीय हैं[2] ॥१९॥

---

१ किंचिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन ॥
रसौ विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तानपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम् ॥ चरक।

२ 'रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः ॥
प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते ॥'
प्रभाव दो प्रकार का है। यथा—चिन्त्य और अचिन्त्य। चिन्त्य प्रभाव पाठा का संग्राही होना, अचिन्त्य प्रभाव—मणिमुक्ता के धारण से रोगनिवृत्ति, दन्ती–चित्रक के समान रस, वीर्य होने पर भी एक विरेचक है, दूसरा नहीं।
रस, वीर्य, विपाक प्रभाव के विस्तार के लिये—

प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन ॥ २० ॥
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्।
तस्मात्तिष्ठेत्तु मतिमानागमे न तु हेतुषु ॥ २१ ॥

शास्त्र की प्रधानता—

जिन औषधियों का शास्त्र के कथनानुसार प्रत्यक्ष लक्षण, प्रत्यक्षफल दीखता है, स्वभाव से ही जिनके कार्य प्रसिद्ध हैं, उन औषधियों की तर्क द्वारा परीक्षा नहीं करनी चाहिये। हजारों तर्क से भी अम्बष्ठा (पाठा) आदि औषधियों से विरेचन कार्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसलिये बुद्धिमान् को चाहिये कि सदा शास्त्र के अनुसार व्यवहार करे—तर्क से नहीं ॥ २०,२१ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रव्यविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'द्रव्य-विशेष-विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं। जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥ ३ ॥

इनमें, पृथ्वी, अप्, तेज वायु और आकाश के मिलने से द्रव्य की उत्पत्ति होती है। इन पाँचों के समुदाय में से जिस भूत के गुणों की उत्कर्षता होती है, उसी से वह द्रव्य पहिचाना जाता है, यह पार्थिव है, यह जलीय है, यह तेजस है, यह वायवीय हैं, यह आकाशीय है। "इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्। तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरुदकं, खानिलानलसमवायान्निर्वृत्तिविशेषौ।" (अष्टांगसंग्रहः) ॥ ३ ॥

तत्र स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं, तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति ॥(१)॥

इनमें जो द्रव्य स्थूल, सार (दृढ) सान्द्र (घन), मन्द, स्थिर, गुरु, कठिन, गन्धबहुल, थोड़ा कषाय रस, प्रायः मधुर रस होता है, वह पार्थिव द्रव्य है। यह द्रव्य शरीर में स्थिरता, बल, गुरुता, कठिनता और वृद्धि उत्पन्न करता है। विशेषकर यह पार्थिव द्रव्य अधोगामी (विरेचन गुण) स्वभाववाला होता है ॥(१)॥

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमाप्यं; तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति ॥(२)॥

जो द्रव्य शीत, स्तिमित (जड़), स्निग्ध, मन्द, गुरु, सर (फैलनेवाला), सान्द्र, मृदु, पिच्छिल, रसबहुल, ईषत्कषाय, अम्ल-लवणरस, एवं प्रायः मधुर रस होता है, वह आप्य है। यह द्रव्य स्नेहन; प्रह्लादन (सुखोत्पत्ति में हेतु) क्लेदन (आर्द्रता), बन्धन (संहति उत्पन्न करनेवाला), विष्यन्दन (द्रव का बहानेवाला) है ॥(२)॥

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपबहुलमीषदम्ललवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥(३)॥

जो द्रव्य—उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रूक्ष, खर, लघु, विशद, एवं रूप-गुण-बहुल थोड़ा अम्ल-लवण रस, प्रायः (अधिकतया) कटुरस, खासकर ऊर्ध्वभाग (वमन) में जानेवाला तैजस द्रव्य है। यह द्रव्य—दहन (जलाने), पाचन (पकाने), दारण; तापन (शरीरादि सन्तापन), प्रकाशन (अभिव्यक्ति), प्रभा-तेज वर्ण—(गौरादि) करनेवाला है ॥(३)॥

सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशदं स्पर्शबहुलमीषत्तिक्तं विशेषतः कषायमिति वायवीयं, तद्वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति ॥(४)॥

जो द्रव्य—सूक्ष्म, रूक्ष, खर, शिशिर, लघु, विशद, स्पर्शबहुल, थोड़ा सा तिक्त रस और अधिकतया कषाय रसवाला हो, वह वायवीय द्रव्य है। यह द्रव्य—विशदता, लाघव, ग्लपन (हर्ष का नाश), विरूक्षण (रूक्षता), विचारण (मन में अनेक प्रकार के विचार) उत्पन्न करता है ॥(४)॥

श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयं, तन्मार्दवशौषिर्यलाघवकरमिति ॥(५)॥

जो द्रव्य—चिकना, सूक्ष्म, मृदु, व्यवायी (सम्पूर्ण देह में फैलकर जो पीछे से पक्व होता है), विभक्त (पृथक् बना हुआ), अव्यक्त रस, शब्दबहुल होता है, वह आकाशीय द्रव्य है। यह मृदुता, शुषिरता (सच्छिद्रता), और लघुताको उत्पन्न करता है।

अनेन निदर्शनेन नानौषधीभूतं जगति किंचिद् द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति। तानि यदा कुर्वन्ति स कालः, यत् कुर्वन्ति तत् कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्यं, यत्र कुर्वन्ति तदधिकरणं, यथा कुर्वन्ति स उपायः, यन्निष्पादयन्ति तत् फलमिति ॥ ५ ॥

इस दृष्टि से इस स्थावर-जङ्गम संसार में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो कि औषधि-(दोषों का नाश करनेवाला) रूप न हो, (क्योंकि सब वस्तुयें पञ्चमहाभूतों के समुदाय से ही बनी हैं)। इसलिये—जल, अग्नि, संस्कार, भावना आदि

"द्रव्यगुण-संग्रह" अवश्य देखिये। अथवा श्रीयादवजी महाराज का "द्रव्य-गुण-विज्ञान" प्रथम भाग देखें।

योजनाओं के कारण एवं नाना प्रकार के रोगों के नाश के प्रयोजन की दृष्टि से, सब द्रव्य अपने वीर्य एवं गुणों के कारण कार्यशील होते हैं। ये द्रव्य जिस समय में क्रिया करते हैं, वह काल है, जो क्रिया (शोधनादि, भेषज द्रव्य व्यापार) करते हैं, वह कर्म है, जिस शक्ति से कार्य करते हैं, वह वीर्य है, जिस स्थान में (पञ्चमहाभूत समवायी शरीर में) कार्य करते हैं, वह अधिकरण है, जिस प्रकार (स्वरस, ऋतु; फाण्ट, घृत, तैल आदि) से करते हैं वह उपाय है, जो (स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य) उत्पन्न होता है, वह फल है ॥ ५ ॥

तत्र, विरेचनद्रव्याणि पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठानि पृथिव्यापो गुर्व्यः, तानि गुरुत्वादधोगच्छन्ति, तस्माद्विरेचनमधोगुणभूयिष्ठमनुमानात्। वमनद्रव्याण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, अग्निवायू हि लघू, लघुत्वाच्च तान्यूर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति, तस्माद्वमनमप्यूर्ध्वगुणभूयिष्ठम्। उभयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्, आकाशगुणभूयिष्ठं संशमनं सांग्राहिकमानिलगुणभूयिष्ठम्, अनिलस्य शोषणात्मकत्वात्, दीपनमग्निगुणभूयिष्ठं, तत्समानत्वात्, लेखनमनिलानलगुणभूयिष्ठं, बृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्, एवमौषधकर्माण्यनुमानात् साधयेत् ॥ ६ ॥

विरेचनद्रव्यों में पृथिवी एवं जल के गुणों की अधिकता रहती है। पृथिवी और जल भारी हैं, इसलिये भारी होने से नीचे जाते हैं। इसलिये अनुमान द्वारा यह जाना जा सकता है कि विरेचनद्रव्य प्रायः अधोगामी होते हैं। वमनद्रव्यों में—अग्नि एवं वायु के गुणों की अधिकता रहती है। अग्नि और वायु लघु हैं—इसलिये लघु होने से ऊपर जाते हैं। इसलिये वमन द्रव्य भी ऊपर को जाते हैं। दोनों प्रकार के गुणवाले [अधोमार्गी और ऊर्ध्वमार्गी] द्रव्य दोनों मार्गों से जाते हैं। आकाशगुण की अधिकतावाले द्रव्य संशमन गुणवाले हैं[1]। संग्राहक द्रव्यों में वायु के गुणों की अधिकता रहती है। चूंकि वायु शोषक है। दीपन गुणवाले द्रव्यों में अग्निगुणों की अधिकता रहती है। चूंकि ये आग्नेय द्रव्य–जाठराग्नि के समान होते हैं। लेखनद्रव्यों में—वायु एवं अग्नि के गुणों की अधिकता होती है। बृंहणद्रव्यों में—पृथिवी एवं जल के गुणों की अधिकता रहती है। इस प्रकार से औषध के कार्यों को अनुमान से जानना चाहिये ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र—

भूतजाग्निरजद्रव्यैः शमं याति समीरणः।
भूम्यम्बुवायुजः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥
खतजानिलजः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम्।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुतः ॥ ८ ॥
आग्नेयमेव यद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ॥ ९ ॥

कहा भी है—

पुरुषों में वायु—पृथिवी, अग्नि और वायु के द्रव्यों से, पित्त—पृथिवी, वायु और जलीय द्रव्यों से, कफ—आकाश, अग्नि और वायवीय द्रव्यों से वायु शान्त होते हैं। आकाश एवं वायवीय द्रव्यों से वायु, आग्नेय द्रव्यों से पित्त, पृथिवी एवं जलीय से कफ बढ़ता है ॥ ७-९ ॥

एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम्।
द्विशो वा बहुशो वापि ज्ञात्वा दोषेषु चाचरेत् ॥ १० ॥

इस प्रकार गुणों की प्रधानता प्रत्येक द्रव्यों में निश्चित है। इस प्रधानता को देखकर; (एक दोष की), दो दोषों अथवा बहुत दोषों की अधिकता में (चिकित्सा में) उन तत्वों का उपयोग करना चाहिये ॥ १० ॥

तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ; शीतपिच्छिलावम्बुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठः स्नेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षितिसमीरगुणभूयिष्ठं वैशद्यं; विपाकावुक्तगुणौ। तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्णरूक्षविशदाः श्लेष्मघ्नाः, गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। तेषां मृदुशीतोष्णाः स्पर्शग्राह्याः, पिच्छिलविशदौ चक्षुःस्पर्शाभ्यां, स्निग्धरूक्षौ चक्षुषा, तीक्ष्णो मुखे दुःखोत्पादनात्। गुरुपाकः सृष्टविण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च, लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च। तत्र तुल्यगुणेषु भूतेषु रसवैशेष्यमुपलक्षयेत्, तद्यथा—मधुरो गुरुश्च पार्थिवः, मधुरः स्निग्धश्चाप्य इति ॥ ११ ॥

यह जो वीर्य संज्ञक गुण है। यथा—शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद। इनमें तीक्ष्ण और उष्ण गुण आग्नेय हैं, शीत और पिच्छिल, जलगुण—बहुत होते हैं; स्नेह में पृथिवी एवं जलीय गुण की अधिकता रहता है, रूक्ष में वायवीय गुणों की अधिकता, वैशद्य में पृथिवी, वायु के गुण की अधिकता रहती है। गुरु एवं लघु विपाक (मधुर एवं कटु विपाक) के गुण पहले कह चुके हैं। इनमे—उष्ण एवं स्निग्ध वातनाशक, शीत, मृदु और पिच्छल पित्तनाशक, तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद गुण श्लेष्मानाशक हैं। गुरु (मधुर) विपाक वातपित्तनाशक, लघु (कटु) कफनाशक हैं। इनमे से मृदु-शीत और उष्णगुण स्पर्शेन्द्रिय-ग्राह्य हैं। पिच्छिल एवं विशद गुण आँख और स्पर्शेन्द्रिय द्वारा, स्निग्ध और रूक्ष आँख द्वारा, तीक्ष्ण गुण-मुख में दुःख उत्पन्न होने से, गुरुपाक (मधुरविपाक)-मल—मूत्र की प्रवृत्ति से एवं कफ से जनित वमनेच्छा होने से; लघुपाक (कटुविपाक)—मल मूत्र के अवरोध

1 संशमन का लक्षण—
'न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् तत् संशमनमुच्यते ॥'

से (विबन्ध होने से) और वायु के प्रकोप द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार से—पञ्चमहाभूतों के समान गुणवाले द्रव्यों में-रस की विलक्षणता को जानना चाहिये। यथा—पार्थिव द्रव्य-मधुर एवं गुरु, जलीयद्रव्य मधुर एवं स्निग्ध होते हैं ॥ ११ ॥

भवति चात्र—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते यथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद्देहिनां द्रव्यहेतुकाः ॥१२॥

कहा भी है—

द्रव्यों में जो ये बीस (या इनसे अधिक) गुण कहे हैं, ये गुण इसी प्रकार से शरीरों (प्राणियों के देहों) में भी हैं। इसलिये प्राणियों के शरीर में दोष, धातु, मल का अपने स्थान में रहना इनका बढ़ना अथवा इनका क्षीण होना, द्रव्यों के कारण से ही होता है ॥ १२ ॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने द्रव्यविशेषविज्ञानीयो नामैकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

—:०:—

द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो रसविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

इसके आगे 'रसविशेषविज्ञान' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥ १,२ ॥

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तस्मादाप्या रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद्विदग्धः षोढा विभज्यते; तद्यथा—मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति। ते च भूयः परस्परसंसर्गात्त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते। तत्र, भूम्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात्तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषाय इति ॥ ३ ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि, इनमें क्रमशः एक-एक गुण की उत्तरोत्तर वृद्धि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण होते हैं। यथा—आकाश में केवल शब्द, वायु में-शब्द और स्पर्श, अग्नि में-शब्द, स्पर्श और रूप, जल में-शब्द, स्पर्श, रूप और रस, पृथिवी में-शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध हैं, (परस्पर एक दूसरे में प्रविष्ट हुए हैं)। इसलिए-रस जल से उत्पन्न होता है। इन सब भूतों में परस्पर सम्बन्ध है। क्योंकि-एक दूसरों में मिले हैं, एक दूसरों का उपकार करते हैं, एक दूसरों में प्रविष्ट हुए हैं। इसलिये सब भूतों के गुण मिलते हैं, परन्तु उत्कर्ष (वृद्धि) एवं अपकर्ष (ह्रास) द्वारा इनका ग्रहण होता है, (वायु में स्पर्श अधिक है, आकाश में शब्द गुण अधिक है।) यह जलीय रस अन्य भूतों के संसर्ग के कारण परिपक्व होकर छै प्रकार का हो जाता है। यथा—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। और ये रस परस्पर-एक दूसरे में मिलकर तिरसठ (६३) प्रकार के हो जाते हैं। इनमें-मधुर-रस-पृथ्वी और जल गुण की अधिकता से अम्लरस-पृथ्वी और अग्नि गुण की अधिकता से, लवण रस-जल और अग्नि गुण की अधिकता से, कटुरस-वायु और अग्नि की अधिकता से, तिक्त-वायु और आकाश गुण की अधिकता से, कषाय-पृथिवी, वायु की अधिकता से उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

तत्र मधुराम्ललवणा वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः ॥ ४ ॥

इनमें मधुर-अम्ल और लवण वायु का, मधुर, तिक्त, और कषाय पित्त का; कटु तिक्त और कषाय कफ का नाश करते हैं ॥

तत्र, वायोरात्मैवात्मा पित्तमाग्नेयं श्लेष्मा सौम्य इति ॥ ५ ॥

इनमें वायु-वायु से ही उत्पन्न होता है, पित्त-अग्नि, से, और कफ-सोम (जल) से उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च ॥

इनमें जो रस जिस कारण (दोष) से उत्पन्न होते हैं, वे उसको बढ़ाते हैं (अपनी योनि को बढ़ाते हैं)। और दूसरों को शान्त करते हैं ॥ ६ ॥

केचिदाहुः—अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः-सौम्या आग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः, कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ललवणाः-स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च, सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः ॥ ७ ॥

कई आचार्यों का कहना है कि-रस दो ही प्रकार के हैं, क्योंकि (स्थावर जङ्गमात्मक) जगत, आग्नेय और सौम्य इन दो तत्त्वों से उत्पन्न होता है, इसलिये रस भी दो ही हैं। यथा—सौम्य और आग्नेय (स्निग्ध, गुरु, लघु, शीत, रूक्ष, उष्ण) इनका समावेश इन्हीं दोनों में हो जाता है। इनमें—मधुर, तिक्त और कषाय सौम्य कटु अम्ल, लवण, आग्नेय, मधुर, अम्ल, लवण स्निग्ध और गुरु हैं, कटु, तिक्त कषाय रूक्ष और लघु हैं। सौम्य रस शीतवीर्य और आग्नेय रस उष्णवीर्य हैं ॥ ७ ॥

तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः, तस्य समानयोनिः कषायो रसः सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यं, वैष्टम्भ्यात् वैष्टम्भ्यमिति ॥(१)॥

इनमें वायु-शीतल, रूक्ष, लघु, विशद, विष्टम्भी गुणोंवाला है। इस वायु के समान योनि (उत्पत्तिस्थान) वाला कषाय रस है। यह कषाय रस शीतल होने से वायु के शीत गुण को बढ़ाता है, अपनी रूक्षता से रूक्ष गुण को, अपनी लघुता से लघु गुण को, विशदता से विशदता को, विष्टम्भी होने से विष्टम्भि गुण को बढ़ाता है ॥ १ ॥

औष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात्तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं वैशद्याद्वैशद्यमिति ॥ (२) ॥

पित्त—उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, लघु, विशद गुणवाला है। इस पित्त के समान योनिवाला 'कटु' रस है। यह रस अपनी उष्णता से उष्ण गुण को, तीक्ष्णता से तीक्ष्ण गुण को, रूक्षता से रूक्ष गुण को, लघुता से लघु गुण को, विशदता से विशद गुण को बढ़ाता है ॥ २ ॥

माधुर्यस्नेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति ॥ (३) ॥

कफ—मधुर, स्नेह, गुरु, शीतल, पिच्छिल गुणवाला है। इस कफ के समान योनिवाला रस 'मधुर' रस है। यह रस अपनी मधुरता से कफ के मधुर गुण को, स्नेह से स्नेह को गौरव से गुरुता को शीतलता से शीत को और पिच्छिलता से पिच्छिल गुण को बढ़ाता है ॥ ३ ॥

तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः, स श्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद् गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तं भवति ॥८॥

अन्य योनि (विरोधी गुण) वाला कटु रस है और वह इस कफ के विरुद्ध गुणोंवाला हैं। इसलिये—कटुरस होने से मधुरता का तिरस्कार करता है। अपने रूक्ष गुण के कारण स्नेह का; लघुता से गौरव गुण का; उष्णता से शीत गुण का; विशदता से पिच्छिलता का नाश करता है। यह तो केवल उदाहरण मात्र है। इसी प्रकार पित्त की योनि के विपरीत मधुर रस पित्त का शमन करता है। "रसदोषसन्निपाते तु ये रसा यैर्दोषैः समानगुणाः समानगुणभूयिष्ठा वा भवन्ति' ते तानभिवर्धयन्ति' विपरीतगुणा विपरीतगुणभूयिष्ठा वा शमयन्ति अभ्यस्यमानाः। एतद् हि व्यवस्थाहेतोः षट्त्वमुपदिश्यते रसानां त्रित्वं च दोषाणाम्।" चरक ॥ ८ ॥

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र, यः परितोषमुत्पादयति तर्पयति जीवयति मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चाभिवर्धयति स मधुरः; यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्रावं जनयति श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्लः, यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति मार्दवं चापादयति स लवणः, यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति मुखवैशद्यं जनयति भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च स तिक्तः, यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं बध्नाति हृदयं कर्षति पीडयति च स कषाय इति ॥ ९ ॥

इसके आगे रस के लक्षणों को कहते हैं—इनमें जो रस परितोष (तुष्टि) को उत्पन्न करता है, सुख उत्पन्न करता है, तृप्ति करता है, प्राणों को धारण करता है, मुख को मल से लिप्त करता है और कफ को बढ़ाता है, वह मधुर रस है। जो रस दांतों में हर्ष (कुण्ठता) उत्पन्न करता है, मुख से लाला का स्राव उत्पन्न करता है, भोजन में श्रद्धा को उत्पन्न करता है, वह अम्ल रस है और जो भोजन में रुचि उत्पन्न करता है, कफ का प्रसेक तथा मृदुता का आपादक है वह लवण रस है। जो रस जीभ के अगले भाग को पीड़ित करता है, नासिका से स्राव बढ़ाता है, वह कटु रस है। जो रस गले में खिंचाव (चूसने की तरह पीड़ा) उत्पन्न करता है, वह तिक्त रस है। जो रस मुख को शुष्क कर देता है, जिह्वा को जड़ बना देता है, गले को रोक देता है, हृदय (आमाशय) को खींचता है और पीड़ित करता है, वह कषाय रस है ॥ ९ ॥

रसगुणानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः-तत्र, मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत्सन्धानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमस्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकफकरश्चेति; स एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कासश्वासालसकवमथुवदनमाधुर्यस्वरोपघातकृमिगलगण्डानापादयति तथाऽर्बुदश्लीपदबस्तिगुदोपलेपाभिष्यन्दप्रभृतींश्च जनयति ॥ (१) ॥

इसके आगे रस के गुणों को कहते हैं-इनमें—

मधुर रस-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र स्तन्य (दूध स्त्रियों में) को बढ़ानेवाला, आँखों वालों तथा शरीर के वर्ण के लिये—हितकारी है, बलकारक, जोड़नेवाला, रक्त-रस को स्वच्छ करनेवाला, बालक वृद्ध और क्षतक्षीण रोगी के लिये हितकारी, भौंरे और चिऊँटियों के लिये प्रियतर, तृष्णा मूर्छा-दाह को शान्त करनेवाला, मन समेत पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को प्रसन्न करने वाला और कृमियों तथा कफ को उत्पन्न करता है। यह मधुर रस उपर्युक्त गुणोंवाला होने पर भी अकेला ही अधिक मात्रा में सेवन करने से—कास, श्वास, अलसक, वमन; मुख की मधुरता, स्वरभङ्ग, कृमि, गलगण्ड रोगों को एवं अर्बुद, श्लीपद, वस्ती-गुदा में उपलेप (चिपचिपापन) अभिष्यन्द (नेत्र दुखना) आदि रोगों को उत्पन्न करता है ॥ १ ॥

अम्लो जरणः पाचनो दीपनः पवननिग्रहणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही बहिःशीतः क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति तथा क्षताभिहतदग्धदष्टभग्नरुग्णशूनप्रच्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति कण्ठमुरो हृदयं चेति ॥(२)॥

अम्ल रस—आहार का पाचन करनेवाला; दोष एवं आम का पाचक, अग्निदीपक, वायु को शान्त करनेवाला, वायु-मलमूत्र का अनुलोमक, कोष्ठ में विदाह करनेवाला, बाह्य उपचार में शीतल; क्लेदक और प्रायः हृदय के लिये हित होता है। इन गुणोंवाला होने पर भी अकेला अम्लरस ही अधिक मात्रा में सेवन करने से—दाँतों में जड़ता, आँखों का संकोच, रोमहर्ष, कफ का विलयन (पतलापन) और शरीर की शिथिलता को उत्पन्न करता है। क्षत-अभिहत (चोट युक्त), दग्ध (जला हुआ), दष्ट (डसा हुआ), भग्न, शून, रुग्ण, प्रच्युत (स्खलित), अवमूत्रित (मूत्र विष से दूषित को), विसर्प, छिन्न-भिन्न विद्ध—उत्पिष्ट आदि व्रणों को—आग्नेय स्वभाव होने से पका देता है, गला छाती और हृदय को जलाता है ॥(२)॥

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणिताम्लिकाप्रभृतीनापादयति ॥(३)॥

लवणरस—वमन—विरेचन द्वारा संशोधक, अन्न का पाचक, रस एवं मल का विश्लेषक, आहार का क्लेदक तथा शिथिलताकारक, उष्ण, सब रसों से विपरीत, विशोधक शरीर के सब अवयवों को कोमल करता है। इन गुणोंवाला होने पर भी अकेला लवणरस ही अधिक मात्रा में सेवन करने से—शरीर में कण्डू, कोठ, शोफ, विवर्णता, शुक्रक्षय, इन्द्रियों—नेत्रादि का उपताप (अपने कर्मों की हानि अर्थात् शक्तिनाश), मुख-आँख का पाक; रक्तपित्त, वातरक्त, अम्लिका (अम्लोद्गार) को उत्पन्न करता है ॥(३)॥

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफकृमिविषकुष्ठकण्डूप्रशमनःसन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत् करचरणपार्श्वप्रभतिषु च वातशूलानापादयति ॥(४)॥

कटुरस—अग्निदीपक, आहार का पाचक, रोचक, शोधक, स्थूलता आलस्य कफ-कृमि-विष कुष्ठ-कण्डू को शान्त करनेवाला, सन्धि-बन्धों का विच्छेदक, अनुत्साह उत्पन्न करनेवाला, दूध-शुक्र एवं मेद को नष्ट करनेवाला है। इन गुणोंवाला होने पर भी अकेला कटुरस अधिक मात्रा में सेवन करने से—भ्रम, मद, गला तालु-ओठ की शुष्कता; गात्रसंताप बल का ह्रास कम्प-तोद भेद उत्पन्न करता है, हाथ-पाँव पार्श्व-पीठ आदि अवयवों में वातजन्य शूलों को उत्पन्न करता है ॥(४)॥

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ॥(५)॥

तिक्तरस—(कफ का) छेदक, रोचक (स्वयं रुचिकर न होकर भी दूसरों में रुचि उत्पन्न करनेवाला), कण्डू कोठ-प्यास-मूर्च्छा-ज्वर को शान्त करनेवाला, दूध का शोधक, मल-मूत्र-आर्द्रता-मेद वसा-पूय को सुखानेवाला भी यह रस अकेला अधिक मात्रा में सेवन करने से—शरीर-मन्या (ग्रीवा की दो शिरायें) का स्तम्भ, आक्षेप, अर्दित, शिरःशूल, भ्रम, तोद, भेद, छेद (विचित्र प्रकार की पीड़ा), मुख की विरसता को उत्पन्न करता है ॥(५)॥

कषायः संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति, स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्यशोषोदराध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमुचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृती-ञ्जनयति ॥१०॥

कषायरस—संग्राही, व्रणरोपक, स्तम्भक, व्रणशोधक, लेखक, शोषक, पीड़क, क्लेद (आर्द्रता) को सुखानेवाला है। यही रस इन गुणों के होने पर भी अकेला अधिक मात्रा में सेवन करने पर—हृदय की पीड़ा, मुख की शुष्कता, उदर में आध्मान, वाक्यग्रह (वाणी की जड़ता), मन्यास्तम्भ गात्रों में स्फुरण, चुमचुमायन (राई के लेप की भाँति), आकुञ्चन, आक्षेप आदि उत्पन्न करता है। (वायु के विकार उत्पन्न करता है)॥१०॥

अतः सर्वेषामेव द्रव्यण्युपदेक्ष्यामः। तद्यथा—काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिषष्ठिकयवगोधूममाषशृङ्गाटककसेरुकत्रपुसैर्वारुकर्कारुकालाबूकालिन्दकतकगिलोड्यप्रियालपुष्करबीजकाश्मर्यमधूकद्राक्षाखर्जूरराजादनतालनालिकेरेक्षुविकारबलातिबलात्मगुप्ताविदारीपयस्यागोक्षुरक्षीरमोरटमधूलिकाकूष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः। दाडिमामलकमातुलुङ्गाम्रातककपित्थकरमर्दबदरकोलप्राचीनामलकतिन्तिडीककोशाम्रकभव्यपारावतवेत्रफलल‌कुचाम्लवेतसदन्तशठदधितक्रसुराशुक्तसौवीरकतुषोदकधान्याम्लप्रभृतीनि समासेनाम्लो वर्गः। सैन्धवसौवर्चलविडपाक्यरोमकसामुद्रकपक्त्रिमयवक्षारोषरप्रसूतसुवर्चिका-

प्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः। पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिग्रुमधुशिग्रुमूलकलशुनसुमुखशीतशिवकुष्ठदेवदारुहरेणुकावल्गुजफलचण्डागुग्गुलुमुस्तलाङ्गलकीशुकनासापीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः, आरग्वधादिर्गूडूच्यादिर्मण्डूकपर्णीवेत्रकरीरहरिद्राद्वयेन्द्रयववरुणस्वादुकण्टकसप्तपर्णबृहतीद्वयशङ्खिनीद्रवन्तीत्रिवृत्कृतवेधनकर्कोटककारवेल्लवार्ताकुकरीरकरवीरसुमनःशङ्खपुष्प्यपामार्गत्रायमाणाशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्चलापुनर्नवावृश्चिकालीज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तिक्तो वर्गः। न्यग्रोधादिरम्बष्ठादिः प्रियङ्ग्वादी रोध्रादिस्त्रिफलाशल्लकीजम्ब्वाम्रबकुलतिन्दुकफलानि कतकशाकफलपाषाणभेदकवनस्पतिफलानि सालसारादिश्च प्रायशः कुरुवककोविदारकजीवन्तीचिल्लीपालङ्क्यासुनिषण्णकप्रभृतीनि वरकादयो मुद्गादयश्च समासेन कषायो वर्गः ॥११॥

इसके आगे सम्पूर्ण रसों के द्रव्यों को कहते हैं। यथा—

मधुरवर्ग–काकोल्यादिगण, दूध, घी, वसा, मज्जा, शालि, शाठी, जौ, गेहूँ, सिंघाड़ा, कसेरु, खीरा, ककड़ी, कर्कारुक (खरबूजा), अलाबु (तुम्बी), कालिन्द (तरबूज), कतक (निर्मली का बीज), पियाल, पुष्करबीज (कमलगट्टा), काश्मरी (गम्भारी), मधूक (महुवा), मुनक्का, खजूर, राजादन (खिरनी), ताड़, नारियल, गन्ना और गन्ने के रस से बनी वस्तुयें, खरैटी, अतिबला, कौंच के बीज, बिदारीकन्द, पयस्या (विदारीभेद), गोखरू, क्षीरमोरट (तुरन्त प्रसूता गाय का सात दिन तक अशुद्ध दूध अर्थात् खीस अथवा इक्षुमूल), मधूलिका (मूर्वा), कूष्माण्ड (पेठा) आदि संक्षेप में मधुरवर्ग है।

अम्लवर्ग–अनार, आँवला, बिजौरा, आम्रातक (आमड़ा), कैथ, करौंदा, वृक्ष का बेर, झाड़ी का बेर, प्राचीन आमलक (सूखा आँवला), तिन्तिडीक (इमली), कोशाम्र (आम का भेद), भव्य (कमरख), पारावत (कामरूप में मधुर-अम्लरस फल), (वेत्रफल वेत का फल), लकुच (बड़हल), अम्लवेतस, दन्तशठ (निम्बु), दही, छाछ, सुरा, शुक्त, सौवीरक (काञ्जी), तुषोदक–धान्याम्ल आदि–संक्षेप में अम्लवर्ग है।

लवणवर्ग—सैन्धव, सौवर्चल, विड़, पाक्य (उद्भिद), रोमक (साम्भर), सामुद्रक (समुद्रजल से निष्पन्न) पक्त्रिम (पाक द्वारा बनाया), यवक्षार, ऊषरप्रसूत (ऊषरलवण), सुवर्चिका (सज्जीक्षार) आदि संक्षेप में लवणवर्ग है। (आदि शब्द से टङ्कणक्षार तथा अन्य क्षारों का ग्रहण होता है)।

कटुरस—पिप्पल्यादि, सुरसादिगण; सहजन, लालफूल का मीठा सहजन, मूली, लहसुन, सुमुख (तुलसीभेद), शीतशिव (कर्पूर), कूठ, देवदारु, हरेणुका (मेथी), अवल्गुजाबीज), (बावचीबीज) चण्डा (अजवायन के आकार का सुगन्धित द्रव्य या शङ्खपुष्पी का भेद), गुग्गुल, नागरमोथा, लांगली (कलिहारी), शुकनासा (श्योनाक), पीलु आदि, द्रव्य एवं सालसारादिगण (प्रायः करके) कटुवर्ग है।

तिक्तवर्ग—आरग्वध आदिगण, उडूची आदिगण, मण्डूकपर्णी, वेत्रकरीर (वेत्रांकुर), हल्दी, दारुहल्दी, इन्द्रजौ, वरुण (वरना), स्वादुकण्टक (विकङ्कत), सप्तपर्ण (सतवन) बृहतीद्वय (छोटी-बड़ी कटेरी), शङ्खिनी (यवतिक्ता का भेद) द्रवन्ती, त्रिवृत् (निशोथ), कृतवेधन (तुरई), कर्कोटक (ककोड़ा), कारवेल्ल (करेला), वार्ताक (बैंगन , करीर, करवीर (कनेर), सुमन (जाती चमेली), शङ्खपुष्पी, अपामार्ग, त्रायमाणा, अशोक, रोहिणी (कटुकी), वैजयन्ती, (तर्कारी), सुवर्चला (हुलहुल), पुनर्नवा, वृश्चिकालि (बिच्छूटी), ज्योतिष्मती (मालकङ्गनी) आदि द्रव्य संक्षेप में तिक्तवर्ग है।

कषायवर्ग—न्यग्रोधादि, अम्बष्ठादि, प्रियंग्वादि, रोध्रादि, त्रिफला, शल्लकी (गजभक्ष्या), जामुन, आम, मौलसरी, तिन्दुक—इन सब वृक्षों के फल, कतक (निर्मली), शाक (सहगुन), पाषाणभेद, वनस्पतियों के फल, सालसारादिगण, प्रायः कुरुवक (लालझिण्टी–कण्ठसेलायक), कोविदार (कचनार), जीवन्ती, चिल्ली (बथुवा), पालंक्या (पालक), सुनिषण्णक (सूष्णी) आदि, नीवारक आदि कुधान्य, मूङ्ग आदि वैदलिक (दालें)–संक्षेप में कषायवर्ग हैं ॥११॥

तत्रैतेषां रसानां संयोगास्त्रिषष्टिर्भवन्ति। तद्यथा—पञ्चदश द्विकाः, विंशतिस्त्रिकाः, पञ्चदश चतुष्काः, षट् प्रयोजनानि वक्ष्यामः ॥१२॥

इन छै रसों के परस्पर संयोग से तिरसठ (६३) भेद बन जाते हैं। यथा—दो रसों की प्रधानता से १५, तीन रसों से २०, चार रसों से १५, पाँच रसों से ६, छै रसों से एक, और एक-एक रस से छै रस। इन ६३ रसों का प्रयोजन अन्यत्र कहेंगे[१]। (उत्तरतन्त्र ६३ अध्याय में इस विषय का वर्णन दिया जायगा) ॥१२॥

भवति चात्र—

जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वश्यतां रसाः।
यथा प्रकुपिता दोषा वशं यान्ति बलीयसः ॥१३॥

कहा भी है—

मधुर आदि छः ही रस खा लेने पर बलवान् (छः में जो अधिक हो) रस के वस—अधीन (तदनुसार कार्य करनेवाले) हो जाते हैं, जैसे प्रकुपित दोष (बलवान्

---

१ दोषों के परस्पर संयोग से ६३ भेद होते हैं, रसों के ये ६३ भेद भी इन भेदों के अनुसार दोषों को शान्त करते हैं। स्वस्थ अवस्था में—मिलित छै रस ही स्वास्थ्यवर्धक—उपयोगी हैं। विस्तार के लिये तथा स्पष्टीकरण के लिये, चरक में रसों का प्रकरण "यज्ज:पुरुषीय अध्याय" में देखिये। चरक सूत्र अ० २६।

वातादि दोष) बलीयान् (अधिक बलवान् = अधिक कुपित) दोष के अधीन हो जाते हैं। तात्पर्य या सचाई यह है कि संसार का कोई भी द्रव्य-(प्राकृतिक पदार्थ हरीतकी आदि) एक रस-केवल एक रसवाला नहीं है और न ज्वर आदि रोग एक दोषज-केवल वात आदि किसी भी एक (अकेले) दोष से उत्पन्न होता है, यथा-'द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः, संसृष्टरसभूयिष्ठत्वात् द्रव्याणाम्' (च० वि० अ० ८ सू० १४२)। 'तत्र खलु अनेकरसेषु द्रव्येषु अनेकदोषात्मकेषु च। विकारेषु (रोगेषु)' (चरक वि० अ० १ सू० ६)। "तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसम्भवात्। नैकदोषास्ततो रोगाः तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः॥ अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चित्--अन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते" (अनुरसः)। (अ० हृ० सू० अ० ६) तथापि—द्रव्यों को मधुर अम्ल कहा ही जाता है और वातज्वर, पित्तातिसार, कफकास आदि नामकरण किये ही जाते हैं। यह सब इसलिये कि-रस प्रधान या व्यक्त रस के और दोष प्रधान या बलवान् दोष के अधीन हो जाते हैं। यों समझिये कि—यदि मधुर रस का अधिक सेवन होता है तो अन्य रस अपना गुण दोष नहीं उत्पन्न कर पाते। एवमेव अन्य रसों के विषय में भी समझ लें। अलमति विस्तरेण ॥१३॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीयो नाम द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥१॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे 'वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

वमनद्रव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति। अथ मदनपुष्पाणामातपपरिशुष्काणां चूर्णप्रकुञ्चं प्रत्यक्पुष्पीसदापुष्पीनिम्बकषायाणामन्यतमेनालोड्य मधुसैन्धवयुक्तां पुष्पचूर्णमात्रां पाययित्वा वामयेत् मदनशलाटुचूर्णान्येवं वा बकुलरम्यकोपयुक्तानि मधुलवणयुक्तान्यभिप्रतप्तानि, मदनशलाटुचूर्णसिद्धां वा तिलतण्डुलयवागूम्। निर्वृत्तानां वा नातिहरितपाण्डूनां कुशगूढावबद्धमृद्गोमयप्रलिप्तानां यवबु (तु) षमुद्गमाषशाल्यादिधान्यराशावष्टरात्रोषितक्लिन्नभिन्नानां फलानां फलपिप्पलीरुद्धृत्यातपे शोषयेत्, तासां दधिमधुपललविमृदितपरिशुष्काणां सुभाजनस्थानामन्तर्नखमुष्टिमुष्णे यष्टिमधुककषाये कोविदारादीनामन्यतमे वा कषाये प्रमृद्य रात्रिपर्युषितं मधुसैन्धवयुक्तमाशीर्भिरभिमन्त्रितमुदङ्मुखः प्राङ्मुखमातुरं पाययेदनेन मन्त्रेणाभिमन्त्र्य—

"ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानलानिलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥१॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥२॥"

विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तर्विद्रधिषु, अप्रवर्तमाने वा दोषे पिप्पलीवचागौरसर्षपकल्कोन्मिश्रैः सलवणैरुष्णाम्बुभिः पुनः पुनः प्रवर्त्तयेदासम्यग्वान्तलक्षणादिति। मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्क्वाथपरिभावितं मदनफलकषायेण, मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः सन्तानिकां क्षौद्रयुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्, अधोभागासृक्पित्तहृद्दाहयोः, मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसो दधिभावमुपगतस्य दध्युत्तरं दधि वा कफप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छातमकेषु मदनफलमज्जरसं स्नेहं वा भल्लातकस्नेहवदादाय फाणितीभूतं लेहयेत्, आतपपरिशुष्कं वा तमेव जीवन्तीकषायेण, पित्ते कफस्थानगते, मदनफलमज्जक्वाथं वा पिप्पल्यादिप्रतीवापं, तच्चूर्णं वा निम्बरूपिकाकषाययोरन्यतरेण संतर्पणकफजव्याधिहरं मदनफलमज्जचूर्णं वा मधूककाश्मर्यद्राक्षाकषायेण। मदनफलविधानमुक्तम् ॥३॥

मदनफल, कुटज, जीमूतक, इक्ष्वाकु आदि वमनद्रव्यों में मैनफल सब से श्रेष्ठ है। मैनफल के फूलों को धूप में सुखाकर इनका चूर्ण कर लेना चाहिये। इसके चूर्ण की उपयुक्त मात्रा को प्रत्यक्पुष्पी (अपामार्ग), या सदापुष्पी (आक), या नीम के कषाय में घोलकर तथा मधु और सैन्धव नमक मिलाकर (मैनफल के चूर्ण की उपयुक्त मात्रा) पिलाकर वमन कराना चाहिये। मैनफल के कच्चे फल के चूर्ण को भी इस प्रकार अथवा बकुल (मौलसरी), महानिम्ब (बकायन) के चारगुना कषाय में घोलकर, मधु और सैन्धव (चतुर्थांश) मिलाकर; गरम करके पिलाना चाहिये। मैनफल के कच्चे फल के चूर्ण में सिद्ध की हुई तिल एवं चावलों की यवागू (लप्सी) पिलानी चाहिये। और जो मैनफल के फल बिल्कुल पक गये हों, बहुत हरे या पीले न हों, उनको कुशा से बने सम्पुटों में—बन्द करके ऊपर से मिट्टी या गोबर का लेप कर देना चाहिये। इनको अब जौ, तुष, मूङ्ग, माष, शालि आदि धान्यों के ढेर के अन्दर आठ दिनों तक रखना चाहिये। जब फल नरम होकर फूट जायें, तब इनके बीजों को (फल-पिप्पली) निकालकर धूप में सुखाना चाहिये। इन बीजों को दधि, शहद, पलल (तिल का चूर्ण), इनके साथ मलकर सुखाना चाहिये। इनको एक उत्तम पात्र में रखना चाहिये। इनमें से एक मुट्ठी भर (नखों को अन्दर रखकर मुट्ठी में जितने आ जायें), चूर्ण को मुलहठी के उष्ण कषाय में अथवा कोविदारादि (संशोधनसंशमनीय ग्यारह कषायों में से)

किसी एक कषाय में मिलाकर (मथकर) रात भर भिगोकर—प्रातःकाल इसमें मधु तथा सैन्धवनमक मिलाकर आशीर्वाद-परक मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके वैद्य उत्तर दिशा में अपना मुख करके, रोगी का मुख पूर्व दिशा की ओर करके औषध पिलाये। अभिमन्त्रित करने का मन्त्र (मूल में है) का अर्थ यह है।

"ब्रह्मा-दक्ष-अश्विनी-रुद्र इन्द्र-पृथ्वी-चन्द्र-सूर्य-अग्नि एवं वायु, औषधिसमूह ऋषि-लोग, भूतसमूह तेरी रक्षा करें। जिस प्रकार ऋषियों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत, नागों के लिये जिस प्रकार सुधा है, उसी प्रकार वह औषध तेरे लिये हो।"

विशेष करके उपयुक्त योग कफज्वर, जुकाम और अन्तर्विद्रधि इनमें देने चाहिये[1]।

इन योगों से यदि दोष प्रवृत्त (बाहर) न हों, तब—पिप्पली, बच, श्वेत सरसों इनके कल्क को नमक-मिश्रित तुषोदक के साथ बार-बार पिलाना चाहिये। यह कार्य तबतक करते रहना चाहिये, जब तक वमन भली प्रकार से न हो, भली प्रकार से वमन होने के लक्षण स्पष्ट न हों, मैनफल की मज्जा के चूर्ण को मैनफल के क्वाथ से भावना देकर मैनफल के कषाय के साथ पिलाना चाहिये। मैनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध दूध की मलाई को शहद में मिलाकर देना चाहिये। मैनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध दूध देना चाहिये। मैनफल की मज्जा द्वारा सिद्ध दूध में बनी यवागू (लप्सी) को अधोगामी रक्त-पित्त में हृदय के दाह में देना चाहिये। मैनफल को मज्जा द्वारा सिद्ध दूध से दही जमाकर, दही की मलाई को अथवा दही को ही, कफस्राव, वमन, मूर्च्छा, तमक (श्वास) में पिलाना चाहिये। मैनफल की मज्जा के रस को अथवा स्नेह (तेल) को, भिलावे के तैल के समान निकालकर; पकाने से राब की भांति होने पर चटाना चाहिये। (भिलावे के तेल की विधि 'द्विव्रणीय' अध्याय में कही है) जब पित्त कफ के स्थान में पहुँचा हो तो मैनफल की मज्जा के चूर्ण को धूप में सुखाकर जीवन्तीकषाय के साथ पिलाना चाहिये। मैनफल की मज्जा के क्वाथ में पिप्पल्यादिगण की औषधियों का प्रक्षेप देकर मदनफलमज्जा के चूर्ण को नीम, रूपिका (आक), इनमें से किसी एक के कषाय के साथ संतर्पण एवं कफजन्य रोगों में देना चाहिये। अथवा मैनफल की मज्जा के चूर्ण को मुलहठी, गाम्भारी, द्राक्षा के कषाय के साथ देना चाहिये। मदनफल के ये इकतीस प्रयोग कह दिये हैं ॥३॥

जीमूतककुसुमचूर्णं पूर्ववदेव क्षीरेण, निर्वृत्तेषु क्षीरयवागूं, रोमशेषु सन्तानिकां, अरोमशेषु दध्युत्तरं हरितपाण्डुषु दधि, तत्कषायसंसृष्टां वा सुरां कफारोचककासश्वासपाण्डुरोगयक्ष्मसु. पर्यागतेषु मदनफलमज्जवदुपयोगः।

जीमूतक (देवदाली) के फूलों का चूर्ण पूर्व की भाँति (अपामार्ग आक के रस में भिगोकर) या दूध के साथ पिलाना चाहिये। निर्वृत्त (ज्ञात मात्र-छोटी अवस्था के) फलों को दूध की लप्सी के साथ, रोमश (कठिनावस्था) के फलों को दूध मलाई के साथ, अरोमश (बहुत बड़े उत्तम), फलों को दही की मलाई के साथ, हरे पीले फलों को दही के साथ, जीमूतक कषाय के साथ सुरा को मिलाकर, कफ, अरोचक, कास, श्वास, पाण्डुरोग, यक्ष्मा रोग में देना चाहिये[1]। हरे-पीले जीमूतक के फल न मिलने पर मदनफल की मज्जा के समान जीमूतकफल की मज्जा का उपयोग करना चाहिये ॥४॥

तद्वदेव कुटजफलाविधानम् ॥५॥

जीमूतक की भांति कूड़े के फलों का भी उपयोग करना चाहिये ॥५॥

कृतवेधनानामप्येष एव कल्पः ॥६॥

कुटजफल की भांति कृतवेधन (कड़वी तुरई) की भी यही विधि बरतनी चाहिये ॥६॥

इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववत्, एवं क्षीरेण, कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषूपयोगः ॥७॥

इक्ष्वाकु (कड़ुवी तुम्बी) के फूलों को दूध के साथ तथा मैनफल की भांति—(कुटज और कृतवेधन की भांति नहीं), कास, श्वास, छर्दि, कफ रोगों में बरतना चाहिये ॥७॥

धामार्गवस्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगः विशेषतस्तु गरगुल्मोदरकासश्वासश्लेष्मामयेषु वायौ च कफस्थानगते॥

धामार्गव (पीले फूल की कड़वी तोरी) का भी मदनफल की मज्जा के समान ही (पुष्प, शलाट, क्षीर, सुरा) उपयोग करना चाहिये। विशेषतया-गर, गुल्म, उदर, कास, श्वास, कफरोगों में अथवा कफ-स्थान में वायु के पहुँचने पर प्रयोग करना चाहिये॥

कृतवेधनफलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकषायपरिपीतानां बहुशश्चूर्णमुत्पलादिषु दत्तमाघ्रातं वामयति, तत्त्रनवबद्ध-

---

१ वमन में मधु का गरम वस्तुओं से निषेध नहीं। यथा—सर्वेषु तु मधु सैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात्। न चोष्णविरोधो मधुनः छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपक्वप्रत्यागमनात् दोषनिर्हरणाच्च ॥ चरक।

१ सुरा-विधान—जीमूत के क्वाथ में उड़द पकाना चाहिये, जीमूत के क्वाथ से ही धान्य-चावल का प्रक्षालन करना चाहिये। माष और धान्य-चावलों को कूटकर मिला देना चाहिये। इनको सुखाकर, दूसरे धान्य-चावलों को जीमूत-क्वाथ के साथ पीसकर, थोड़ा-सा गरम कर लेना चाहिये। इन सब के तीन भाग, किण्व भाग चौथा, सन्धान के लिये भार्ङ्गीक्वाथ-इन सब को एक पात्र में रखने से सुरा बन जाती है। यह पैष्टिक सुरा है, इसलिये इसमें न तो गुड़ पड़ता है और न मधु। कई वैद्य गुड़ डालते हैं।

दोषेषु यवागूमाकण्ठात्पीतवत्सु च विदध्यात्। वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं वा प्रधानतमानि भवन्ति॥

कृतवेधन (कड़ुवी तुरई) के बीजों को वमनद्रव्यों के कषाय से कई बार भावना देकर उत्पल (कुमुद, पुण्डरीक सौगन्धिक) आदि कमलों पर फैलाकर सूँघने से वमन होता है। यह क्रिया उस समय करनी चाहिये, जब कि दोष बहुत अधिक बढ़े हों, उस समय गले तक (पेट भरकर) यवागू पिलाकर वमन कराना चाहिये। वमन, विरेचन, शिरोविरेचन आदि द्रव्य इस प्रकार से (द्रव्य वमनादि कषायों से) भावना देने पर अधिक वीर्यशाली हो जाते हैं। यहाँ पर कषाय की जगह (स्वरस) द्वारा भावना देने से अधिक गुण होता है॥

भवतश्चात्र—

वमनद्रव्ययोगानां दिगियं संप्रकीर्तिता।
तान् विभज्य यथाव्याधि कालशक्तिविनिश्चयात् १०
कषायैः स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान्।
पेयलेह्याद्यभोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत्॥ ११॥

कहा भी है—

वमन, द्रव्यों के योगों का निर्देश मात्र यहाँ कर दिया है। समय एवं शक्ति का विचार करके वमनद्रव्यों का विभाग करके प्रयोग करना चाहिए। कषाय (श्रृत, शीत, फाण्ट) से स्वरस (यंत्रादि द्वारा पीड़ित स्वरस) से, कल्क (पत्थर पर पीसकर), चूर्णों से, पेय, लेह्य, पूरी आदि वस्तुयें बनाकर वमनार्थ खाने को देनी चाहिये॥ १०,११॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥॥ ४३॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यामः॥ १॥ यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥ २॥

इसके आगे 'विरेचन-द्रव्य-विकल्प-विज्ञानीय' नामक अध्याय की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था॥ १,२॥

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी॥ ३॥
तैलेष्वेरण्डजं तैलं स्वरसे कारवेल्लिका।
सुधापयः पयःसूक्तमिति प्राधान्यसंग्रहः।
तेषां विधानं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ४॥

मूलविरेचनों में लाल रंग की (थोड़ी लाल) निशोथ की जड़ श्रेष्ठ है। त्वचों में तिल्वक की छाल श्रेष्ठ है। फलविरेचनों में हरीतकी का फल श्रेष्ठ है। तेलों में एरण्डतैल श्रेष्ठ है। स्वरसों में कारवेल्ल (करेला) का स्वरस श्रेष्ठ है। दूधों में स्नुही का दुध उत्तम है, ये श्रेष्ठ द्रव्य हैं। इन निशोथ आदि द्रव्यों की विधि क्रमशः यथाविधि कहते हैं॥ ३,४॥

वैरेचनद्रव्यरसानुपीतं मूलं महत्त्रैवृतमस्तदोषम्।
चूर्णीकृतं सैन्धवनागराढ्यमम्लैः पिबेन्मारुतरोगजुष्टः॥

त्रिवृत को महान् एवं कृमि आदि दोष रहित चिकनी जड़ की त्रिवृत आदि विरेचन द्रव्यों के रस से भावना देकर, इसका चूर्ण करा लेना चाहिये। इस चूर्ण में चतुर्थांश सैन्धव नमक और सोंठ मिलाकर—अनारदाना या बिजौरे निम्बू आदि खट्टे द्रवों के साथ, वायुरोग से पीड़ित मनुष्य को (छै मासे) पिलाना चाहिये[1]॥ ५॥

इक्षोर्विकारैर्मधुरै रसैस्तत् पैत्ते गदे क्षीरयुतं पिबेच्च।
गुडूच्यरिष्टत्रिफलारसेन सव्योषमूत्रं कफजे पिबेत्तत्॥६॥

पैत्तिक रोग में—विरेचनार्थ—निसोत के चूर्ण को—खण्ड, गुड़ आदि के पानक (शर्बत) अथवा दाख, मुनक्का आदि के मीठे रसों अथवा दूध के साथ पीना चाहिये अर्थात् चूर्ण फाँककर ऊपर से उक्त द्रव पीना चाहिये। कफज रोग में—विरेचनार्थ-गिलोय, नीम अथवा त्रिफला के रस के साथ अथवा त्रिकटु चूर्ण मिश्रित गोमूत्र के साथ पीवे॥ ६॥

त्रिवर्णकत्र्यूषणयुक्तमेतद् गुडेन लिह्यादनघेन चूर्णम्।
प्रस्थे च तन्मूलरसस्य दत्वा तन्मूलकल्कं कुडवप्रमाणम्॥
कर्षोन्मिते सैन्धवनागरे च विपाच्य कल्कीकृतमेतदद्यात्।
तत्कल्कभागः समहौषधार्धः ससैन्धवो मूत्रयुतश्च पेयः ८

विरेचनार्थ—दालचीनी, बड़ी इलायची, तेजपत्ता, सोंठ, मरिच पीपल १–१ तोला, निसोत का चूर्ण ६ तो० सबको मिलाकर रख लो, मा० ४–८–१२–१६ आना भर, पुराना गुड़ चूर्ण से दुगुना मिलाकर चाट लेवे। अथवा चूर्ण से द्विगुण गुड़ की चासनी में उक्त चूर्ण मिला अवलेह बनाकर १ तोला खावे अथवा निसोत की जड़ (की छाल) का स्वरस १ प्रस्थ (६४ तो०), निसोत का कल्क १ कुड़व (१६ तो०) सैन्धव लवण तथा सोंठ १–१ तोला सब को एक साथ पकाकर कल्क जैसा हो जाने पर उचित मात्रा में खावे। अथवा—निसोत का कल्क १ भाग, सोंठ आधा भाग और लवण आधा भाग मिलाकर—गोमूत्र के साथ पीवे॥ ७,८॥

समास्त्रिवृन्नागरकाभयाः स्युर्भार्गार्धकं पूगफलं सुपक्वम्।
विडङ्गसारो मरिचं सदारुयोगः ससिन्धूद्भवमूत्रयुक्तः॥९॥

---

१ अस्तदोष का अर्थ—कविराज हाराणचन्द्र जी ने, 'कार्कश्यादि दोष रहित' किया है। महत् का अर्थ—गम्भीर किया है। जैसा कि चरक में पाठ है—'गम्भीरानुगतां श्लक्ष्णाम्'।

निशोथ, सोंठ, हरड़ ये तीनों परस्पर समान भाग, भली प्रकार पकी सुपारी का फल आधा भाग (निशोथ का), वायविडङ्ग के बीज; मरिच; देवदारु और सैन्धानमक; इनमें प्रत्येक द्रव्य सोंठ के बराबर मिलाकर गोमूत्र के साथ पीना चाहिये ॥

विरेचनद्रव्यभवं तु चूर्णं रसेन तेषां भिषजा विमृद्य ।
तन्मूलसिद्धेन च सर्पिषाऽऽक्तं सेव्यं तदाज्ये गुटिकीकृतं वा

विरेचन द्रव्यों के चूर्ण को (त्रिवृतादि के चूर्ण को), इन्हीं त्रिवृतादि विरेचनद्रव्यों के रस के साथ पीसकर, त्रिवृतमूल द्वारा सिद्ध घृत के साथ गोली बनाकर खाना चाहिये। बलवान् पुरुष में मात्रा एक कर्ष (१ तोला) है ॥ १० ॥

गुडे च पाकाभिमुखे निधाय
चूर्णीकृतं सम्यगिदं विपाच्य ।
शीतं त्रिजाताक्तमथो विमृद्य
योगानुरूपा गुटिकाः प्रयोज्याः ॥ ११ ॥

मोदकपाक की विधि से चूर्ण से दुगुने गुड़ का पाक करना चाहिये, जब गुड़पाक के करीब हो तब इसमें निशोथ का चूर्ण (गुड़ से आधा) मिलाना चाहिये। जब ठण्डा हो जाये तो सुगन्ध के लिये त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपत्ता) मिलाकर, गोलियाँ बना लेनी चाहिये। मात्रा—उचितमात्रा में देनी चाहिये ॥ ११ ॥

वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं
सिद्धं सार्धं क्वाथभागैश्चतुर्भिः ।
आमृद्नीयात् सर्पिषा तच्छृतेन
तत्क्वाथोष्मस्वेदितं सामितं च ॥ १२ ॥

पाकप्राप्ते फाणिते चूर्णितं तत्
क्षिप्तं पक्वं चावतार्यं प्रयत्नात् ।
शीतीभूता मोदका हृद्यगन्धाः
कार्यास्त्वेते भक्ष्यकल्पाः समासात् ॥१३॥

निसोत का चूर्ण १ भाग, निसोत का क्वाथ ४ भाग, दोनों को एक साथ पकाओ और निसोत के कल्क एवं क्वाथ के योग से सिद्ध घृत का मोइन डालकर गेहूँ के मैदा को मलो, फिर निसोत के क्वाथ में स्वेदित कर लो, फिर दोनों को राव (खण्ड) की परिपक्व चासनी में मिलाकर तत्काल अग्नि पर से उतार लो और शीतल होने पर उसमें सुगन्धि के लिये दालचीनी; इलायची तथा तेजपत्ता का चूर्ण थोड़ा सा मिलाकर मोदक बनालो। यह मोदक एक प्रकार की मिठाई (भक्ष्य) जैसे होते हैं-खाने में स्वाद। गेहूँ के मैदा का नाम "समिता" है और समिता से बना पदार्थ "सामित" कहलाता है उदाहरण—मैदा का हलुवा आदि पदार्थ "सामित" होता है ॥

रसेन तेषां परिभाव्य मुद्गान्
यूषः ससिन्धूद्भवसर्पिरिष्टः ।
वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-
देवं विदध्याद्वमनौषधैश्च ॥ १४ ॥

यूषविधि—मूँग को त्रिवृत आदि विरेचन द्रव्यों के रस की भावना देकर, इसमें घी और सैन्धानमक मिलाकर यूष तैय्यार करना चाहिये। इस प्रकार से मसूर आदि अन्य विदलों से भी यूष बनाना चाहिये। इसी प्रकार वमनादि औषधियों मे भी यूष तैय्यार करना चाहिये ॥ १४ ॥

भित्त्वा द्विधेक्षुं परिलिप्य कल्कैस्त्रि-
भण्डिजातैः प्रतिबध्य रज्ज्वा ।
पक्वं च सम्यक् पुटपाकयुक्त्या
खादेत्तु तं पित्तगदी सुशीतम् ॥ १५ ॥

एक गन्ने को बीच से चीरकर इसमें त्रिभण्डी (निशोथ) के कल्क को भरकर पुनः एक रस्सी से बाँध देना चाहिये। इसके ऊपर निशोथ आदि के पत्ते लपेटकर ऊपर से कीचड़ का लेप करके अङ्गारों में पुटपाक—विधि से पकाना चाहिये। जब कीचड़ पक जाये तब इसको निकालकर, ठण्डा होने पर, पित्तरोगी को खाने के लिये देना चाहिये ॥ १५ ॥

सिताजगन्धात्वक्क्षीरीविदारीत्रिवृतः समाः ।
लिह्यान्मधुघृताभ्यां तु तृड्दाहज्वरशान्तये ॥ १६ ॥

सिता (शर्करा), अजगन्धा (वनयवानी), त्वक्क्षीरी (वंशलोचन), विदारीकन्द, और निशोथ इनको समान मात्रा में मिलाकर, घी और शहद के साथ (असमान अनुपात से) चाटना चाहिये। इससे प्यास, दाह और ज्वर शान्त होता है ॥

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम् ।
रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचांशकम् ॥ १७ ॥
पचेल्लेहं सिताक्षौद्रपलार्धकुडवान्वितम् ।
त्रिवृच्चूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम् ॥ १८ ॥

त्रिवृत् के चूर्ण को शर्करा और शहद में त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपात), मरिच इनको चतुर्थांश मिलाकर चटाने से कोमल प्रकृतिवालों को विरेचन हो जाता है। शर्करा एक पल (चार तोले), मधु आधा कुडव (८ तोले) लेकर उसमें त्रिवृतचूर्ण चतुर्थांश (५ तोले) डालें, (शर्करा को पानी में मिलाकर चास बनाकर इसमें निशोथ का चूर्ण मिलाना चाहिये। पाकाभिमुख होने पर इसमें दालचीनी आदि आवश्यकतानुसार मिलाना चाहिये। शीतल होने पर शहद मिलाना चाहिये)। यह लेह विरेचक एवं पित्तनाशक है ॥ १७,१८ ॥

त्रिवृच्छ्यामाक्षारशुण्ठीपिप्पलीर्मधुनाऽऽनुयात् ।
सर्वश्लेष्मविकाराणां श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ १९ ॥

त्रिवृत (निशोथ), श्यामा (विधारा), क्षार (यवक्षार), सोंठ और पिप्पली, इनके चूर्ण को शहद से तर करके

चटाना चाहिये। सब प्रकार के कफरोगों में यह उत्तम विरेचन है ॥१९॥

बीजाढ्यपथ्याकाश्मर्यधात्रीदाडिमकोलजान्।
तैलभृष्टान् रसानम्लफलैराप्लाव्य साधयेत् ॥२०॥
घनीभूतं त्रिसौगन्ध्यत्रिवृत्क्षौद्रसमन्वितम्।
लेह्यमेतत्कफप्रायैः सुकुमारैर्विरेचनम् ॥२१॥

बीजाढ्यपथ्या (पकी बीजवाली हरड़), काश्मरी (गम्भारी), धात्री, (आँवला), दाड़िम (अनार) कोल (बेर) इनको एरण्ड-तैल में भूनकर. बिजौरे आदि खट्टे फलों के रस में इनको पकाना चाहिये। जब कफ हो जाये तब इनमें दालचीनी, इलायची, तेजपात सुगन्धि के लिये तथा निशोथ एवं शहद मिलाकर चाटना चाहिये। तैलमात्रा इतनी होनी चाहिये, जिसमें भुन जाये। क्वाथ के लिये जल हरड़ से सोलह गुणा, बिजौरे का रस क्वाथ से चतुर्थांश, त्रिवृत और शहद प्रत्येक लेह का चतुर्थांश। यह लेह कफबहुल सुकुमार रोगियों के लिये विरेचन है ॥२०,२१॥

नीलीतुल्यं त्वगेलं च तैस्त्रिवृत्ससितोपला।
चूर्णं संतर्पणं क्षौद्रफलाम्लं सन्निपातनुत् ॥२२॥

नीली (नील की जड़ की त्वचा) के समान मिलित दाल-चीनी और इलायची, इनके बराबर शर्करामिश्रित निशोथ का चूर्ण मिलाकर इसमें मधु और अनार का रस मिलाकर बनाया संतर्पण सन्निपातनाशक है। सन्निपात रोग अच्छा होने पर उपद्रव शान्ति के लिये देना उत्तम है ॥२२॥

त्रिवृच्छ्यामासिताकृष्णात्रिफलामाक्षिकैः समैः।
मोदकाः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहाः ॥२३॥

निशोथ, श्यामा (विधारा), सिता (मिश्री), कृष्णा (पिप्पली), त्रिफला और माक्षिक (मधु), इनको समान भाग लेकर लड्डू बना लेने चाहिये। ये विरेचन लड्डू—सन्निपात, ऊर्ध्वरक्तपित्त तथा ज्वरनाशक है ॥२३॥

त्रिवृद्भागास्त्रयः प्रोक्तास्त्रिफला तत्समा तथा।
क्षारकृष्णाविडङ्गानि संचूर्ण्य मधुसर्पिषा ॥२४॥
लिह्याद् गुडेन गुटिकाः कृत्वा वाऽप्यथ भक्षयेत्।
कफवातकृतान् गुल्मान् प्लीहोदरहलीमकान् ॥२५॥
हन्त्यन्यानपि चाप्येतन्निरपायं विरेचनम्।

निशोथ तीन भाग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) तीन भाग, क्षार (यवक्षार), कृष्णा (पिप्पली), विडङ्ग (वायविडङ्ग), इनका चूर्ण भी तीन भाग लेकर घी और शहद में मिलाकर अथवा गुड़ में गोली बाँधकर खाना चाहिये। इससे कफ एवं वायुजन्य गुल्मरोग, प्लीहा, उदर, हलीमक रोग नष्ट होते हैं। यह उपद्रवरहित विरेचन है ॥२४,२५॥

चूर्णं श्यामा त्रिवृन्नीली कट्वी मुस्ता दुरालभा ॥२६॥
चव्येन्द्रबीजं त्रिफला सर्पिर्मांसरसाम्बुभिः।
पीतं विरेचनं तद्धि रूक्षाणामपि शस्यते ॥२७॥

श्यामा (विधारा), त्रिवृत् (निशोथ), नील, कट्वी (कटुकी), मुस्ता (मोथा), दुरालभा (धमासा), चव्य (चविका), इन्द्रबीज (इन्द्रजौ), त्रिफला, घी, इनको मांसरस के साथ साथ देने से रूक्ष शरीरवाले पुरुष को भी विरेचन होता है। (स्निग्ध पुरुषों को त्रिफला तक औषधियों का चूर्ण पानी के साथ देना चाहिये) ॥

वैरेचनिकनिःक्वाथभागाः शीतास्त्रयो मताः।
द्वौ फाणितस्य तच्चापि पुनरग्नावधिश्रयेत् ॥२८॥
तत् साधुसिद्धं विज्ञाय शीतं कृत्वा निधापयेत्।
कलसे कृतसंस्कारे त्रिभज्यर्तू हिमाहिमौ ॥२९॥
मासादूर्ध्वं जातरसं मधुगन्धं वरासवम्।
पिबेदसावेव विधिः क्षारमूत्रासवेष्वपि ॥३०॥

वैरेचनिक (निशोथादि) के शीतल क्वाथ के तीन भाग, फाणित (राब) के दो भाग, इनको मिलाकर फिर आग पर रखना चाहिये। जिस समय भली प्रकार पक जाये (आधा रह जाये) तब शीतल करके, अन्दर से धुले एवं मधु-पिप्पली से लिप्त तथा अगुरु से धूपित मटके में डालकर, उष्ण ऋतु में एक पक्ष, शीत ऋतु में एक मास तक धान्यराशि में रख देना चाहिये। जब एक मास बीत जाये, रस निकल आये और मद्य की सी गन्ध आने लगे तब इस आसव को पीना चाहिये। क्षार, मूत्र आदि आसवों में भी यही विधि बरतनी चाहिये ॥

वैरेचनिकमूलानां क्वाथे माषान् सुभावितान्।
सुधौतांस्तत्कषायेण शालीनां चापि तण्डुलान् ॥३१॥
अवक्षुद्यैकतः पिण्डान् कृत्वा शुष्कान् सुचूर्णितान्।
शालितण्डुलचूर्णं च तत्काषायोष्मसाधितम् ॥३२॥
तस्य पिष्टस्य भागांस्त्रीन् किण्वभागविमिश्रितान्।
मण्डोदकार्थे क्वाथं च दद्यात्तत्सर्वमेकतः ॥३३॥
निदध्यात्कलसे तां तु सुरां जातरसां पिबेत्।
एष एव सुराकल्पो वमनेष्वपि कीर्तितः ॥३४॥

वैरेचनिक निशोथादि द्रव्यों के क्वाथ में उड़द (की दाल) को अच्छी प्रकार से[1] भावना देनी चाहिये। शालिधान्यों के चावलों को भी वैरेचनिक द्रव्यों के क्वाथ से भली प्रकार धोना चाहिये। इन दोनों को मिलाकर कूटना चाहिये। गीले होने से जब गोला–पिण्ड-सा बन जाये, तब इनको सुखाना चाहिये। वैरेचनिक द्रव्यों के कषाय की उष्णिमा से धान्य के चावलों को पृथक् पकाना चाहिये। उपर्युक्त चूर्ण के तीन भाग और किण्व का एक भाग, इनको मिलाकर, मण्ड पानी के लिये विरेचनद्रव्यों का क्वाथ मिलाना चाहिये। इनको एक पात्र में रख देना चाहिये। जब रस उत्पन्न हो जाय तब इस

१ "दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत् ॥"

सुरा को पीना चाहिये। यही सुराकल्पविधि वमन औषधियों में भी बरतनी चाहिये ॥३१-३४॥

मूलानि त्रिवृदादीनां प्रथमस्य गणस्य च।
महतः पञ्चमूलस्य मूर्वाशार्ङ्गेष्टयोरपि ॥३५॥
सुधां हैमवतीं चैव त्रिफलातिविषे वचाम्।
संहृत्यैतानि भागौ द्वौ कारयेदेकमेतयोः ॥३६॥
कुर्यान्निःक्वाथमेकस्मिन्नेकस्मिंश्चूर्णमेव तु।
क्षुण्णांस्तस्मिंस्तु निःक्वाथे भावयेद्बहुशो यवान् ॥३७॥
शुष्काणां मृदुभृष्टानां तेषां भागास्त्रयो मताः।
चतुर्थं भागमावाप्य चूर्णानामत्र कीर्तितम् ॥३८॥
प्रक्षिप्य कलशे सम्यक् ततस्तं तदनन्तरम्।
तेषामेव कषायेण शीतलेन सुयोजितम् ॥३९॥
पूर्ववत् सन्निदध्यात्तु ज्ञेयं सौवीरकं हि तत् ॥

त्रिवृत आदि संशोधनीयगण में कही औषधियाँ, प्रथमगण (विदारीगन्धादि), महापञ्चमूल, मूर्वा (चोरस्नायु), शार्ङ्गेष्टा (नाटाकरंज), सुधा (स्नुही का दूध), हैमवती (रक्तवच अथवा अन्य मत से उशारे रेवन्द), त्रिफला, अतीस, वच, इनको परस्पर समान भाग लेकर दो भाग करने चाहिये। एक भाग से क्वाथ सिद्ध करना चाहिये और दूसरे भाग का चूर्ण बनाना चाहिये। जौ को कूट करके इस क्वाथ से बार-बार भावना देनी चाहिये। इनको सुखाकर मधुर आँच पर धीमे २ भून लेना चाहिये। इन जौओं के तीन भाग लेने चाहिये। उपर्युक्त चूर्ण का चौथा भाग मिलाकर इस समस्त चूर्ण को एक पात्र में रखकर ऊपर से वैरेचनिक द्रव्यों का शीतल कषाय डालकर पूर्व की भाँति बन्द करके रख देना चाहिये। इस प्रकार से उत्तम हितकारी सौवीरक (काञ्जी) बन जाती है ॥३५-३९॥

पूर्वोक्तं वर्गमाहृत्य द्विधा कृत्वैकमेतयोः ॥४०॥
भागं संक्षुद्य संसृज्य यवैः स्थाल्यामधिश्रयेत्।
अजशृङ्ग्याः कषायेण तमभ्यासिच्य साधयेत् ॥४१॥
सुसिद्धांश्चावतार्यैतानौषधिभ्यो विवेचयेत्।
विमृद्य सतुषान् सम्यक् ततस्तान् पूर्ववन्मितान् ॥४२॥
पूर्वोक्तौषधभागस्य चूर्णं दत्त्वा तु पूर्ववत्।
तेनैव सह यूषेण कलशे पूर्ववत् क्षिपेत् ॥४३॥
ज्ञात्वा जातरसं चापि तत्तुषादकमादिशेत्।
तुषाम्बुसौवीरकयोर्विधिरेष प्रकीर्तितः ॥४४॥
षड्रात्रात् सप्तरात्राद्वा ते च पेये प्रकीर्तिते।

पूर्वोक्त (त्रिवृतादिमूल, विदारिगन्धादि) महापञ्चमूल (मूर्वा, शार्ङ्गेष्टा आदि) वर्ग के दो भाग करके इनमें से एक भाग को कूटना चाहिये। इसमें जौ मिलाकर थाली में रखना चाहिये। इनको अजशृङ्गी (काकड़ाशृङ्गी) के कषाय से आर्द्र करके पकाना चाहिये। और जब भली प्रकार से पक जावे तब इन तुषयुक्त जौ को औषधि से पृथक् कर लेना चाहिये। इन तुष युक्त जौ को भली प्रकार से पीसकर दो भाग परिमित लेना चाहिये। इसमें पूर्वोक्त औषधियों के चूर्ण का एक भाग पूर्व की भाँति (चतुर्थ भाग) मिलाना चाहिये। इस चूर्ण को तथा पूर्वोक्त अजशृङ्गी के यूष को पात्र में भरकर पूर्व की भाँति रख देना चाहिये। जब अम्लता उत्पन्न हो जाये, तब 'तुषोदक' बन गया, ऐसा समझना चाहिये। तुषाम्बु और सौवीरक की यह विधि कह दी है। छै या सात दिन में (अत्यन्त उष्णकाल में छै दिन के अन्दर) ये पीने के योग्य हो जाते हैं ॥४०-४४॥

वैरेचनेषु सर्वेषु त्रिवृन्मूलविधिः स्मृतः ॥४५॥

शेष अवशिष्ट श्यामा, दन्ती, द्रवन्ती, सप्तला आदि विरेचन द्रव्यों में त्रिवृतमूल के समान विधि का प्रयोग करना चाहिये ॥४५॥

दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि विशेषान्मृत्कुशान्तरे।
पिप्पलीक्षौद्रयुक्तानि स्विन्नान्युद्धृत्य शोषयेत् ॥४६॥
ततस्त्रिवृद्विधानेन योजयेच्छ्लेष्मपित्तयोः।

दन्ती और द्रवन्ती की जड़ों को मिट्टी एवं कुशा के अन्दर रखकर पुटपाक विधि से पकाना चाहिए। जब भली प्रकार से स्विन्न हो जायें तब पिप्पली और शहद में मिलाकर, त्रिवृत की विधि से कफ-पित्त रोगियों में प्रयोग करना चाहिये ॥४६॥

तयोः कल्ककषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत् ॥४७॥
सर्पिश्च पक्वं वीसर्पकक्षादाहालजीर्जयेत्।
मेहगुल्मानिलश्लेष्मविबन्धांस्तैलमेव च ॥४८॥
चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसंरोधजा रुजः।

दन्ती और द्रवन्ती के कल्क एवं कषाय से चक्र तैल (तिल-तैल-कोल्हू में पिरा हुआ) सिद्ध करना चाहिये। तैल ३२ पल-दन्ती द्रवन्ती कल्क ८ पल, दन्ती द्रवन्ती क्वाथ १२८ पल लेना चाहिये। इसी प्रकार दन्ती-द्रवन्ती के मूल के कल्क एवं कषाय से सिद्ध घृत, वीसर्प, कक्षा-दाह, अलजी को जीतता है। तथा इसी प्रकार सिद्ध तैल, प्रमेह, गुल्म, वायु, कफ, विबन्ध को नष्ट करता है। इनसे सिद्ध चतुःस्नेह (वसा, घी, तैल, मज्जा), मल, शुक्र, वायु के अवरोधजन्य उदावर्त्त की पीड़ा को नष्ट करता है[1] ॥४७,४८॥

दन्तीद्रवन्तीमरिचकनकाह्वयवासकैः ॥४९॥
विश्वभेषजमृद्वीकाचित्रकैर्मूत्रभावितम्।
सप्ताहं सर्पिषा चूर्णं योऽयमेतद्विरेचनम् ॥५०॥
जीर्णे संतर्पणं क्षौद्रं पित्तश्लेष्मरुजापहम्।
अजीर्णपार्श्वरुक्पाण्डुप्लीहोदरनिबर्हणम् ॥५१॥

दन्ती, द्रवन्ती, मरिच, कनकाह्वा (नागकेसर[2]) यवास (दुरालभा), विश्वभेषज (सोंठ), मृद्वीका (किसमिस)

१ वृद्ध वैद्य—दशमूल क्वाथ भी मिलाते हैं।
२ कनकाह्व का अर्थ कंकुष्ठ (सत्यानाशी) भी करते हैं। आजकल वैद्य समाज में कंकुष्ठ अभी अनिश्चित द्रव्य है।

चित्रक—इनको सप्ताह तक मूत्रों द्वारा भावना देकर चूर्ण करना चाहिये। इस चूर्ण को घी के साथ मिलाकर चाटने से विरेचन होता है। इसके जीर्ण होने पर लाजा-सक्तुमिश्रित शहद सन्तर्पण के लिये देना चाहिये। इससे पित्त-कफ-जन्य-रोग, अजीर्ण, पार्श्वशूल, पाण्डु, प्लीहा और उदररोग नष्ट हो जाते हैं ॥४६-५१॥

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्युः पलं पलम्।
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥५२॥
कृत्वैतन्मोदकानेकं दशमे दशमेऽहनि।
ततः खादेदुष्णतोयसेवी निर्यन्त्रणास्त्विमे ॥५३॥
दोषघ्ना ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठनाशनाः।

गुड़ आठ पल, पथ्या (हरड़) बीस पल, दन्तीमूलचूर्ण एक पल, चित्रकमूलचूर्ण एक पल, पिप्पली एक कर्ष, त्रिवृत एक कर्ष, इनको परस्पर मिलाकर इनसे दस मोदक (लड्डू) बनाने चाहिये। एक एक लड्डू को दसवें दिन खाना चाहिये। लड्डू खाकर गरम पानी पीना चाहिये, तथा वायु, धूप आदि के नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। ये मोदक दोषनाशक, ग्रहणी, पाण्डुरोग, अर्श एवं कुष्ठ नाशक हैं ॥५२,५३॥

व्योषं त्रिजातकं मुस्ता विडङ्गामलके तथा ॥५४॥
नवैतानि समांशानि त्रिवृदष्टगुणानि वै।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतानीह दन्तीभागद्वयं तथा ॥५५॥
(सर्वाणि चूर्णितानीह गालितानि विमिश्रयेत् ॥)
षड्भिश्च शर्कराभागैरीषत्सैन्धवमाक्षिकैः ॥५६॥
पिण्डितं भक्षयित्वा तु ततः शीताम्बु पाययेत्।
बस्तिरुक्तृड्ज्वरच्छर्दिशोषपाण्डुभ्रमापहम् ॥५७॥
निर्यन्त्रणमिदं सर्वविषघ्नं तु विरेचनम्।
त्रिवृदष्टकसंज्ञोऽयं प्रशस्तः पित्तरोगिणाम् ॥५८॥
भक्ष्यः क्षीरानुपानो वा पित्तश्लेष्मातुरैर्नरैः।
भक्ष्यरूपसधर्मत्वादाढ्येष्वेव विधीयते ॥५९॥

व्योष (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात); नागरमोथा, वायविडङ्ग और आँवला एक एक भाग और त्रिवृत आठ भाग, इनको बारीक चूर्ण करके कपड़े में छान लेना चाहिये। इनको मिलाकर इसमें शक्कर छै भाग और सैन्धव तथा शहद थोड़ा मिलाकर लड्डू बना लेने चाहिये। इनमें से एक लड्डू को खाकर ऊपर से शीतल जल पीना चाहिये। इससे बस्तिशूल, प्यास, ज्वर, वमन, शोष, पाण्डु, भ्रम (चक्कर आना) रोग नष्ट होता है। वायु, धूप से बचने की आवश्यकता नहीं है। विषनाशक विरेचन है। इस विरेचन को 'त्रिवृदष्टक' कहते हैं, यह पित्तरोगियों के लिये उत्तम है। पित्त-कफ रोगियों को चाहिये कि इसको खाकर ऊपर से दूध पीयें। भक्ष्य रूप होने के कारण धनी पुरुषों के लिये भी उत्तम है। (इसके अपूप आदि भी बना सकते हैं) ॥

तिल्वकस्य त्वचं बाह्यमन्तर्वल्कविवर्जिताम्।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कषायेण गालयेत् ॥६०॥
तृतीयं भावितं तेन भागं शुष्कं तु भावितम्।
दशमूलीकषायेण त्रिवृद्वत्संप्रयोजयेत् ॥६१॥

तिल्वक (लोध्र की जड़) के अन्दर की त्वचा को छोड़कर, बाहर की त्वचा को लेकर इसका चूर्ण करना चाहिये। इस चूर्ण के दो भागों को तिल्वक के कषाय से पकाना चाहिये, इक्कीस बार छानना चाहिये। चूर्ण के तीसरे भाग को इस क्वाथ से भावना देकर चूर्ण बनावें। इसका दशमूल के कषाय से त्रिवृत् के समान प्रयोग करना चाहिये ॥६०,६१॥

विधानं त्वक्षु निर्दिष्टं फलानामथ वक्ष्यते।
हरीतक्याः फलं त्वस्थिविमुक्तं दोषवर्जितम् ॥६२॥
योऽयं त्रिवृद्विधानेन सर्वव्याधिनिबर्हणम्।
रसायनं परं मेध्यं दुष्टान्तर्व्रणशोधनम् ॥६३॥

त्वचाओं की विधि को कहकर अब फलों की विधि को कहते हैं। अस्थि (गुठली) से रहित, दोषरहित हरड़ के फल को लेकर त्रिवृत की विधि से प्रयोग करना चाहिये। यह सब रोग-नाशक, रसायन, अतिशय-मेधा-वर्धक, दुष्ट तथा अन्तर्व्रण-शोधक है ॥६२,६३॥

हरीतकी विडङ्गानि सैन्धवं नागरं त्रिवृत्।
मरिचानि च तत्सर्वं गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६४॥
हरीतकी भद्रदारु कुष्ठं पूगफलं तथा।
सैन्धवं शृङ्गवेरं च गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६६॥
नीलिनीफलचूर्णं तु नागराभययोस्तथा।
लिह्याद् गुडेन सलिलं पश्चादुष्णं पिबेन्नरः ॥६५॥
पिप्पल्यादिकषायेण पिबेत्पिष्टां हरीतकीम्।
सैन्धवोपहितां सद्य एष योगो विरेचयेत् ॥६७॥
हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥६८॥
वातानुलोमनी वृष्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी।
संतर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥६९॥

हरड़, विडङ्ग, सैन्धव, सोंठ, निशोथ, मरिच, इनको गोमूत्र के साथ लेने से विरेचन होता है। हरड़, देवदारु, कूठ, पूगफल (सुपारी), सैन्धव और सोंठ यह गोमूत्र के साथ लेने से विरेचन हैं।

नीलीफल के चूर्ण को सोंठ तथा हरड़ के चूर्ण को गुड़ के साथ मिलाकर खाना चाहिये। ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये। हरड़ को पिप्पल्यादिगण के कषाय के साथ पीसकर तथा सैन्धानमक मिलाकर खाने से शीघ्र विरेचन होता है। सोंठ या गुड़ के साथ हरड़ को खाने से, या सैन्धव के साथ निरन्तर खानेसे अग्नि बढ़ती है, हरड़, वायु की अनुलोमक, वृष्य (शुक्रवर्धक) इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाली, तथा सन्तर्पणजन्य रोगों को नष्ट करती है ॥६४—६९॥

शीतमामलकं रूक्षं पित्तमेदःकफापहम् ।
बिभीतकमनुष्णं तु कफपित्तनिबर्हणम् ॥७०॥
त्रीण्यप्यम्लकषायाणि सतिक्तमधुराणि च ।

आँवला—शीतवीर्य, रूक्ष है, पित्त-मेद और कफ का नाशक है। बिभीतक (बहेड़ा) न तो उष्ण है न शीत तथा कफ-पित्तनाशक है । तीनों ही (हरड़, बहेड़ा और आँवला) अम्ल, कषाय, तिक्त तथा मधुररस युक्त है (इनमें कटु तथा लवणरस नहीं है) ॥७०॥

त्रिफला सर्वरोगघ्नी त्रिभागघृतमूर्च्छिता ॥७१॥
वयसः स्थापनं चापि कुर्यात् संततसेविता ।

तीसरे भाग युक्त घी में मूर्च्छित (भूनी) त्रिफला—सम्पूर्ण रोग (दोष) नाशक, आयुस्थापक होती है। इसके निरन्तर सेवन से बुढ़ापा शीघ्र नहीं आता ॥७१॥

हरीतकीविधानेन फलान्येवं प्रयोजयेत् ॥७२॥
विरेचनानि सर्वाणि—

आँवला आदि सब विरेचक फलों को हरड़ के समान प्रयोग करना चाहिये ॥७२॥

विशेषाच्चतुरङ्गुलात् ।
फलं काले समुद्धृत्य सिकतायां निधापयेत् ॥७३॥
सप्ताहमातपे शुष्कमतो मज्जानमुद्धरेत् ।
तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद्वा प्रपीड्य च ॥७४॥
तस्योपयोगो बालानां यावद्वर्षाणि द्वादश ।
लिह्यादेरण्डतैलेन कुष्ठत्रिकटुकान्वितम् ॥७५॥
सुखोदकं चानुपिबेदेष योगो विरेचयेत् ।

खासकर चतुरंगुल (अमलतास) के फल को पकने के समय में तोड़कर रेत में गाड़ देना चाहिये। सात दिन के पीछे इसको धूप में सुखाकर इसकी मज्जा (गूदे) को निकाल लेना चाहिये। इस मज्जा को जल में पकाकर अथवा तिलों के समान कोल्हू में पीसकर तेल निकालना चाहिये। इस तैल का उपयोग बारह साल की आयु तक के शिशुओं में करना चाहिये। इस तेल को एरण्डतैल कूठ तथा त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पल) के साथ मिलाकर चाटना चाहिये। ऊपर से गरम पानी पीना चाहिये, इससे विरेचन होता है।

वि० मन्तव्य—अमलतास की मज्जा (गूदा) का ही प्रयोग किया जाता है तैल का नहीं और तैल निकाला भी नहीं जाता उसमें तैल होता भी नहीं। उसके बीजों की गिरी का तैल हो सकता है, परन्तु—चरक कल्पस्थान अ० ८ में कहा है कि—'ततो मज्जानम् उद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत्' अर्थात् अमलतास की फली से मज्जा निकालकर स्वच्छ भाण्ड में धर देवे। और वहाँ सब प्रयोग मज्जा के ही लिखे हैं, तैल की चर्चा भी नहीं की गई है। सम्भव है कि उक्त "तैलं ग्राह्यं जले पक्त्वा तिलवद् वा प्रपीड्य च" पाठ के अनुसार अमलतास के बीजों का तैल भी विरेचनार्थ निकालकर प्रयोग में लाया जाता रहा हो ॥७३-७५॥

एरण्डतैलं त्रिफलाक्काथेन त्रिगुणेन तु ॥७६॥
युक्तं पीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत् ।
बालवृद्धक्षतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥

एरण्ड तैल को तिगुने त्रिफला क्वाथ, अथवा दूध अथवा मांसरस के साथ (अथवा उनमें मिलाकर) पीने से विरेचन हो जाता है। इसका प्रयोग बाल, वृद्ध, क्षत (उरःक्षत) तथा क्षीण (क्षय पीडित) और सुकुमार के लिये उत्तम है। एरण्ड तैल की मात्रा १से४ तोला है ॥७६,७७॥

फलानां विधिरुद्दिष्टः क्षीराणां शृणु सुश्रुत ।
विरेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम् ॥७८॥
अज्ञप्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्मविभ्रमात् ।
विजानता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयम् ॥७९॥
भिनत्त्याश्वेव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ।

हे सुश्रुत ! फलों की विधि कह दी है, अब दूध की विधि को सुनो। तीक्ष्ण विरेचनों में स्नुही का दूध सबसे उत्तम विरेचन है। यदि इसी विरेचन को मूढ़ मनुष्य कर्म को न जानकर प्रयोग करते हैं, तो यह विष के समान रोगी को मार देता है। जाननेवाले मनुष्य से प्रयुक्त होने पर, बड़े भारी दोष संचय को तथा कठिन रोगों को भी शीघ्र ही नष्ट कर देता है॥

महत्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्योश्चैकशः पृथक् ॥८०॥
कषायैः समभागं तु तदङ्गारेषु शोषितम् ।
अम्लादिभिः पूर्ववत्तु प्रयोज्यं कोलसंमितम् ॥८१॥

बृहत् पञ्चमूल, लघु बृहती (छोटी कटेरी) और बड़ी कटेरी इनके पृथक् पृथक् कषाय को समान भाग लेना चाहिये। इनके एक भाग के समान स्नुही के दूध को लेकर अङ्गारों पर शुष्क कर लेना चाहिये। इसमें से कोल (आधा कर्ष) परिमित, अम्लादि (दाड़िम, आँवला या काञ्जी, सुरा आदि) के साथ दोष विशेषानुसार पीना चाहिये।

वि० मन्तव्य—सेहुण्ड दूध की आधा तोला मात्रा बहुत अधिक है, सूखे दूध की मात्रा—२-४ रत्ती है और आर्द्र की ८-१० बून्द, इसके ऊपर घृत का हलुवा खाना चाहिये। अ० ४५—॥८०,८१॥

महावृक्षपयःपीतैर्यवागूस्तण्डुलैः कृताः ।
पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥८२॥
लेहो वा साधितः सम्यक् स्नुहीक्षीरपयोघृतैः ।
भावितास्तु स्नुहीक्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः ॥८३॥
चूर्ण काम्पिल्लकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीकृतम् ।

महावृक्ष (स्नुही) के दूध से भावित, तण्डुलों से बनाई लप्सी अथवा गुड़ के साथ बनाई उत्कारिका शीघ्र विरेचन करती है। अथवा—स्नुही के दूध, दूध सिता एवं घी से सिद्ध लेह विरेचक है। पिप्पली को लवण (सैन्धव) से मिलाकर स्नुही के दूध में भावना देकर खाने से

अथवा काम्पिल्ल (कमीले) को स्नुही के दूध में मिलाकर गोली बनाकर खाने से विरेचन होता है ॥ ८२,८३ ॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती त्रिवृदारग्वधं गवाम् ॥८४॥
मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं स्नुहीक्षीरे ततः परम् ।
कीर्णं तेनैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ॥८५॥
आघ्रायावृत्य वा सम्यङ्मृदुकोष्ठो विरिच्यते ।

सप्तला, शंखिनी (यवतिक्ता), दन्ती, निशोथ, आरग्वध (अमलतास), इनको गाय के मूत्र में सात दिन तक भिगोकर, पीछे स्नुही के दूध से भावित करना चाहिये। इस चूर्ण को माला, वस्त्र आदि पर छिड़ककर सूँघने या धारण करने से मृदु कोष्ठवाले व्यक्ति को शीघ्र विरेचन होता है ॥ ८४,८५ ॥

क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्तितैः ।
अवेक्ष्य सम्यग्रोगादीन यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥
त्रिवृच्छाणमितास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः ।
विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥८७॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन वा ।
भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥८८॥
गुल्मं प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति ॥ ८९ ॥

क्षीर, त्वचा, फल और मूल इनके वर्णित प्रयोगों को रोग आदि के अनुसार उचित विधि में व्यवहार करना चाहिये। निशोथ तीन शाण (नौ मासे), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आँवले) की त्वचा तीन शाण, वायविडङ्ग, पिप्पली, क्षार (यवक्षार) एक एक शाण, इन सबके चूर्ण को घी और शहद के साथ मिलाकर चाटने से या गुड़ के साथ लड्डू बनाकर खाने से विरेचन होता है। यह उत्तम अव्यर्थ विरेचन है। इसमें परिहार की आवश्यकता नहीं है। गुल्म, प्लीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि, कफ वातजन्य रोगों को नष्ट करता है ॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि
मद्येषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।
भक्ष्यान्नलेह्येषु च तेषु तेषु
विरेचनान्यग्रमतिर्विदध्यात् ॥९०॥

अग्रमति (अतिप्रधान बुद्धि) वैद्य को चाहिये कि—घी, तैल, दूध, मद्य, मूत्र, रस (मांसरस), भक्ष्य (मोदकादि), अन्न (चावल आदि) तथा भिन्न-भिन्न चाटनों के रूप में विरेचन देवे ॥

क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः
शृतश्च शीतश्च तथैव चूर्णम् ।
कल्पाः षडेते खलु भेषजानां
यथोत्तरं ते लघवः प्रतिष्ठाः ॥९१॥

औषधियों की कल्पनाविधि छै प्रकार की है। यथा—क्षीर, स्वरस, कल्क, शृत-कषाय, शीत कषाय, और चूर्ण, इनमें उत्तरोत्तर लघु है। यथा—क्षीर से रस, रस से कल्क, कल्क से कषाय आदि[1] (चूर्ण के स्थान पर फाण्ट भी पाठ है) ॥९१॥

इति श्रीसुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो नाम चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः

अथातो द्रवद्रव्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥२॥

इसके आगे द्रवद्रव्यविधि की व्याख्या करते हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के लिये कहा था ॥१,२॥

पानीयमान्तरीक्षमनिर्देश्यरसममृतं सौम्यंतर्पणं धारणसमाश्वासजननंश्रमक्लमपिपासामदमूर्च्छातन्द्रानिद्रादाहप्रशमनमेकान्ततः पथ्यतमं च ॥३॥

अन्तरिक्ष का जल—(वहाँ उत्पन्न नहीं होता, अपितु बाष्प से बन जाता है) अनिर्देश्य रस (अव्यक्त रस-अत्यल्प रस होने के कारण अप्रकटित रसवाला है, यह बात नहीं कि जल में रस नहीं)। अमृत (अमृत के समान है, चूंकि दोषों का प्रकोप नहीं करता, इसलिये पानी का कहीं भी निषेध नहीं है)। जीवन (प्राण धारण करनेवाला), सौम्य (धातुओं की ओज वृद्धि करनेवाला है), तर्पण (तृप्तिकारक), धारण (शस्त्रजन्य व्यथा के कारण या अन्य कारणों से शरीर में मूर्च्छा उत्पन्न होने पर धारण करता है), आश्वासजनक (मार्ग चलने से थक जाने पर प्राणों को सहारा देता है)। श्रम (थकान), क्लम (मानसिक श्रान्ति), प्यास, मद, मूर्च्छा, तन्द्रा, निद्रा, दाह को शान्त करता है, अत्यन्त पथ्य है, इसलिये रुग्ण एवं स्वस्थ दोनों के लिये हितकारी है।

वि० मन्तव्य—आन्तरीक्ष = द्यौ एवं पृथिवी के मध्य का अवकाश है अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष में वर्त्तमान जल का नाम है आन्तरीक्ष जल और यह जल पानीय (पीने योग्य—हित) है। इस जल को सब प्राणी सर्वदा पीते रहते हैं और इसमें किसी भी मधुर आदि रस का निर्देश नहीं किया जा सकता। यह

---

१ इनके लक्षण—

"यन्त्रादिपीडितद्रव्यरसः स्वरस उच्यते ।
यः पिण्डश्चार्द्रपिष्टानां स कल्कः परिकीर्त्तितः ॥
वह्नौ तु क्वथितं द्रव्यं शृतमाहुश्चिकित्सकाः ।
उपोषितं निशायां तु तोयस्थं शीतमुच्यते ॥
चूर्णमुष्णेन संपृक्तं तत् फाण्टमभिधीयते ।
अभिभूयाम्बुनोष्णेन क्षणात् पूतमितीतरे ॥"

चरक ने कल्क के अन्दर चूर्ण का अन्तर्भाव किया है। इस पाँचवी कल्पना से फाण्ट अभिप्रेत है।

वह उदक है जो प्रत्येक श्वास में पिया जाता है। अतः यह अमृत है, जिसके पान से प्राणी मृत (मुर्दा) नहीं होता। यह आकाश में सर्वदा व्याप्त रहता है, अतः इसका नाम वेद में अप् है और इसी को पीने की प्रार्थना की जाती है "आपो भवन्तु पीतये" हमारे पीतये पीने के लिये, आप् हों—वर्त्तमान विद्यमान रहें। विश्वास कीजिये यह कटोरा में भरकर पीने का जल नहीं है। यह शीतकाल में अधिक तथा उष्णकाल में स्वल्प हो जाता है। इस प्रकरण में अन्तरिक्ष से गिरनेवाला जल सभी "आन्तरिक्ष" माना है, यथा वर्षा, ओले, बर्फ आदि। इसका संग्रह करने आदि का विधान सू० ७ में देखिये। चरक (सू० अ० २६) में उक्त आप् को सौम्य माना है, क्योंकि भाप शीत पाकर ही जल का रूप धारण करती है, फिर वह चाहे वर्षा आदि किसी रूप में परिणत हो जाती है ॥३॥

तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानविशेषान्नदीनदसरस्तडागवापीकूपचुण्टीप्रस्रवणोद्भिदविकिरकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥४॥

यही अन्तरिक्ष का जल भूमि पर गिरकर स्थान विशेष के कारण मधुर आदि किसी एक रस को प्राप्त कर लेता है। स्थान-विशेष-नदी (गंगादि), नद (सिन्धु, शोण आदि), सर (सरोवर), तड़ाग (तालाब), वापी (बावली), कूप (कुंवा), चुण्टी (बिना चिना कुंवा), प्रस्रवण (झरना), उद्भिद (भूमि में से पानी का निकलना), विकिर (रेत को हटाकर निकाला पानी, फल्गु नदी आदि), केदार (आलवाल द्वारा बांधा खेत), पल्वल (छोटा सर) आदि शब्द से ह्रद आदि स्थानों में स्थित रहता है।

वि० मन्तव्य—पृथ्वी पर से बाष्प बनकर जल आकाश में जाता है, वह वर्षा आदि के रूप में पुनः पृथ्वी पर गिरता है और वहाँ शोषित या चूषित होकर पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाता है, वही कूप आदि में उपलब्ध होता है ॥४॥

तत्र, 'लोहितकपिलपाण्डुनीलपीतशुक्लेष्ववनिप्रदेशेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाणि यथासङ्ख्यमुदकानि संभवन्ति' इत्येके भाषन्ते ॥५॥

कई आचार्यों का कहना है कि—लोहित (लाल), कपिल, पाण्डु, नीला, शुक्ल भूमिप्रदेशों में-क्रमशः मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय रसवाले जल होते हैं ॥५॥

तत्तु न सम्यक्, पृथिव्यादीनामन्योन्यानुप्रवेशकृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण। तत्र, स्वलक्षणभूयिष्ठायां भूमावम्लं, लवणं च, अम्बुगुणभूयिष्ठायां मधुरं, तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं च, वायुगुणभूयिष्ठायां कषायम्, आकाशगुणभूयिष्ठायामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः, तत् प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरीक्षालाभे ॥६॥

यह कहना ठीक नहीं—पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के परस्पर प्रविष्ट होने से सलिलरस उत्कर्ष (वृद्धि) एवं अपकर्ष (ह्रास) के कारण छै गुणोंवाला (रसोंवाला) हो जाता है। इनमें पृथ्वीगुणबहुल भूमि में अम्ल एवं लवण रस, जलगुणबहुल भूमि में मधुर, तेजोगुणबहुल भूमि में कषाय रस, आकाशगुणबहुल भूमि में अव्यक्त रस होता है, क्योंकि आकाश-अव्यक्त है। आकाशगुणबहुल भूमि में गिरा हुआ जल, अन्य स्थानों की भूमि की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अव्यक्त रस है। अन्तरिक्ष के जल न मिलने पर आकाशगुणबहुल भूमि का जल पीना चाहिये[1] ॥६॥

तत्रान्तरीक्षं चतुर्विधम्। तद्यथा—धारं कारं तौषारं हैममिति। तेषां धारं प्रधानं लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं-गाङ्गं, सामुद्रं चेति। तत्र गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति। तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाल्योदनपिण्डमकुथितविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्यवगन्तव्यं, वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्लेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम्। सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद् भवति। गाङ्गं पुनः प्रधानं,तदुपाददीताश्वयुजे मासि। शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युतमथवा हर्म्यतलपरिभ्रष्टमन्यैर्वाशुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्णे राजते मृण्मये वा पात्रे निदध्यात्। तत् सर्वकालमुपयुञ्जीत, तस्यालाभे भौमम्। तच्चाकाशगुणबहुलम्। तत् पुनः सप्तविधम्। तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्रवणम्, औद्भिदं, चौण्ट्यमिति ॥७॥

यह आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का है। यथा—धार (धारा वर्षा के रूप में गिरा हुआ)—कार, वर्षा में गिरे ओले, तुषार (ओस का पानी), हैम (हिम का पानी), इन चारों प्रकार के पानी में धार-पानी प्रधान है, लघु होने से। यह धार जल फिर दो प्रकार का है—एक गांग और दूसरा सामुद्र। इनमें गांग जल प्रायः आश्विन मास में बरसता है। इन दोनों प्रकार के पानी की परीक्षा करनी चाहिये। जिस समय बादल बरस रहा हो, उस समय पकाये चावलों के न गले हुए अविवर्ण एक पिण्ड को चांदी के पात्र में रखना चाहिये। इस प्रकार कुछ देर तक (४, ५ घण्टे तक) रखने पर भी यदि पिण्ड

१ अन्य आचार्य दो भूतों के संसर्ग से रसोत्पत्ति मानते हैं—पृथ्वी जलगुणभूयिष्ठ-भूमि में मधुर, भूमिअनिलगुण भूयिष्ठ में अम्ल, जल अग्निगुणभूयिष्ठ में लवण, वायु-अग्निगुणभूयिष्ठ में कटु, पृथ्वी-अनिलगुणभूयिष्ठ में कषाय रस उत्पन्न होता है।

उसी प्रकार रहता है, तो समझना चाहिये कि गांग जल बरस रहा है। यदि रङ्ग बदल जाये, कोथ या गँदलापन दिखाई देवे तो समझना चाहिये कि 'सामुद्र' जल बरस रहा है। यह सामुद्र जल ग्रहण करने योग्य नहीं। सामुद्र जल को भी आदि आश्विन मास में ग्रहण किया जाये, तो यह भी गांग जल की भांति हो जाता है। गांग जल श्रेष्ठ है, इसको आश्विन मास में जो शुद्ध-स्वच्छ-सफेद-फैले वस्त्र के एक भाग में गिरा हो उसे अथवा ईंट आदि से बने महल की छत पर से या किन्हीं अन्य स्वच्छ पात्रों में इकट्ठा करके स्वर्ण चाँदी या मिट्टी के पात्र में रखना चाहिये। इस पानी का सब समय में उपयोग करना चाहिये, इसके न मिलने पर भूमि का पानी बरतना चाहिये। इस भूमि के पानी में आकाशगुण की अधिकता रहती है। यह पानी सात प्रकार का है। यथा—कौप (कुंए का), नादेय (नदी का), सारस (सरोवर का) ताड़ाग (तड़ाग का), प्रास्रवण (झरने का), औद्भिद (ओगल का), चौण्ट्य (बिना चिने कुंए का)।

वि० मन्तव्य—सामुद्र–सागर में सर्वदा नदियों, नदों द्वारा जल पड़ता—भरता रहता है, परन्तु वह उछलता नहीं, भरकर इधर उधर नहीं बहता—वेला का उल्लंघन नहीं करता, कारण यह है कि उसमें से वाड़व अग्नि के प्रभाव से तथा सूर्य के सन्ताप से सर्वदा वाष्प–भाप उड़ती रहती है, जो आजकल की भाषा में "मानसून" कही जाती है। इस मानसून के बादलों (मेघों) से जो जल बरसता है वह "सामुद्र" (समुद्र का) कहलाता है। और जो गंगा (गच्छति इति गंगा) अर्थात् चलती नदियों का जल भाप बनकर उड़ता है और फिर बरसता है वह "गाङ्ग" जल कहलाता है। विश्वास कीजिये कि—गंगा केवल भागीरथी नामक भारतीय एक नदी का नाम नहीं है, अपितु विश्व की समस्त गतिशील छोटी बड़ी नदियों का नाम है। वर्षा ऋतु में प्रायः मानसून का जल बरसता है और उसके व्यतीत होने के अनन्तर अगस्त्य का उदय होने पर—शरद् ऋतु में गाङ्ग जल बरसता है, तथापि उसकी उक्त विधि से परीक्षा कर लेनी चाहिये। सम्भव है शरद् ऋतु में भी सामुद्र जल बरस रहा हो और उसका सञ्चय करना व्यर्थ और पान हानिकर है। भले ही वह बरसात के जल की अपेक्षा शुद्ध—स्वच्छ होता है।

धार जल कभी कभी वर्षा होने पर गिरता है अथवा यों कहिये कि वर्षाजल का नाम "धार" है। करका ओलों का नाम है, ओले कुछ समय के पश्चात् जल रूप में परिणत हो जाते हैं उस जल का नाम "कार" है। तुषार "ओस" का नाम है उसके जल का नाम "तौषार" है, ओस सर्वदा पड़ती रहती है, परन्तु—प्रातःकाल में घास आदि पर दिखाई पड़ती है। हिम नाम बर्फ का है, इसके जल का नाम "हैम" है। यह हिमालय की ऊँची चोटियों पर सर्वदा पड़ती रहती है और निचले प्रदेशों में कभी २ पड़ती है, उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव प्रदेशों में सर्वदा गिरती रहती है, परन्तु सर्वदा बाष्परूप में उड़ती भी रहती है। दोपहर का भात चाँदी के ही नहीं, किसी भी पात्र में रखने पर सायंकाल क्लेद युक्त हो जाता है, वह परीक्षार्थ वर्षा में नहीं—अपितु छाया में सिकहर पर धरा हुआ क्लेद युक्त हो जाता है। वस्तुतः समस्त वातावरण में उस समय सामुद्र जल व्याप्त रहता है। शरद् आदि ऋतु में वर्षा होती रहने पर भी भात में क्लेद (गीलापन) नहीं होता। शुचि·······निदध्यात्—स्वच्छ कपड़ा कुछ ढीला तान दिया जाता है, जब वर्षा होती है तब उस चौड़े-लम्बे कपड़ा पर गिरा वर्षा जल निचले पात्र में गिरता रहता है। अथवा पक्की छत का जल सञ्चित कर लिया जाता है। इस प्रकार के जल के लिये गुजरात एवं सिन्धु देश में बड़ी २ टंकियां बना ली जाती हैं। वहाँ के निवासी उसी का पान करते हैं॥७॥

तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिदं वा सेवेत, महागुणत्वात्, शरदि सर्वं, प्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताडागं वा, वसन्ते कौपं प्रास्रवणं वा, ग्रीष्मेऽप्येवं, प्रावृषि चौण्ट्यमनभिवृष्टं सर्वं चेति ॥८॥

वर्षा ऋतु में (आश्विन मास में, भाद्रपद में नहीं), आन्तरिक्ष या औद्भिद जल सेवन करना चाहिये, (भाद्रपद में पानी को गरम करके या आकाशगुणबहुल भूमि से संचित पानी को पीना चाहिये[1])। क्योंकि ये दोनों प्रकार के पानी महान् गुणवाले हैं। शरद् ऋतु में सब प्रकार का पानी पीना चाहिये, क्योंकि अगस्त्य के उदय होने से सब प्रकार का पानी स्वच्छ हो जाता है। हेमन्त ऋतु में सरोवर या तड़ागों का पानी पीना चाहिये। वसन्त ऋतु में कुंए या झरनों का पानी पीना चाहिये। ग्रीष्म में भी कुंये या झरने का पानी बरतना चाहिये। प्रावृट् ऋतु में चौण्ट्य, (सरोवर या तड़ाग का या कुए का पानी) बरसात का नहीं पीना चाहिये, परन्तु यदि बादल बरस रहा हो तो सब प्रकार का पानी पीना चाहिये।

वि० मन्तव्य—प्रावृषि...........चेति=प्रावृट् ऋतु में चौण्ट्य जल अथवा वर्षाजल के अतिरिक्त सब प्रकार का जल पीने तथा नहाने योग्य होता है॥८॥

कीटमूत्रपुरीषाण्डशवकोथप्रदूषितम्।
तृणपर्णोत्करयुतं कलुषं विषसंयुतम्॥९॥

---

१ वर्षा ऋतु में पानी दूषित होता है। यथा—
"बलाहाकाद्याः समदाः कीटा लूनाश्च खेचराः।
तद्विषोत्सर्गसंसर्गाद् न ग्राह्यं तत्तदा जलम्॥"

योऽवगाहेत वर्षासु पिबेद्वाऽपि नवं जलम् ।
स बाह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु ॥

कीट (विषयुक्त-बिच्छू आदि कीड़ों से), मूत्र, मल, अण्डों से, शव के कारण सड़ा एवं दूषित, तिनके एवं पत्तों के समूह के कारण दूषित, मलिन, विषयुक्त, वर्षाऋतु के (आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद) नवीन जल में जो स्नान करता है, या इस पानी को पीता है वह शीघ्र ही बाह्य एवं आभ्यन्तर-जन्य रोगों से आक्रान्त होता है।

वि० मन्तव्य—पृथिवी पर आठ मास का कूड़ा करकट एवं गन्दगी आदि मल सञ्चित रहता है और वह सब बरसात के जल में घुल मिल जाता है, फलतः बरसात का जल दूषित-मलिन गन्दा रहता है, बरसात के पश्चात् शरद् ऋतु में पृथिवी-धुल जाती है—स्वच्छ हो जाती है, फलतः उस काल की वर्षा का जल भी शुद्ध-स्वच्छ रहता है ॥९,१०॥

तत्र यत् पङ्कशैवलहठतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं रविशशिकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टं तद्व्यापन्नमिति विद्यात् । तस्य स्पर्शरूपरसगन्धवीर्यविपाकदोषाः षट् संभवन्ति । तत्र, खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पर्शदोषः, पङ्कसिकताशैवालबहुवर्णता रूपदोषः, व्यक्तरसता रसदोषः, अनिष्टगन्धता गन्धदोषः, यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्यदोषः, यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाकदोष इति । त एते आन्तरिक्षे न सन्ति ॥११॥

जो पानी पङ्क (कीचड़), शैवाल (शिवाल काई)-हठ (जलकुम्भी), तृण, पद्मपत्र (कमलपत्र) आदि से आच्छादित (ढँका) रहता है, चन्द्रमा, सूर्य की किरणें तथा वायु जिस पानी का स्पर्श नहीं करतीं, जिस पानी में गन्ध, वर्ण, रस स्पष्ट हो, उस पानी को दूषित समझना चाहिये । इस पानी में छै प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, यथा—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वीर्य, विपाक, ये छै दोष होते हैं। इनमें—खरता (कर्कशता), पैच्छिल्य (पिच्छिलता), औष्ण्य (उष्णता), दन्तग्राहिता (दान्तों में लगना), ये स्पर्श दोष हैं। पङ्क (कीचड़), सिकता (रेत), शैवाल (सरवाल), बहुवर्णता (बहुत से रङ्ग होना), ये रूप के दोष हैं। रस का स्पष्ट होना रस का दोष है। इष्ट गन्ध का न होना गन्ध का दोष है। यदि सेवन करने से तृष्णा, भारीपन, शूल, लालास्राव उत्पन्न हो तो वीर्य का दोष समझना चाहिये। यदि सेवन करने पर देर में जीर्ण होता है, पेट में गुड़-गुड़ शब्द उत्पन्न करता है, तो विपाक दोष समझना चाहिये। ये छै प्रकार के दोष आन्तरीक्ष जल में नहीं हैं ॥११॥

व्यापन्नस्य चाग्निक्वथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च कर्तव्यं, नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति ॥

स्वच्छ करने के उपाय—

अतिदूषित पानी को आग पर गरम करने से, अल्प दोषवाले पानी को सूर्य की धूप में गरम करने से, मध्यम दोष युक्त पानी में लोहे की पिण्डका (गोले) को, रेत को या मिट्टी के ढेले को अग्नि में गरम करके पानी में बुझाने से तथा प्रसादन-नितारने पर निर्मली आदि से निर्मल करने से पानी स्वच्छ हो जाता है। दुर्गन्ध को दूर करने के लिये—नाग (नागकेसर), चम्पक (राजचम्पा), उत्पल (कमल), पाटला आदि (केतकी, मल्लिका आदि) वस्तुओं से सुगन्धित करना चाहिये ॥१२॥

सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेऽपि वा ।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥१३॥

स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, मणि (स्फटिक एवं काचमणि-काँच) अथवा मिट्टी के पात्र में जल पीना चाहिये और वह जल जिस पर फूल तैरते हों तथा जो सुगन्धित (गुलाब केवड़ा आदि से) हो। और इन्हीं स्वर्ण आदि के पात्रों में रखना भी चाहिये ॥१३॥

व्यापन्नं वर्जयेन्नित्यं तोयं यच्चाप्यनार्तवम् ।
दोषसंजननं ह्येतन्नाददीताहितं तु तत् ॥१४॥
व्यापन्नमुदकं यस्तु पिबतीहाप्रसादितम् ।
श्वयथुं पाण्डुरोगं च त्वग्दोषमविपाकताम् ॥१५॥
श्वासकासप्रतिश्यायशूलगुल्मोदराणि च ।
अन्यान्वा विषमान् रोगान्प्राप्नुयादचिरेण सः ॥१६॥

दूषित एवं ऋतु के विपरीत (बिना ऋतु में बरसे) पानी का सदा परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार का पानी दोषों को उत्पन्न करता है और अहितकारी है। जो आदमी दूषित पानी को बिना स्वच्छ किये पीता है, उसको श्वयथु, पाण्डुरोग, त्वचा के रोग, अजीर्ण, श्वास, कास, प्रतिश्याय, शूल, गुल्म, उदररोग एवं अन्य विषम (कठिन) रोग शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥१४-१६॥

तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति तद्यथा-कतकगोमेदकबिसग्रन्थिशैवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति ॥१७॥

सात वस्तुयें मलिन जल को स्वच्छ करनेवाली है। यथा—कतक (निर्मली), गोमेदक (गोमेद रत्न का तेजपात), बिसग्रन्थि (पद्ममूल), शैवालमूल (काई की जड़), वस्त्र, मुक्ता (मोती) मणि (फिटकरी आदि) ये वस्तुयें पानी को स्वच्छ करती हैं ॥१७॥

पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति । तद्यथा—फलकं, त्र्यष्टकं, मुञ्जवलयं, उदकमञ्चिका, शिक्यं चेति ॥१८॥

पाँच वस्तुयें ऐसी हैं जिनके ऊपर पानी के बर्त्तन रक्खे जाते हैं, इस प्रकार करने से भूमि आदि का स्पर्श दोष नहीं लगता। यथा—फलक (सिम्बल आदि का बना तख्ता), त्र्यष्टक (तिकंटि), मुञ्जवलय (मुञ्जादि से गोल बने ईंडवे), उदकमंचिका (घड़ौंची आदि), शिक्य (छिक्का आदि) १८

सप्त शीतीकरणानि भवन्ति; तद्यथा—प्रवातस्थापनम्, उदकप्रक्षेपणं यष्टिकाभ्रामणं, व्यजनं, वस्त्रोद्धरणं, वालुकाप्रक्षेपणं शिक्यावलम्बनं चेति ॥ १९ ॥

पानी को ठण्डा करने के सात उपाय हैं—प्रवातस्थापन (वायु में पानी को रखना), उदकप्रक्षेपण (पानी से भरे वर्त्तन पर वस्त्र लपेटकर, पानी से तर रखना); यष्टिकाभ्रामण (यन्त्र, यष्ट्यादि का घुमाना), व्यजन (पंखा चलाना), वस्त्रोद्धरणम् (वस्त्र द्वारा छानना), वालुकाप्रक्षेपणम् (पानी के बर्त्तन को रेत में गाड़ना या पानी में रेत डालना), शिक्यावलम्बनम् (छींके पर घड़े को लटकाना) ॥ १९ ॥

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥ २० ॥

भूमि के पानी के गुण—निर्गन्ध, अव्यक्तरस, तृष्णानाशक, शुचि (अदूषित), शीतल, स्वच्छ, लघु हृदय के लिये प्रिय पानी गुणवाला कहा जाता है ॥ २० ॥

तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखाः पथ्याः, लघूदकत्वात्, पूर्वाभिमुखास्तु न प्रशस्यन्ते, गुरूदकत्वात्, दक्षिणाभिमुखा नातिदोषलाः, साधारणत्वात्। तत्र सह्यप्रभवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्ध्यप्रभवाः कुष्ठं पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः क्रमीन्, महेन्द्रप्रभवाः श्लीपदोदराणि, हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान्, प्राच्यवन्त्या अपरावन्त्याश्चार्शांस्युपजनयन्ति, पारियात्रप्रभवाः पथ्या बलारोग्यकर्य इति ॥ २१ ॥

इनमें पश्चिम समुद्र में गिरनेवाली (जांगल-प्रदेशस्थ) नदियाँ पथ्यकारक हैं, हल्का पानी होने से। पूर्व के समुद्र में गिरनेवाली (आनूप-प्रदेशस्थ) नदियाँ उत्तम नहीं, भारी पानी होने से। दक्षिण के समुद्र में गिरनेवाली (मध्य देश में स्थित) नदियाँ बहुत अधिक दोष युक्त नहीं, क्योंकि इनका पानी साधारण है। इनमें सह्याद्रि की पर्वतमाला से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ कुष्ठरोग को उत्पन्न करती हैं, विन्ध्याचल से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ कुष्ठ एवं पाण्डुरोग को उत्पन्न करती हैं, मलय पर्वत से निकलनेवाली (जिनमें रेत और पत्थर नहीं होता) नदियाँ कृमिरोग को उत्पन्न करती हैं (रेत और पत्थर वाली नदियाँ पथ्यकारी हैं)। महेन्द्र पर्वत से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ श्लीपद एवं उदर रोगों को उत्पन्न करती हैं। हिमालय से (अधोभाग में से) उत्पन्न होनेवाली नदियाँ हृदयरोग, श्वयथु, शिरोरोग, श्लीपद, गलगण्ड रोग को उत्पन्न करती हैं (हिमाचल के ऊपर के भाग से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ पथ्यकारी हैं)। अवन्ती (उज्जयनी) प्रदेश के पूर्व भागों से उत्पन्न (प्राच्यवन्त्या), अवन्ती के पश्चिम भाग से उत्पन्न नदियाँ अर्शरोग को उत्पन्न करती हैं। पारियात्र पर्वत से उत्पन्न (तड़ागजन्य-मानसरोवर आदि से) नदियाँ पथ्यकारक, बलकारक और आरोग्यकारक हैं। (गुहाओं में उत्पन्न नदियाँ दोषयुक्त हैं)।

वि० मन्तव्य—भारत के पश्चिम समुद्र की ओर मुखवाली या उसमें गिरनेवाली पथ्य-हित होती है, यथा शतलुज, व्यास, आदि फलतः वहाँ के निवासी अधिक स्वस्थ होते हैं। पूर्व समुद्र की ओर मुखवाली या उसमें गिरनेवाली नदियाँ यथा—गङ्गा, यमुना एवं सरजू आदि प्रशस्त--पथ्य नहीं है, फलतः उनके समीप रहनेवाले अधिक स्वस्थ नहीं होते। यद्यपि—हिमालय से दोनों प्रकार की नदियाँ निकलती हैं, तथापि उनका प्रभाव भिन्न २ होता है, पाठक ध्यान दें। इसी प्रकार अन्य नदियों का प्रभाव भी वहाँ के निवासियों पर पड़ता है ॥२१॥

नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः।
गुर्व्यः शैवालसंछन्नाः कलुषा मन्दगाश्च याः ॥ २२ ॥
प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः।
लघ्व्यः समधुराश्चैव पौरुषेया बले हिताः ॥ २३ ॥

जो नदियाँ तीव्र गति से बहती हैं, और जिनका पानी स्वच्छ है, वे लघु गुणवाली होती हैं। जो नदियाँ शैवाल से ढँपी रहती हैं, धीरे २ बहती हैं, जिनका पानी गँदला रहता है, वे गुरु होती हैं। मरु-रेतीले मैदान की नदियाँ तिक्त एवं लवण रसवाली प्रायः होती हैं, इनमें थोड़ा कषाय रस भी होता है, मधुर लघु-विपाकवाली बलकारक एवं हितकारी हैं।

वि० मन्तव्य—विश्वभर की नदियों के सम्बन्ध में यह दोनों श्लोक लागू होते हैं—इस विधि भेद से सब नदियाँ दो भागों में विभक्त की गई हैं, १—शीघ्रवहा—शीघ्रगामी प्रवाहवाली और २—मन्दगा—मन्द प्रवाहवाली। भारतीय पुराण गाथाओं के अनुसार—शीघ्रवहा नदियाँ "गङ्गा" कही जा सकती हैं और गङ्गा विष्णुपदी है और विष्णु—पालन के अधिष्ठात्री देवता हैं। और मन्दगा नदियाँ "यमुना" कही जा सकती हैं और यमुना यमकी भगिनी हैं और यम संहार (मृत्यु) का अधिष्ठात्री देवता हैं, फलतः मन्दगा नदियों के समीपवासी अधिक स्वस्थ नहीं होते। एक और बात है—एक ही नदी कहीं पर शीघ्रवहा रहती है, जैसे हरिद्वार में गङ्गा और कहीं पर मन्दगा रहती है जैसे—काशी में गङ्गा। एक और जल की विकृति का कारण है 'अमीबा' नामक जन्तु से, जो सन्तान वृद्धि करके जल में पिच्छिल जाला का रूप धारण कर लेता है,

फलतः जल विकृत हो जाता है। अतएव यजुर्वेद में 'अनमीवा' अमीवारहित जल के लिये प्रार्थना की गई है। देखिये—'अपमीवां बाधते (अमीवां अपवाधते)' सूर्य अमीवा को नष्ट करता है (यजु० अ० २४—मं० २५)। श्वात्राः वीता भवत यूयं आपोऽस्माकं अन्तः उदरे सुशेषाः। 'ताऽस्मभ्यं अयक्ष्मा अनमीवा' और शीघ्रवहा नदियों के जल पत्थरों पर टकराते हैं, फलतः अमीवा मर जाता है और जल विकृत नहीं होता—जैसे हरिद्वार की गङ्गा का जल। शीघ्रवहा का जल लघु और मन्दगा का जल गुरु होता है। 'अनागसः स्वदन्तु देवीः अमृता ऋतौ ऋधः' यजु० अ० ४—१२ ॥ २२,२३ ॥

तत्र सर्वेषामेव भौमानां ग्रहणं प्रत्युषसि, तत्र ह्यमलत्वं शैत्यं चाधिकं भवति, स एव चापां परो गुण इति ॥

सब प्रकार के भूमि जलों को प्रातःकाल (उषःकाल) में संग्रह करना चाहिये। इस समय पानी के अन्दर निर्मलता और शीतलता सब समयों से अधिक रहती है। ये ही दोनों गुण जल के श्रेष्ठ गुण हैं ॥ २४ ॥

दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः।
अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥ २५ ॥

दिन भर सूर्य की किरणों से व्याप्त और रात में चन्द्रमा की किरणों से शीतल किया हुआ पानी आकाश के पानी के समान रूक्षतारहित (स्नेह-युक्त), अनभिष्यन्दि (रोगों को न उत्पन्न करनेवाला) होता है।

वि० मन्तव्य—इसको चरक एवं वाग्भट ने 'हंसोदक' कहा है ॥ २५ ॥

गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने।
बल्यं रसायनं मेध्यं पात्रापेक्षि ततः परम् ॥ २६ ॥

उत्तम पात्र में यदि बरसात का पानी इकट्ठा किया जाये तो यह त्रिदोषनाशक, बलकारक, रसायन पवित्र होता है। अधिक श्रेष्ठ (स्वर्ण आदि के) पात्र में इकट्ठा करने से और अधिक गुणशाली होता है ॥ २६ ॥

रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम्।
चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् ॥२७॥

चन्द्रकान्त मणि से उत्पन्न जल राक्षसभय को दूर करनेवाला, शीतल, सुखदायक, ज्वरदाह-विष का नाश करनेवाला, पित्तनाशक और स्वच्छ होता है। चन्द्रमा की किरणों के प्रविष्ट होने से नाभस, मणिसे उत्पन्न होने के कारण भौम है।

वि० मन्तव्य—जैसे सूर्यकान्त (अतसी शीशा इसी का प्रतिनिधि है) में सूर्य की किरण पड़ने पर अग्नि उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही चन्द्रकान्त मणि पर चन्द्रमा की किरण पड़ने से जल चूने लगता है—यथा शीशा के पात्र में बर्फ रखने से पात्र के बाह्य पृष्ठ पर जल के कण बैठ जाते हैं, वह वस्तुतः आकाश जल के कण होते हैं। आकाश का आन्तरिक्ष जल जो अब तक बाष्परूप में था वही बर्फ की शीतता से जल रूप होकर बर्फ के पात्र पर बैठ गया है ॥ २७ ॥

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये।
भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते।

निम्न अवस्थाओं में शीतल पानी का देना उत्तम है—मूर्च्छा, पित्तवृद्धि, उष्ण (शरद् एवं ग्रीष्मऋतु में) दाह में, विषविकार में, रक्तविकार में, मद्यविकार में, भ्रम (चक्कर आने) में, क्लम (थकान आने) पर, तमक श्वास में, वमन में, और ऊर्ध्वमार्गगामी रक्तपित्तमें शीतल जल देना चाहिए ॥

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे ॥ २९ ॥
आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धे नवज्वरे।
हिक्कायां स्नेहपीते च शीताम्बु परिवर्जयेत् ॥ ३० ॥

निम्न अवस्थाओं में शीतल पानी नहीं देना चाहिये। (उष्ण पानी बरतना चाहिये)। यथा—पार्श्वशूल में, प्रतिश्याय में, वातरोग में, गलग्रह में, आध्मान में, स्तिमित (आम) कोष्ठ में, जिस दिन संशोधन लिया हो उस दिन, नवज्वर में, हिचकीरोग में, स्नेहपान करने पर शीतल जल नहीं देना चाहिये ॥ २९,३० ॥

नादेयं वातलं रूक्षं दीपनं लघु लेखनम्।
तदभिष्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुरु कफावहम् ॥ ३१ ॥
तृष्णाघ्नं सारसं बल्यं कषायं मधुरं लघु।
ताडागं वातलं स्वादु कषायं कटुपाकि च ॥ ३२ ॥
वातश्लेष्महरं बाप्यं सक्षारं कटु पित्तलम्।
सक्षारं पित्तलं कौपं श्लेष्मघ्नं दीपनं लघु ॥ ३३ ॥
चौण्ट्यमग्निकरं रूक्षं मधुरं कफकृन्न च।
कफघ्नं दीपनं हृद्यं लघु प्रास्रवणोद्भवम् ॥ ३४ ॥
मधुरं पित्तशमनमविदाह्यौद्भिदं स्मृतम्।
वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मघ्नं लघु दीपनम् ॥ ३५ ॥
कैदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुरु दोषलम्।
तद्वत्पाल्वलमुद्दिष्टं विशेषाद्दोषलं तु तत् ॥ ३६ ॥
सामुद्रमुदकं विस्रं लवणं सर्वदोषकृत्।

शीघ्रवहा नदी का जल—वायुकारक, रूक्ष, अग्निदीपक, लघु, लेखन होता है। मन्दगा नदियों का पानी अभिष्यन्दि (दोष-प्रकोपक), मधुर, सान्द्र, गुरु और कफवर्धक होता है। सरोवर का पानी तृष्णानाशक, बलकारक, कषाय एवं मधुररस लघु होता है। तड़ाग का जल वायुकारक, स्वादु, कषायरस एवं कटु-विपाकयुक्त होता है। वापी का जल-वात-कफ-नाशक, क्षारयुक्त, कटुरस और पित्तवर्धक है। कुंए का खारा पानी—क्षारयुक्त, पित्तकारक, श्लेष्मनाशक, अग्निदीपक और लघु है। (कई कुओं का पानी अव्यक्तरस होता है)। चौण्ट्य (बिन्रा

चिने कुएँ का) पानी अग्निकारक, रूक्ष, मधुर और कफ नहीं करता। झरने का पानी—कफनाशक, अग्निदीपक, हृदय के लिये प्रिय, लघु होता है। औद्भिद (ओगल, जमीन से निकला) पानी मधुर, पित्तशामक, अविदाही होता है। वैकिर (रेत आदि हटाकर प्राप्त किया पानी, फल्गु नदी आदि का) पानी कटु क्षारयुक्त, श्लेष्मानाशक, लघु और अग्निदीपक है। केदार (खेतों) का पानी मधुर, विपाक में गुरु और दोषप्रकोपक है। पल्वल (छोटे गड्ढों) का पानी भी केदार के पानी के समान है, विशेषतया दोषप्रकोपक है। समुद्र का पानी-विष (दुर्गन्ध-युक्त), लवण मिश्रित, सब दोषों का प्रकोपक है ॥३१-३६॥

अनेकदोषमानूपं वार्यभिष्यन्दि गर्हितम् ॥३७॥
एभिर्दोषैरसंयुक्तं निरवद्यं तु जाङ्गलम्।
पीतेऽविदाहि तृष्णाघ्नं प्रशस्तं प्रीतिवर्धनम् ॥३८॥
दीपनं स्वादु शीतं च तोयं साधारणं लघु।

आनूप देश का पानी—अनेक दोषों से युक्त, अभिष्यन्दि (सम्पूर्ण देह में व्याप्त होनेवाला है), और निन्दित है। जांगल देश का पानी—आनूपदेश के पानी के दोषों से रहित और प्रशंसित है। साधारण देश का पानी दाह उत्पन्न नहीं करता, तृष्णानाशक, श्रेष्ठ, प्रीति को बढ़ानेवाला, अग्निदीपक, स्वादु, शीतल और लघु होता है ॥३७,३८॥

कफमेदोऽनिलामघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥३९॥
श्वासकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा।

गरम पानी—कफ, मेद, वायु और आम का नाशक अग्निदीपक, बस्तिका शोधन करता है, श्वास, कास एवं ज्वर को दूर करनेवाला—सदा पथ्य (हितकारी) है ॥३९॥

यत् क्वाथ्यमानं निर्वेगं निष्फेनं निर्मलं लघु ॥४०॥
चतुर्भागावशेषं तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम्।

जो पानी पकाने से निर्वेग (निश्चेष्ट), झागरहित, निर्मल एवं चौथाई बचाया जाता है, वह लघु एवं अधिक गुणकारी होता है ॥४०॥

न च पर्युषितं देयं कदाचिद्वारि जानता ॥४१॥
अम्लीभूतं कफोत्क्लेदि न हितं तत् पिपासवे।

रात का बासी पानी कभी भी पीने के लिये नहीं देना चाहिये। जो कि अम्ल हो जाता है, कफ को कुपित करता है, वह प्यासे मनुष्य के लिये हितकारी नहीं होता ॥४१॥

मद्यपानात्समुद्भूते रोगे पित्तोत्थिते तथा ॥४२॥
सन्निपातसमुत्थे च शृतशीतं प्रशस्यते।

मद्यपान से उत्पन्न रोग में, पित्तजन्य रोग में एवं सन्निपात-जन्य रोग में, गरम करके ठंडा किया पानी बरतना चाहिये ॥

स्निग्धं स्वादु हिमं हृद्यं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥४३॥
वृष्यं पित्तपिपासाघ्नं नालिकेरोदकं गुरु।

नारियल का पानी—स्निग्ध, मधुर, हिम (ठण्डा), हृदय के लिये प्रिय, अग्निदीपक, वस्ति का शोधक (मूत्रल), वृष्य (वीर्यवर्धक), पित्त एवं पिपासा का नाशक और गुरु है ॥४३॥

दाहातीसारपित्तासृङ्मूर्च्छामद्यविषार्तिषु ॥४४॥
शृतशीतं जलं शस्तं तृष्णाच्छर्दिभ्रमेषु च।

निम्न अवस्थाओं में गरम करके ठण्डा किया हुआ जल देना चाहिये—दाह, अतीसार, रक्त-पित्त, मूर्च्छा, मद्यजन्य मत्तता—विष रोग में, तृष्णा, वमन और भ्रमरोग में गरम पानी को ठण्डा करके देना चाहिये ॥४४॥

अरोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ क्षये ॥४५॥
मन्देऽग्नावुदरे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा।
व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥४६॥
इति जलवर्गः

निम्न अवस्थाओं में पानी थोड़ा या धीरे-धीरे पीना चाहिये—अरुचि में, प्रतिश्याय में, मुख लाला (लार) बहने में, श्वयथु में, क्षय में, अग्निमान्द्य में, उदर रोग में, ज्वर में, नेत्ररोगों में, व्रण-रोग में, मधुमेह में, पानी धीरे-धीरे (घूँट-घूँट) पीना चाहिये ॥४५,४६॥

इति जलवर्गः।

अथ क्षीरवर्गः।

गव्यमाजं तथा चौष्ट्रमाविकं माहिषं च यत्।
अश्वायाश्चैव नार्याश्च करेणूनां च यत्पयः ॥४७॥

इसके आगे दूध का वर्ग कहते हैं—

दूध आठ प्रकार का है, यथा—गाय का, बकरी का, ऊँटनी का, भेड़ का, भैंस का, घोड़ी का, स्त्री का, हथिनी का—इन आठों का दूध व्यवहार में आता है ॥४७॥

तत्त्वनेकौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु।
मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु।
सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥४८॥

यह दूध अनेक द्रव्यों (वनस्पतियों) के रस का प्रसाद (सार रूप) है, इसलिये सब प्राणियों के लिये सात्म्य रस होता है। इस दूध में ओज के दस गुण हैं—यह मधुर, पिच्छिल, शीत, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, सर, मृदु, प्राणों को देनेवाला और गुरु है[1] ॥४८॥

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्वविरुद्धं, जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममद-दाहपिपासाहृद्बस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्त-

१ विस्तार के लिये देखिये चरकसंहिता में ओज एवं गाय के दूध के गुण, जो परस्पर समान हैं। यथा—

तदेवं गुणमेवौजःसामान्यादभिवर्धयेत् ॥

तिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भस्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं, पाप्मापहं बल्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं बृंहणं संधानं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम् ॥४९॥

यह आठों प्रकार का दूध सब जरायुज प्राणियों के लिये अनुकूल है, जन्म से ही सुखकारक होने से। वात-पित्त रक्त एवं मानस (रज तम-संसर्गजन्य) रोगों में विरुद्ध भी नहीं है। जीर्णज्वर, कास, श्वास, शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदर, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, प्यास, हृद्रोग, वस्तिदोष, (मूत्रदोष), पाण्डुरोग, ग्रहणी दोष, अर्श, शूल, उदावर्त्त, अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भस्राव, रक्त, पित्त, श्रम, क्लम का नाशक, पापनाशक, बल्य, वाजीकरण, रसायन, मेध्य, (मेधाजनक), सन्धान(भग्न को जोड़नेवाला), वयस् का आस्थापन, आयुष्य, जीवन, बृंहण, वमन, विरेचन, आस्थापन, ओज के समान गुणवाला होने से आयुवर्धक, बालक, वृद्ध, क्षत क्षीण पुरुषों के लिये एवं भूख, व्यवाय (मैथुन) और व्यायाम से कृश हुए पुरुषों के लिये अतिशय पथ्य है ॥४९॥

अल्पाभिष्यन्दि गोक्षीरं स्निग्धं गुरु रसायनम्।
रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥५०॥
जीवनीयं तथा वातपित्तघ्नं परमं स्मृतम्।

गाय का दूध—अल्पाभिष्यन्दि (रोगोत्पादक नहीं), स्निग्ध, गुरु, रसायन, रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुररस, एवं विपाक में मधुर, जीवनधारक (प्राणदायक), अतिशयेन वातपित्तनाशक है ॥५०॥

गव्यतुल्यगुणं त्वाजं विशेषाच्छोषिणां हितम् ॥५१॥
दीपनं लघु संग्राहि श्वासकासास्रपित्तनुत्।
अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्तनिषेवणात् ॥५२॥
नात्यम्बुपानाद्व्यायामात् सर्वव्याधिहरं पयः।

बकरी का दूध—गाय के दूध के समान गुणवाला है, खासकर क्षयरोगियों के लिये हितकारी है। अग्निदीपक, लघुसंग्राहक श्वास कास-रक्त-पित्त-नाशक है। बकरियों का शरीर छोटा होने से, कटु-तिक्त रस के सेवन करने से, थोड़ा पानी पीने से, व्यायाम करने से, इनका दूध सब रोगों का नाश करनेवाला है॥

रूक्षोष्णं लवणं किंचिदौष्ट्रं स्वादुरसं लघु ॥५३॥
शोफगुल्मोदरार्शोघ्नं कृमिकुष्ठविषापहम्।

ऊँटनी का दूध—रूक्ष, उष्ण, लवणरस (थोड़ा) और मधुररस, लघु है। शोफ, गुल्म, उदर, अर्श रोगनाशक एवं कृमि, कुष्ठ, विष को दूर करता है ॥५३॥

आविकं मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफावहम् ॥५४॥
पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसंभवे।

भेड़ का दूध—मधुर, स्निग्ध, गुरु है। पित्त एवं कफ का नाशक; शुद्ध वायुरोगों में एवं वायुजनित कासरोग में पथ्य है। (कई आचार्य सेक के लिये इसको उत्तम मानते हैं) ॥५४॥

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ॥५५॥
निद्राकरं शीतकरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु।

भैंस का दूध—दोष-धातु-मल स्रोतों में अतिशय रूप से क्लेद उत्पन्न करने के कारण अभिष्यन्दि, मधुर, अग्निनाशक, निद्रा को उत्पन्न करनेवाला, अधिक शीतल है, गाय के दूध से अधिक स्निग्ध और गुरु है ॥५५॥

उष्णमेकशफं बल्यं शाखावातहरं पयः ॥५६॥
मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं लघु।

घोड़ी (एक शफ वाली) गधी का भी दूध—उष्ण, बलकारक, बाहु, जंघा की वायु नाशक, मधुर, अम्लरस, रूक्ष, लवण अनुरस वाला और लघु है ॥५६॥

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कषायानुरसं हिमम् ॥५७॥
नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम्।

स्त्रियों का दूध—मधुर, कषाय-अनुरस, शीतल, नस्य एवं आश्च्योतन (आँखों में छोड़ने के) कार्य में पथ्य, जीवन लघु अग्निदीपक है ॥५७॥

हस्तिन्या मधुरं वृष्यं कषायानुरसं गुरु ॥५८॥
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्धनम्।

हथिनी का दूध—मधुर, वृष्य (वाजीकरण), कषाय-अनुरस, गुरु, स्निग्ध, स्थिरता उत्पन्न करनेवाला, शीतल आँखों के लिये हितकारी और बलवर्धक है ॥५८॥

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥५९॥
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा।

प्रायः प्रातःकाल का दूध गुरु विष्टम्भि, शीतल होता है। क्योंकि रात्रिकाल सोमगुण युक्त होता है, और व्यायाम का अभाव रहता है ॥५९॥

दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात् ॥६०॥
श्रमघ्नं वातनुच्चैव चक्षुष्यं चापराह्णिकम्।

सायंकाल का दूध—सूर्य की किरणों से गौ आदि गरम होने से, व्यायाम एवं वायु के सेवन से वायु का अनुलोमक, थकान को दूर करनेवाला और आँखों के लिये हितकारी है ॥६०॥

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वामं प्रायशः परिकीर्तितम् ॥६१॥
तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै शृतम्।

कच्चा दूध—अभिष्यन्दि और प्रायः गुरु, होता है। यही दूध पककर—बहुत ही लघु और अनभिष्यन्दि हो जाता है॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ॥६२॥

स्त्री के दूध को छोड़कर अन्य सब दूधों को गरम करके पीना चाहिये। स्त्री का दूध कच्चा ही हितकारी है ॥६२॥

धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा।

धारोष्ण दूध—गुणवाला होता है, इससे विपरीत अर्थात् देर से निकाला हुआ दूध गुणहीन होता है ॥६२॥

तदेवातिशृतं शीतं गुरु बृंहणमुच्यते ॥६३॥

इसी दूध को यदि अधिक पकाया जाय तो शीतल, गुरु और बृंहण (देहवृद्धिकारक) होता है ॥६३॥

अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्।
वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत् ॥६४॥

इति क्षीरवर्गः।

निम्न प्रकार का दूध—अनिष्टगन्ध (जिस दूध में इष्ट गन्ध न हो), अम्लरस, विवर्ण (शुक्ल से अन्य रंगवाला), विरस (मधुर से अन्य रसवाला), लवणयुक्त, विग्रथित (फटा हुआ) त्याज्य है ॥६४॥

अथ दधिवर्गः।

दधि मधुरमम्लमत्यम्लं चेति; तत्कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मङ्गल्यं च ॥६५॥

दही तीन प्रकार का है, यथा—मधुर, अम्ल, अत्यम्ल (अतिखट्टा)। दही के सामान्य गुण—कषायअनुरस, स्निग्ध, तथा उष्णवीर्य है, पीनस, विषमज्वर, अतिसार, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, कृशता को दूर करनेवाला, वृष्य, प्राणकारक और मंगल्य (पवित्र) है[1] ॥६५॥

महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदोविवर्धनम्।
कफपित्तकृदम्लं स्यादत्यम्लं रक्तदूषणम् ॥६६॥

मधुर दही—महा अभिष्यन्दि, कफ एवं मेद को बढ़ानेवाला है, अम्लदही-कफ—पित्त को करता है, अत्यम्ल दही रक्त को दूषित करता है ॥६६॥

विदाहि सृष्टविण्मूत्रं मन्दजातं त्रिदोषकृत्।

मन्द जात दही—(जो दही भली प्रकार से नहीं जमा) विदाही, मल-मूत्र को प्रवृत्त करनेवाला एवं तीन दोषों को कुपित करता है ॥

स्निग्धं विपाके मधुरं दीपनं बलवर्धनम् ॥६७॥
वातापहं पवित्रं च दधि गव्यं रुचिप्रदम्।

गाय का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, अग्निदीपक, बलवर्धक, वात को दूर करनेवाला, पवित्र, रुचिप्रद होता है ॥

दध्याजं कफपित्तघ्नं लघु वातक्षयापहम् ॥६८॥
दुर्नामश्वासकासेषु हितमग्नेश्च दीपनम्।

बकरी का दही—कफ-पित्तनाशक, लघु, वायु-क्षय को दूर करता है। अर्श, श्वास, कास रोग में हितकारी एवं अग्निदीपक है ॥६८॥

विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम् ॥६९॥
बलासवर्धनं स्निग्धं विशेषाद्दधि माहिषम्।

भैंस का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात-पित्त को शान्त करनेवाला, कफवर्धक विशेष कर स्निग्ध है ॥६९॥

विपाके कटु सक्षारं गुरु भेद्यौष्ट्रिकं दधि ॥७०॥
वातमर्शांसि कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च।

ऊँटनी का दही—विपाक में कटु, क्षारयुक्त, गुरु, भेदक (विरेचक), वायु, अर्श, कुष्ठ, कृमि और उदररोग को नष्ट करता है ॥७०॥

कोपनं कफवातानां दुर्नाम्नां चाविकं दधि ॥७१॥
रसे पाके च मधुरमत्यभिष्यन्दि दोषलम्।

भेड़ का दही—कफ, वायु एवं अर्शरोग को बढ़ाता है। रस और विपाक में मधुर, अत्यन्त अभिष्यन्दि और दोषों को कुपित करता है (अपथ्य होने से विकार उत्पन्न करता है) ॥७१॥

दीपनीयमचक्षुष्यं वाडवं दधि वातलम् ॥७२॥
रूक्षमुष्णं कषायं च कफमूत्रापहं च तत्।

घोड़ी के दूध का दही—अग्निदीपक, आँखों के लिये अहितकर, वायुजनक, रूक्ष, उष्ण, कषायरस, कफ एवं मूत्ररोग को दूर करता है ॥७२॥

स्निग्धं विपाके मधुरं बल्यं संतर्पणं गुरु ॥७३॥
चक्षुष्यमग्र्यं दोषघ्नं दधि नार्या गुणोत्तरम्।

स्त्री के दूध का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, बलकारक, सन्तर्पक, गुरु आँखों के लिये अति श्रेष्ठ, दोषनाशक एवं गुणों में उत्कृष्ट है ॥७३॥

लघु पाके बलासघ्नं वीर्योष्णं पक्तिनाशनम् ॥७४॥
कषायानुरसं नाग्या दधि वर्चोविवर्धनम्।

हथिनी के दूध का दही—विपाक में लघु, कफनाशक; उष्णवीर्य, अग्निमान्द्यकारक, कषाय—अनुरस, मल को बढ़ानेवाला है ॥७४॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ॥७५॥
विज्ञेयमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम्।

यहाँ पर गाय आदि के दही के जो जो गुण पृथक् रूप से कहे हैं, इन सब में गाय के दूध का दही ही उत्तम गुणवाला समझना चाहिये ॥७५॥

वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् ॥७६॥
कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधि यत् सुपरिस्रुतम्।

वस्त्र में से छाना दही—वायुनाशक, कफकारक, स्निग्ध, बृंहण (देहवर्धक) है, पित्त को बहुत नहीं बढ़ाता। भोजन में रुचि उत्पन्न करता है ॥७६॥

शृतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ॥७७॥
वातपित्तहरं रुच्यं धात्वग्निबलवर्धनम्।

उबालकर दूध से बनाया दही—गुणवाला होता है, वातपित्तनाशक, रुचिकारक; धातु-अग्नि और बल को बढ़ाता है।

१—"दधि तु मधुरं सृष्टपुरीषं गुर्वम्लमभिष्यन्दि, श्लेष्मपित्तशोफवर्धनं कार्श्यापहं रोचनं माङ्गल्यं च। तदेव चोद्धृतसारं ग्राह्यनभिष्यन्दि च॥ ससरं कफमेदःशुक्रकृत्। त्रिदोषकृन्मन्दजातम् ॥" यह पाठान्तर है।

दध्नः सरो गुरुर्वृष्यो विज्ञेयोऽनिलनाशनः ॥७८॥
वह्नेर्विधमनश्चापि कफशुक्रविवर्धनः ।

दही के ऊपर का स्नेह भाग (मलाई) गुरु, वृष्य (शुक्र-वर्धक) है, वायुनाशक है। अग्निनाशक एवं कफ तथा शुक्र को बढ़ाता है। (शुक्र को बढ़ाता भी है और क्षरण भी करता है) ॥७८॥

दधि त्वसारं रूक्षं च ग्राहि विष्टम्भि वातलम् ॥७९॥
दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ।

स्नेह भाग रहित दही—रूक्ष, संग्राहि, विष्टम्भि (पेट में वायु का दर्द—मल का न उतरना, गुड़गुड़ाहट होना), वायु-कारक, अग्निदीपक, लघु (पचने में लघु), कषायरस, रुचिदायक होता है ॥७९॥

शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ॥८०॥
हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ।

प्रायः शरद्, ग्रीष्म और वसन्त ऋतु में दही निन्दित है। हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही श्रेष्ठ है ॥८०॥

तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् ॥८१॥
अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ।
प्रह्लादनं प्रीणनं च भिनत्त्याशु मलं च तत् ।
बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥८२॥

मस्तु के गुण - (दही को कपड़े में बांधकर लटका देने से जो द्रवभाग नीचे आता है, उसका नाम 'मस्तु' है)। मस्तु—तृष्णा, थकान को दूर करता है, लघु, स्रोतों का शोधक, अम्ल-कषायरस, मधुर, अवृष्य, कफवात का नाशक, सुखदायक, पुष्टिदायक, मल को शीघ्र प्रवृत्त करता है। शीघ्र ही शरीर में बल उत्पन्न करता है, भोजन में रुचि करता है ॥८१,८२॥

स्वाद्वम्लमत्यम्लकमन्दजातं
तथा शृतक्षीरभवं सरश्च ।
असारमेवं दधि सप्तधाऽस्मिन
वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में सात प्रकार के दही के—स्वादु, अम्ल, अत्यम्ल, मन्दजात, शृत क्षीर से उत्पन्न, सर, असार के गुण एवं मस्तु के गुण कह दिये हैं ॥८३॥

इति दधिवर्गः ॥

अथ तक्रवर्गः ।

तक्रं तु मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रूक्षमग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेदःश्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यं च ॥

तक्र-मधुर, अम्ल, कषाय-अनुरस, उष्णवीर्य, लघु, रूक्ष, अग्निदीपक है, गर (संयोगजन्य विष), शोफ, अतिसार, ग्रहणी-रोग, पाण्डरोग, अर्श, प्लीहा, गुल्म, अरुचि, विषमज्वर, तृष्णा, वमन, लालास्राव, शूल, मेद, कफ, और वायु का नाशक है। मधुरविपाकी, हृदय के लिये प्रिय, मूत्रकृच्छ्रनाशक, स्नेह के अतियोग या अयोग से उत्पन्न रोगों को शान्त करने-वाला, अवृष्य (अशुक्रल) है[1] ॥८४॥

मन्थनादिपृथग्भूतस्नेहमर्धोदकं च यत् ।
नातिसान्द्रद्रवं तक्रं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ॥८५॥

जिस दही में आधा पानी मिलाकर मथने से स्नेह पृथक् हो जाता है, न तो बहुत गाढ़ा और न तो बहुत पतला तक्र मधुर विपाकी रस में अम्ल एवं कषायरस होता है ॥८५॥

यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते ।

जिस दही में पानी मिलाकर मथा जाये एवं स्नेह (घी) भाग पृथक् न किया जाये, उसको घोल कहते हैं। स्नेह एवं जल मिश्रित तक्र को उदश्वित् कहते हैं।

नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले ।
न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥८६॥

निम्न अवस्थाओं में तक्र का उपयोग नहीं करना चाहिये—क्षत लगने पर, उष्णकाल में (ग्रीष्म और शरद् ऋतु में), दुर्बल अवस्था में, मूर्च्छा, भ्रम एवं दाह में, रक्तपित्त रोग में तक्र नहीं वरतना चाहिये ॥८६॥

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफोत्थेष्वामयेषु च ।
मार्गावरोधे दुष्टे च वायौ तक्रं प्रशस्यते ॥८७॥

निम्न अवस्थाओं में तक्र देना उत्तम है—

शीत काल में, अग्निमान्द्यरोग में, कफजन्यरोगों में, स्रोतों के अवरुद्ध होने पर, वायु के दूषित होने पर तक्र उत्तम है ॥

तत् पुनर्मधुरं श्लेष्मप्रकोपणं पित्तप्रशमनं च; अम्लं वातघ्नं पित्तकरं च ॥८८॥

मधुर तक्र—कफप्रकोपक और पित्तशामक है। अम्लतक्र—वायुनाशक और पित्तकारक है ॥८८॥

वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं स्वादु पित्ते सशर्करम् ।
पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम् ॥८९॥

वायु की अवस्था में—अम्ल तक्र में नमक मिलाकर पीना चाहिये, पित्त की अवस्था में—मधुर तक्र में शर्करा मिलाकर, कफ की अवस्था में—तक्र में सोंठ, मरिच, पीपल और कोई क्षार मिलाकर पीना चाहिये ॥८९॥

ग्राहिणी वातला रूक्षा दुर्जरा तक्रकूर्चिका ।

तक्रकूर्चिका (फटी हुई छाछ, जिसमें फुटकियाँ हों), संग्राही, वायुकारक, रूक्ष, कठिनाई से पचती हैं।

तक्राल्लघुतरो मण्डः कूर्चिकादधितक्रजः ॥९०॥

१—तक्र के तीन भेद हैं—
"रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥"